रामकृष्ण-विवेकानन्द दर्शन में अद्वैत की भूमिका

विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

डॉ० राज लक्ष्मी वर्मा

प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रस्तोत्री

चन्दा वर्मा

एम०ए० (संस्कृत)

संस्कृत-विभाग

इ द्यालय,

, 1997 ई०

वाचिकम्

शोध का कार्य गहन अध्ययन की अपेक्षा रखता है। अध्ययन की रुचि तो मुझमें प्रारम्भ से ही थी, किन्तु उसे दर्शन के क्षेत्र में शोध प्रबन्ध की परिणति तक पहुंचाने का श्रेय मेरे उस दार्शनिक, आध्यात्मिक परिवेश का है जो मुझे विश्वविद्यालयी अध्ययन के क्रम में अपनी अध्यापिका सुश्री डॉ० राज लक्ष्मी वर्मा जी एवं अपने परिवार से प्राप्त हुई।

भारतीय पुनर्जागरण के पुरोधा एवं धर्म और दर्शन को आधुनिक वैज्ञानिक स्पष्टता और तीक्ष्णता के साथ व्यावहारिक जीवन से जोड़ने की विशिष्टता रखने वाले श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व और चिन्तन से मैं बहुत प्रभावित रही हूँ। इसीलिए मैंने यह विषय चुना। रामकृष्ण और विवेकानन्द के योगदान को किसी सीमित दायरे में नहीं बांधा जा सकता। असीम की दृष्टि रखते हुए भी उन्होंने सीमाबद्ध जगत् के विविध क्षेत्रों में अपना योगदान किया। स्वयं राजनीति से प्रत्यक्ष सम्पर्क न रखते हुए भी उन्होंने अनेक राजनेताओं के लिए प्रेरणा स्रोत का कार्य किया एवं शैक्षिक, धार्मिक, सामाजिक उन्नति का मार्ग भी प्रशस्त किया। उन समस्त आयामों को उनकी सम्पूर्णता में उद्घाटित करना संभव नहीं है तथापि मेरी लेखनी ने उनके महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को संस्पर्श करने का प्रयास किया है।

इस शोध प्रबन्ध का विषय है—'रामकृष्ण-विवेकानन्द दर्शन में अद्वैत की भूमिका।' इस विषय पर मैं कैसा काम कर सकी हूँ, अथवा क्या इससे सचमुच ही दर्शन सम्बन्धी शोध के क्षेत्र में किसी अभाव की पूर्ति हो सकेगी— इत्यादि प्रश्नों का मैं कोई उत्तर नहीं दे सकती; केवल इतना ही कह सकती हूँ कि जो कुछ भी किया गया है पूरी ईमानदारी से किया गया है, और ज्ञान के प्रति मेरी आस्था का प्रतीक है।

अपने इस शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ में मैं कुछ व्यक्तियों के प्रति विशेष आभारी हूँ। उनकी प्रेरणा और सहयोग के बिना मेरे लिए यह कार्य सम्पन्न कर पाना बहुत कठिन था।

सबसे पहला नाम मेरी शोध निर्देशिका डॉ० राज लक्ष्मी वर्मा जी (प्रोफेसर, संस्कृत विभाग) का है। शब्दों में उनके प्रति आभार प्रकट करना उनके महत्त्व को कम करना है। उनका

विद्वत्तापूर्ण निर्देशन प्रतिक्षण मेरे कार्य का दिशा-नियमन् करता रहा, इसके लिए तो मैं आभारी हूँ ही; किन्तु इससे भी अधिक कृतज्ञ हूँ, उस आश्वासनमय प्रोत्साहन और नैतिक बल के लिए, जो मुझे उनसे मिला और जिसने उद्धिग्नता और हताशा की मन:स्थिति से मुझे बार-बार उबारा है। अन्त में इतना ही कह सकती हूँ कि उन्हें देखकर मैंने जाना कि 'गुरू' किसे कहते हैं!

धन्यवादों के क्रम में मेसर्स टुकू ब्रदर्स का भी उल्लेख मैं करना चाहूँगी जिन्होंने बहुत ही थोड़े समय में इस प्रबन्ध का मुद्रण कार्य पूरा किया है, और यह सच है कि यदि मुझे उनका सहृदय सहयोग न मिलता तो यह प्रबन्ध इस रूप में आपके सामने न होता। उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त स्वामी निखिलात्मानन्द, अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन, इलाहाबाद के प्रति भी मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। उनकी कृपा से ही मुझे श्रीरामकृष्णदेव एवं स्वामी विवेकानन्द के कई दुर्लभ ग्रन्थ सुलभ हो सके। इलाहाबाद लायब्रेरी के अधिकारीगण भी अपने सहयोग एवं सद्व्यवहार के लिए मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में, प्रेस के अधिकारियों के सहयोग की चर्चा किए बिना मेरे इस शोध-प्रबन्ध की आत्म-कथा अधूरी ही रह जाएगी। प्रेस के अधिकारियों में विशेष रूप से बिसन लाल भार्गव एन्ड सन्स ने बहुत रुचि के साथ इस प्रबन्ध के रूप सज्जा का कार्य पूरा किया है। उनकी सहृदयता और कार्यकुशलता से मैं अत्यधिक प्रभावित हूँ और उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

अत्यन्त व्यस्त गृहस्थ जीवन में भी जो सहयोग विविध रूपों में मेरे पतिदेव डा० सभाराज मौर्य ने दिया है, उसके बिना संभवत: यह शोध प्रबन्ध पूरा नहीं हो पाता। अत: उनके प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

यह शोध प्रबन्ध दर्शन सम्बन्धी लेखन के क्षेत्र में मेरा पहला प्रयास है; आशा करती हूँ कि विद्वज्जन अपने अमूल्य सुझावों और प्रौढ़ निर्देशन से मुझे प्रेरणा और प्रोत्साहन देंगे।

चन्दा वर्मा

अगस्त, 1997 ई० (चन्दा वर्मा)

अनुक्रमणिका

———

विषय-प्रवेश

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में विज्ञान और भौतिकवाद उत्कर्ष प्राप्त करते जा रहे थे। उनके बढ़ते हुए चरण भारत के अध्यात्म-उद्यान को कुचल रहे थे। वैज्ञानिक अनुसन्धानों के प्रबल प्रहारों से पुराने अन्धविश्वास चीनी मिट्टी के ढेरों की तरह चकनाचूर हो रहे थे। जिनके लिए धर्म केवल कुछ मतवादों और निरर्थक अनुष्ठानों का पुञ्ज मात्र रह गया था, उनकी स्थिति शोचनीय हो गयी थी। उनके हाथों से सब कुछ खिसकता चला जा रहा था। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा जैसे अज्ञेयवाद और भौतिकवाद के उमड़ते ज्वार में सब कुछ विलीन हो जाएगा। भारतीय समाज जात-पाँत, छुआछूत आदि कुरीतियों में फंसकर अपने आत्म-गौरव और आत्मबल को भूलता चला जा रहा था। भारत-माता पराधीनता की बेड़ियों में पूरी तरह जकड़ी हुई थी।

उसी समय भारत में सामाजिक सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था। 19वीं शताब्दी में राजाराममोहन राय ने विशेष रूप से सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित कुप्रथाओं के विरुद्ध सक्रिय आवाज उठायीं। इनका सबसे उल्लेखनीय कार्य सन् 1828 ई० में ब्रह्म समाज की स्थापना थी। ब्रह्म समाज के संचालक के रूप में सुधार आन्दोलन को चलाने वालों में श्री केशवचन्द्र सेन का नाम उल्लेखनीय है। इसके पश्चात् सन् 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य-समाज' की स्थापना की थी। इनका उद्देश्य न केवल हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित करना था। बल्कि जाति-पांति के भेदभाव, अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध आदि के विरुद्ध भी क्रियात्मक आन्दोलन चलाना था। श्रीमती एनी बेसेन्ट 16 नवम्बर 1893 ई० को भारत आयीं। आते ही, वे भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन में कूद पड़ीं और भारत के साथ-साथ उन्होंने थियोसोफी-समाज का नाम भी बहुत ऊंचा कर दिया। नवोत्थान के क्रम में रानाडे, तिलक और गोखले उत्पन्न हुए। इनका प्रभाव सारे देश पर पड़ा। सन् 1870 के लगभग बंगाल में श्री रामकृष्ण परमहंस देव के द्वारा समाज सुधार आन्दोलन चलाया गया।

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का जन्म बंगाल के हुगली जिले के अन्तर्गत कामारपुकुर ग्राम के एक सद्ब्राह्मण परिवार में 17 फरवरी सन् 1836 ई०, (फाल्गुन शुक्ल द्वितीया) बुधवार को हुआ था। उनके पिता का नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय तथा माता का नाम चन्द्रमणि देवी था।

शास्त्रज्ञ खुदीराम ने बालक का जन्मलग्न देखा। वह अत्यन्त शुभ मुहूर्त्त था। वे समझ गये कि स्वयं गदाधर विष्णु ही अपने वचन को पूरा करने आये हैं। उन्होंने नवजात शिशु का नाम 'गदाधर' ही रखा। अन्नप्राशन संस्कार के समय उनका नाम हुआ 'रामकृष्ण'। चन्द्रकला के समान शिशु दिन पर दिन बढ़ने लगा। उस छोटे से बालक को केन्द्रित कर उस ब्राह्मण दम्पत्ति को अनेक लौकिक लीलाएँ दिखायी देने लगीं।

पांचवा वर्ष लगते ही खुदीराम ने गदाधर का विद्यारम्भ संस्कार कराकर उसे गांव की पाठशाला में पढ़ने को भेजा। गदाधर श्रुतिधर व स्मृतिधर था। एक बार भी वह जो कुछ देखा या सुन लेता, किसी भी प्रकार भूलता नहीं था। यह कहना कठिन है कि श्रीरामकृष्ण के जीवन में दिव्यभाव का विकास सर्वप्रथम कब हुआ था। पर उनका दैवी स्वरूप शैशवकाल में ही प्रकट होने लगा था। सात वर्ष की आयु में अकस्मात् पिता का निधन हो गया। गदाधर का पाठशाला जाना बन्द हो गया और उसके विवेकशील मन में संसार का सच्चा स्वरूप एकदम भासित हो उठा। पितृवियोग की इस एक ही घटना ने इस बालक के हृदय में संसार के प्रति तीव्र वितृष्णा ला दी। बालक के जीवन में जो नृत्य-गीत, अभिनय, विनोद और रंगरसप्रियता थी, उसका स्थान गम्भीर भावतन्मयता ने ले लिया। अब उसका अधिकांश समय 'भूतिर-खाल' नाम श्मशान में या माणिकराजा की अमराई में चिन्तन करते हुए बीतता। अन्य समय वह माँ के काम-काज में हाथ बँटाता। इन्हीं दिनों गदाधर का आकर्षण साधु-सन्यासियों की ओर भी बढ़ा।

रामकुमार ने कलकत्ते के झामापुकुर मुहल्ले में एक संस्कृत पाठशाला खोली थी। पूजा-पाठ करने में वहां उनकी अच्छी ख्याति फैल गयी थी। बीच-बीच में वह घर भी आया करते थे। यह देखकर कि गदाधर ने पाठशाला जाना बन्द कर दिया है, उन्हें अपने इस पितृहीन छोटे भाई के भविष्य के बारे में विशेष चिन्ता हुई। घर में रहकर उसकी पढ़ाई-लिखाई नहीं होगी, यह सोचकर उन्होंने अपनी माता के साथ सलाह परामर्श किया और सत्रह वर्ष के गदाधर को अपनी पाठशाला में पढ़ने के लिए कलकत्ता ले आए। पर पढ़ने-लिखने में वह अब भी उदासीन था। महीनों तक उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करने के बाद एक दिन रामकुमार ने थोड़ा कड़ा रुख अपनाया

और कुछ रुखे स्वर में उससे कहा—"क्या बात है? दिखता है कि पढ़ना-लिखना तो तूने बिल्कुल ही छोड़ दिया है। तेरा काम कैसे चलेगा?" थोड़ी देर चुप रहने के बाद सहज रूप से गदाधर ने कहा— "यह दाल-चावल इकट्ठा करने वाली विद्या सीखने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो ऐसी विद्या सीखना चाहता हूँ जिससे सच्चा ज्ञान मिले।"

कलकत्ते की जानबाजार-निवासिनी रानी रासमणि ने गंगातट पर साठ बीघा जमीन खरीदकर लाखों रुपये व्यय करते हुए वहां विशाल काली-मन्दिर का निर्माण करवाया था। 31 मई 1855 ई० को बृहस्पतिवार के दिन विराट् समारोह के साथ इस नवनिर्मित नवरत्नभूषित सुशोभित मन्दिर में भवतारिणी कालीमाता की प्रतिष्ठा हुई। कालीमन्दिर में प्रधान पुजारी के रूप में पंडित रामकुमार नियुक्त हुए। रामकृष्ण भी झामापुकुर से वहाँ कभी-कभी आया करते थे। दैव-इच्छा से शीघ्र ही वे भी पूजा कार्य में नियुक्त हुए। उस समय वे इक्कीस या बाईस वर्ष के थे।

कुछ दिनों तक काली मन्दिर में पूजा करने के बाद श्रीरामकृष्ण के मन में प्रश्न उठा—"मैं जो पूजा कर रहा हूँ वह किसकी कर रहा हूँ? मृण्मयी माँ की, या चिन्मयी माँ की? माँ यदि चिन्मयी हैं तो फिर मेरे इतने रोने-पीटने के बाद भी दर्शन क्यों नहीं देतीं? जगन्माता के दर्शनार्थ श्रीरामकृष्ण की व्याकुलता दिन पर दिन बढ़ती गई। दोपहर को मन्दिर के पट बन्द हो जाने पर वे पंचवटी में चले जाते और वहीं पर गम्भीर ध्यान में मग्न हो जाते। भोजन की इच्छा नहीं, निद्रा में रुचि नहीं। सारे समय वे उस एक ही भाव में तल्लीन रहते। रात को मन्दिर बन्द हो जाने पर वे फिर पंचवटी में चले जाते और वहां एक आँवले के पेड़ के नीचे बैठकर रातभर ध्यान करते। भवतारिणी की मूर्ति के सामने बैठ वे छाती पीट-पीटकर रोते। उनकी साधना और व्याकुलता चरमसीमा तक जा पहुँची। एक दिन पूजा के बाद वे मन्दिर में बैठे अश्रुपूर्ण नेत्रों से गाते हुए 'माँ' को भजन सुना रहे थे। उसी समय उनके मन में विचार आया कि यदि माँ के दर्शन न मिले तो फिर इस जीवन धारण से लाभ ही क्या? इतने में उनकी दृष्टि मन्दिर की दीवार से लटकती हुई तलवार पर पड़ी। उसके आघात से उसी क्षण जीवन को समाप्त कर डालने के इरादे से उन्होंने उन्मत्त की तरह झपटकर तलवार खींच ली। वे अपने गले पर प्रहार करने ही वाले थे कि सहसा उन्हें माँ की

ज्योर्तिमयी मूर्ति के दर्शन हुए और वे बेसुध होकर गिर पड़े। जगन्माता के प्रथम दर्शन के पश्चात् कई दिनों तक उनके लिए मन्दिर में पूजा करना असंभव हो गया। क्योंकि वह तो साधारण रोग था नहीं, भावरोग थ। अत: वैद्य की चिकित्सा का कोई लाभ नहीं हुआ। उनका उन्माद क्रमश: बढ़ता ही गया।

श्री रामकृष्ण सदा 'माँ-माँ' कहते हुए रोते और 'भूतिर खाल' तथा 'बुधुई मोड़ल' नामक श्मशानों में जाकर अकेले तरह-तरह की साधनाएं करने में अपना अधिकांश समय बिताते। अपने पुत्र को बाहर से बहुत कुछ शांत देखकर चन्द्रमणि देवी थोड़ी आश्वस्त हुई। पुत्र रामेश्वर तथा अन्य सगे सम्बन्धियों के साथ विचार-विमर्श करने के बाद वे गुप्त रूप से उसके विवाह का आयोजन करने लगीं। लड़कियाँ तो मिल रही थीं, पर उनके अभिभावकों द्वारा माँगा हुआ धन एक समस्या थी। लड़की जितनी ही कुशल और सुन्दर होगी, पैसे भी उतने ही अधिक लगेंगे।

एक दिन भावाविष्ट हो गदाधर ने चन्द्रमणि से कहा—"इधर-उधर" ढूँढ़ना व्यर्थ है। जयरामवाटी के रामचन्द्र मुखोपाध्याय की कन्या (मेरे लिए) चिह्नित कर रखी हुई है। देखो जाकर!" पर कन्या बहुत ही छोटी थी। अभी उसे सिर्फ छठा साल लगा था। होनहार जानकर चन्द्रमणि ने उसी कन्या के साथ अपने पुत्र का विवाह तय कर लिया। 1858 ई० में मई माह में यह परम शुभ-विवाह सम्पन्न हुआ। इस विवाह में उन्हें कन्यापक्ष को तीन सौ रुपये देने पड़े थे। श्री रामकृष्ण का उस समय चौबीसवां साल लगा था और सारदामणि ने उस समय छठें वर्ष में पदार्पण किया था। विवाह के पश्चात् श्री रामकृष्ण कुछ दिनों तक कामारपुकुर में ही रहे और निकटवर्ती श्मशानों में जाकर पूर्ववत् साधनाएँ करते रहे। कभी-कभी तो इन साधनाओं में सारी रात बीत जाती।

एक दिन उन्होंने माँ काली से कहा—"माँ! मैं, तो पढ़ना-लिखना नहीं जानता, तू ही कृपा करके मुझे सभी धर्मों का, सभी शास्त्रों का सार बतला दे।" तब से जगदम्बा की इच्छा से विभिन्न धर्मों के, विभिन्न गांवों के आचार्य और धर्मगुरू दक्षिणेश्वर आने लगे और श्रीरामकृष्ण को क्रमश:

विविध धर्मों की साधना में दीक्षित करने लगे।

हिन्दू धर्म की सभी द्वैत साधनाओं में चरम सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण के मन में 'एकमेवा द्वितीयम्' ब्रह्म की उपासना—अद्वैत साधना—करने की प्रबल इच्छा हुई। उनके मन में वेदान्त साधना की इच्छा उठते ही दैव प्रेरित हो ब्रह्मदर्शी जटाजूटधारी नागा सन्यासी तोतापुरी अप्रत्याशित रूप से दक्षिणेश्वर आ पहुँचे। अन्त:प्रेरणा से प्रेरित हो तोतापुरी जी ने उनसे पूछा—"क्या तुम वेदान्त की साधना करोगे?" उत्तर में श्रीरामकृष्णदेव बोले—"मैं तो यह सब नहीं जानता। मेरी मां ही जानती है। अगर वह कहें तो करूँगा। तोतापुरी बोले—"तो जाओ, अपनी माँ से पूछकर आओ।" श्रीरामकृष्ण देव धीरे-धीरे काली-मन्दिर में गए और भावावेश में उन्होंने माँ की वाणी सुनी—"जाओ, वेदान्त की साधना करो। वह सन्यासी तुम्हारे ही लिए यहां आया है।" जब मन्दिर से माँ का आदेश लेकर श्रीरामकृष्णदेव लौटे तो तोतापुरी समझ गए कि ये शक्ति के उपासक है। तत्पश्चात् उन्होंने शिष्य को दण्ड, कौपीन, काषायवस्त्र आदि से विभूषित किया और ब्रह्मोपदेश देना आरम्भ किया। ब्रह्मज्ञ तोतापुरी ने शिष्य को महावाक्य का उपदेश देने के बाद नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप निर्गुण-ब्रह्म के ध्यान में मग्न हो जाने का आदेश दिया। तोतापुरी ने देखा कि शिष्य का मन निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया है। इसके पश्चात् तोतापुरी विभिन्न यौगिक क्रियाओं के द्वारा शिष्य का मन सहज अवस्था में लाने में प्रवृत्त हुए और इसके फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण का मन धीरे-धीरे जीव भूमि तक उतर आया।

श्रीरामकृष्णदेव आद्याशक्ति की विशेष इच्छा से दीर्घ छ: महीने तक लगातार निर्विकल्प समाधि में अवस्थान किए थे। जगदम्बा की इच्छा से जान गए थे कि वे ईश्वर के अंश है। कभी वे स्वयं को सगुण ब्रह्म, ईश्वर या जगदम्बा का अंश मानते तो कभी वे पूर्णब्रह्म, सनातन। इस प्रकार वे निर्विकल्प-सविकल्प, अद्वैत-द्वैत, विज्ञान-पराभक्ति की अवस्थाओं में विचरण किया करते थे। इस समय श्रीरामकृष्ण देव जातिस्मरत्व की सहायता से ठीक-ठीक समझ गए थे कि वे नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाववान् हैं, अवतार पुरुष हैं और वर्तमान युग की धर्मग्लानि को दूर कर लोक कल्याण साधने के लिए उन्होंने देह धारण किया है। उनकी कठोर तपस्या आदि साधनाएँ भी इसी उद्देश्य

से आदर्श स्थापन करने के लिए हैं। जगदम्बा के संकेत से यह बात भी उनके हृदय में बैठ गई थी कि उनके शरीर-मन के माध्यम से संसार में एक प्रबल आध्यात्मिक तरंग उठने वाली है जो अनन्तकाल तक पृथिवीवासियों का कल्याण साधित करती रहेगी।

अप्रैल सन् 1885 ई० में श्रीरामकृष्ण के गले के रोग का सूत्रपात हुआ। परन्तु चिकित्सकों के मना करने पर भी उन्होंने बातचीत करना बन्द नहीं किया। सन् 1885 ई० के ही अक्टूबर के प्रारम्भ में श्रीरामकृष्ण श्यामपुकुर आए और प्रसिद्ध होम्योपैथ डाक्टर महेन्द्रपाल सरकार की चिकित्सा होने लगी। इसके कुछ ही दिन बाद उनकी सेवा शुश्रूषा के लिए दक्षिणेश्वर से श्री सारदादेवी को भी लाया गया। श्री रामकृष्ण देव का रोग बढ़ता ही जा रहा था। चिकित्सा चल रही थी किन्तु किसी भी दवा का असर नहीं हो रहा था। यह देखकर डा० सरकार चिन्तित हुए। उन्होंने वायुपरिवर्तन का परामर्श दिया। उनके परामर्श के अनुसार श्री रामकृष्ण को कलकत्ते के बाहर किसी खुली जगह में ले जाना निश्चित हुआ। श्री रामकृष्ण देव की बीमारी बढ़ती ही जा रही थी और उनका शरीर भी क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होता जा रहा था। चिकित्सा से भी कोई स्थाई लाभ नहीं हो रहा था। शारीरिक अवस्था से बेखबर वे सदा ईश्वरीय भाव में डूबे रहते थे।

15 अगस्त 1886 ई०, रविवार रात को एक बजकर दो मिनट पर (दूसरे मत के अनुसार एक बजतकर छः मिनट पर) सहसा श्री रामकृष्ण का शरीर बार-बार पुलक के साथ रोमांचित हो उठा। आँखे स्थिर तथा दृष्टि नासाग्र में स्थिर हो गई। अंग-प्रत्यंग से एक अभूतपूर्व दिव्यानन्द का स्पन्दन फूट पड़ा। वे फिर बाहरी समाधि में डूब गए। यही उनकी अन्तिम समाधि थी जो बाद में महासमाधि में परिणत हुई। श्री रामकृष्ण देव स्व-स्वरूप में विलीन हो गए।

परमहंस रामकृष्ण उस ऊंचाई के मनुष्य थे जहां से सभी धर्म सत्य और सब के सब, समान दीखते हैं, जहां विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुंचती, जहां धर्म अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक गन्ध को छोड़कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छीटों से ही

जन्म-जन्म की तृषा शान्त हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित है जो जीवन के अन्तिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथिवी के वासी थे एवं पृथिवी से ही वे ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु, रामकृष्ण, दैवी अवतार की भांति आए। पृथिवी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आए। दृश्य की ओर से चलकर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसोफिस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर रामकृष्ण परमहंस ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियों और सन्तों की कथाएँ सुनी जाती हैं, वे झूठी नहीं हैं।

गाँधी जी का वचन है कि रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आए हुई जीवित धर्म की कहानी है। कहते हैं, केशवचन्द्र सेन के समय, ब्रह्म समाज में भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ, वह ब्रह्म-समाजियों की रामकृष्ण से संगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्रह्म-समाजी साधक और विद्वान् आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "श्री रामकृष्ण के दर्शन होने के पूर्व, धर्म किसे कहते हैं, यह कोई समझता भी नहीं था। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।"

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के सहजोद्गारों में समन्वयात्मकता और भक्ति भाव की सरलता एवं आध्यात्मिक दिव्यता थी परन्तु उनमें तार्किक तीक्ष्णता का अभाव था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वेदों के आधार पर समाज में प्रचलित बाह्याडम्बरों और कुरीतियों का उच्छेदन करन का प्रयत्न किया। परन्तु स्वामीजी के सिद्धान्तों में समन्वय और सामञ्जस्य का अभाव एवं कट्टरता की भावना अधिक थी। स्वामीजी के सिद्धान्त वेदों के प्रति श्रद्धा रखने वाले भारतीयों के लिए तो अनुकूल हो सकते थे परन्तु विचार-क्षेत्र में केवल युक्ति को ही कसौटी मानकर चलने वाले पश्चिमीं दार्शनिकों को प्रभावित नहीं कर पा रहे थे। आचार्य शंकर के समय जिस प्रकार ऐसी

परिस्थितियां पैदा हो गई थीं कि बौद्ध दार्शनिकों को केवल श्रुतियों की अपौरुषेयता की दुहाई देने मात्र से परास्त नहीं किया जा सकता था, इसी प्रकार यह समय भी वेदों की अपौरुषेयता की दुहाई देने का नहीं था। इस समय तो आवश्यकता थी एक व्यक्तित्व की जो विज्ञान और भौतिकता के आक्रमण को विशुद्ध तर्क के शरों से रोकता और अध्यात्मतत्त्व की युक्ति संगत व्याख्या करता। इस समय आवश्यकता थी एक ऐसे युगपुरुष की जो नाना प्रकार के मत मतान्तरों में से सबको जोड़ने वाली कड़ियों को ढूँढ़ निकालकर उनके पारस्परिक विद्वेष को कम करता। स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव ठीक ऐसे ही तिमिराच्छन्नकाल में हुआ था।

स्वामी विवेकानन्द जिनका बचपन का नाम नरेन्द्र था, 12 जनवरी सन् 1863 ई० को कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दत्त परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता विश्वनाथ दत्त बड़े दयालु और संवेदनशील व्यक्ति थे और उनकी माता भुवनेश्वरी देवी बड़ी बुद्धिमान और ईश्वरभक्त महिला थीं। उनकी माँ ने रामायण और महाभारत को पूर्णरूप से कण्ठस्थ कर लिया था। नरेन्द्रनाथ के चरित्र और मस्तिष्क के विकास पर उनकी माँ का अटूट प्रभाव पड़ा था।

छः वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र ने व्याकरण 'मुग्धबोध' तथा रामायण और महाभारत के बुहत से श्लोकों को कण्ठस्थ कर लिया। सात वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र ने अंग्रेजी, बंगला साहित्य और भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया। प्रथम श्रेणी में हाईस्कूल की परीक्षा पास करने के बाद वे कलकत्ता के प्रेसेडेन्सी कालेज में भर्ती हुए। उस कालेज में नरेन्द्र ने अंग्रेजी साहित्य, यूरोपीय इतिहास, पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत और चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया। पाश्चात्य दार्शनिकों में उनकी स्पेंसर, मिल, काण्ट और शोपेनहावर में विशेष रुचि थी। इन दार्शनिकों के गम्भीर अध्ययन ने उन्हें सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्ति बना दिया।

युवक नरेन्द्र जिज्ञासु था। ब्रह्म साक्षात्कार के बिना उसकी जिज्ञासा तृप्त नहीं हो सकती थी। इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वह महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर से मिला। मिलते ही उसने उनसे पूछा—'श्रीमान् ! क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है?' महर्षि इस प्रश्न को सुनकर आश्चर्य-

चकित हो गए। इस आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वह एक धार्मिक नेता के बाद दूसरे धार्मिक नेता से मिलते रहे, पर किसी ने उसकी जिज्ञासा की पूर्ति नहीं की।

जिन दिनों युवक नरेन्द्रनाथ के मन में विचारों का इस प्रकार का द्वन्द्व या ऊहापोह चल रहा था, उन दिनों बंगाल में एक ऐसे महात्मा का उदय हो रहा था जिसे श्रीरामकृष्ण कहते थे।[1]

प्रिंसिपल हेस्टी ने एक बार नरेन्द्र को श्रीरामकृष्ण के विषय में बताया था। इस बात का पता लगाने के लिए कि क्या सचमुच श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, युवक-नरेन्द्र दक्षिणेश्वर गया। नरेन्द्रश्रीरामकृष्ण मिलन नरेन्द्र के जीवन का संक्रान्तिकाल था। जब वह श्रीरामकृष्ण से मिला, श्रीरामकृष्ण ने उसकी आध्यात्मिक साध्यता को तुरन्त पहचान लिया और कहा, 'भगवान! मैं जानता हूँ, आप स्वयं नारायण के अवतार प्राचीन ऋषि हैं, जिन्होंने मानवता का उद्धार करने के लिए पृथ्वी पर जन्म लिया है।[2] नरेन्द्र ने आगे लिखा 'मैं उनके व्यवहार को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। मैंने समझ लिया कि वे बिल्कुल विक्षिप्त हैं। नास्तिक नरेन्द्र उनसे प्रश्न किया, 'श्रीमान्! क्या आपने ईश्वर साक्षात्कार कर लिया है?'' श्रीरामकृष्ण ने उतनी ही सरलता से उत्तर दिया ''हाँ! ईश्वर को मैं उसी प्रकार देखता हूँ जिस प्रकार कि तुम्हें देख रहा हूँ। इस उत्तर से नरेन्द्र प्रभावित तो हुआ पर उनके उन्माद को देखकर उसे सहसा उनकी बातों पर विश्वास न हुआ। पर एक-दो बार मिलने के बाद नरेन्द्र की आँखें खुलीं और उसने श्रीरामकृष्ण की गुरूता को पहचाना। उनकी बातों पर सहसा उसे विश्वास होने लगा। पर ब्रह्मसमाज के प्रभाव के कारण वह उन्हें अपने गुरू के रूप में स्वीकार न कर सका।

नरेन्द्र नाथ के मन में ये सारे अन्तर्द्वन्द्व चल रहे थे कि एक दिन उसके पिता श्री विश्वनाथ दत्त जो परिवार के एक मात्र अभिभावक थे, इस संसार से चल बसे। पिता की मृत्यु ने परिवार को अभूतपूर्व आर्थिक कठिनाई में डाल दिया। उन दिनों नरेन्द्र बी० ए० पास कर कानून की शिक्षा प्राप्त कर रहा था। पारिवारिक कठिनाइयों के होते हुए भी उसने साहस नहीं छोड़ा। जैसे-जैसे

1. समकालीन दर्शन, पृ० 57-58
2. विवेकानन्द का जीवन : प्राच्य एवं पाश्चात्य शिष्य, अद्वैत, अलमोड़ा, 1960, पृष्ठ 46

कठिनाईयाँ बढ़ती गई, उसका ईश्वर में विश्वास भी बढ़ता गया। उसने सोचना प्रारम्भ किया कि यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो मनुष्य के अस्तित्व का कोई मूल्य ही न होता।'

अब नरेन्द्र की आध्यात्मिक साधना का स्वर्णिम अवसर आया। वे जिज्ञासु थे ही। वे परमतत्त्व (ईश्वर) का साक्षात्कार करना चाहते थे। रोमा रोलाँ ने नरेन्द्र के विषय में लिखा है—"यह योद्धा और विजेता ईश्वर और जगत् सब कुछ प्राप्त करना चाहता था, सब पर अधिकार और सबका परित्याग करना चाहता था।"[1] एक दिन श्री रामकृष्ण ने घोषित किया, जिस दिन नरेन्द्र का जीवन के दु:खों, कष्टों और विपत्तियों से संनिकर्ष होगा, उसके चरित्र का अभिमान विगलित होकर अनंत करुणा में परिवर्तित हो जाएगा। उसका 'अहम्' में जो दृढ़ विश्वास है वह तमाम निराश आत्माओं में उस विश्वास और आस्था को उत्पन्न करने का साधन बनेगा जिसे उन्होंने थोड़े समय के लिए खो दिया है। शक्तिशाली आत्मनियंत्रण के ऊपर आधारित उसके व्यवहार की जो स्वच्छंदता है, वह दूसरों की आंखों में आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता के रूप में द्युतिमान रहेगा।"[2] उन्होंने यह भी घोषित किया कि 'हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो हमें आत्मविश्वास, राष्ट्रीय आत्म-सम्मान, गरीबों को खिलाने और शिक्षित करने की योग्यता तथा अपने चारों ओर फैले दु:ख -दर्द को दूर करने की क्षमता प्रदान करे। ....यदि तुम ईश्वर-साक्षात्कार करना चाहते हो तो मनुष्य की सेवा करो।[3]

उपर्युक्त शिक्षा को प्राप्त करने के बाद नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण को अपना गुरू मान लिया। अपने गुरू के चरणों में आसीन हो उन्होंने उनसे वेदांत और उसे प्राप्त करने की विधि "निर्विकल्प समाधि" की शिक्षा ग्रहण की। सम्पूर्ण प्राचीन ज्ञान का रहस्य उन्हें श्रीरामकृष्ण से प्राप्त हुआ। इसके बाद मानवता की सेवा तथा शिष्यों के आध्यात्मिक उत्कर्ष का सारा भार उसके ऊपर आ पड़ा जिसे उन्होंने बड़ी निष्ठा व लगन के साथ पूरा किया।

---

1 रोमा रोलाँ: विवेकानन्द का जीवन और सार्वभौम सिद्धान्त, अद्वैत आश्रम, 1960 पृष्ठ 9

2. शारदानन्द की रचना 'दिव्यभाव' से उद्धृत।

3. रोमा रोलाँ : विवेकानन्द का जीवन और सार्वभौम सिद्धान्त, अद्वैत आश्रम, 1960 पृष्ठ 10

मृत्यु के पहले श्रीरामकृष्णदेव ने एक धर्म संघ की स्थापना की थी, जिसके स्वामी विवेकानन्द प्रमुख थे। आध्यात्मिकता की वृद्धि और मानवता की सेवा करना ही इस संघ का उद्देश्य था। 'आत्मनो मोक्षार्थ जगद्धिताय च।' आत्मा का मोक्ष-साधन और जगत का कल्याण यही इसके दो प्रमुख उद्देश्य थे।

इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सन् 1888 में वे भारत-भ्रमण के लिए निकले। देश के विभिन्न नगरों की यात्रा करते हुए वे हिमालय पहुँचे। भारत भ्रमण के बीच उन्हें भारत की आध्यात्मिक व सांस्कृतिक एकता का ज्ञान हुआ। फरवरी, 1891 को एक बार पुनः इस सांस्कृतिक एकता का दर्शन करने के लिए वे भारत-दर्शन पर निकल पड़े। इस यात्रा में उन्हें भारत की महानता व महिमा का बोध हुआ। उन्होंने अपनी आँखों से देखा कि वह भारत जो प्राचीन काल में सुख, समृद्धि व सभ्यता के उच्चशिखर पर था, आज अज्ञानता, दरिद्रता, व बीमारी में कितना आकण्ठ डूबा हुआ है। उसी समय भारत की इन बुराइयों को दूर करने का उन्होंने ब्रत लिया। राजपूताना, बम्बई, रामेश्वरम् होते हुए वे कन्याकुमारी पहुँचे जहाँ उनकी यात्रा समाप्त हुई। अपनी यात्रा के बीच जब वे खंडवा थे, उन्हें पता चला कि 1893 में अमेरिका के शिकागो नगर में धर्म संसद की बैठक हो रही है। उन्होंने उसमें भाग लेने की इच्छा व्यक्त की। धर्म-संसद में भाग लेने के उनके दो उद्देश्य थे—प्रथम तो यह कि वे अन्य धर्मो के ऊपर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते थे और द्वितीय यह कि वे भारत की गरीबी के निवारण के लिए अमेरिका की समृद्धि का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द का दृढ़ विश्वास था कि बुभुक्षितों को धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती और धर्म के बिना मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उन्होंने भारत की गरीबी दूर करने का भीष्म व्रत लिया।[1]

स्वामी विवेकानन्द ने 31 मई 1893 को बम्बई से अपनी अमेरिका की यात्रा प्रारम्भ की। लंका, सिंगापुर, हांगकांग और नागासाकी होते हुए जुलाई के मध्य तक वे शिकागो पहुँचे। इस यात्रा से उन्हें एशिया की सांस्कृतिक एकता का दर्शन हुआ और इसमें भारतीय योगदान की भी उन्हें

---

1. समकालीन दर्शन, पृष्ठ 60-61

झांकी मिली। चीन में उन्हें संस्कृत-ग्रन्थों की कुछ अमूल्य पांडुलिपियाँ मिलीं। जापान के मन्दिरों में संस्कृत के पवित्र सूत्रों के अभिलेख पाए गए। इन वस्तुओं को देखकर उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि एशिया की आध्यात्मिक एकता की स्थापना में भारत का कितना महान योगदान है।

शिकागो पहुँचने पर जब उन्होंने अमेरिका की शक्ति, धन, सृजनात्मक प्रतिभा और समृद्धि को देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बारह दिन बाद वे शिकागो के सूचना-केन्द्र पहुँचे। वहां पता चला कि अब धर्म-संसद में भाग लेने के लिए पंजीकरण असंभव है, और यदि पंजीकरण संभव भी है तो वह आधिकारिक परिचय-पत्र के बिना हो नहीं सकता। विवेकानन्द के पास इस प्रकार का कोई परिचय-पत्र नहीं था। उन्हें परिचय-पत्र की आवश्यकता भी न थी। वे जहाँ कहीं जाते, लोगों के आकर्षण-केन्द्र बन जाते थे। जब वे एक दिन बोस्टन ट्रेन से यात्रा कर रहे थे, उसमें मैसेचुसेट्स की एक धनी महिला से उनकी भेंट हो गई। उस महिला ने स्वामी जी को हार्वर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी विभाग के प्राध्यापक जे० एच० राइट से परिचय कराया। प्रो० राइट स्वामी विवेकानन्द की विद्वता और ज्ञान से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने मित्र और प्रतिनिधियों की चयन-समिति के अध्यक्ष डा० वैरो को पत्र लिखा, 'यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है, जो हमारे सभी प्राध्यापकों के संयुक्त ज्ञान से भी अधिक ज्ञान रखता है।[1] उन्होंने स्वामीजी को शिकागो के लिए एक रेलवे टिकट और चयन-समिति के लिए एक संस्तुति-पत्र दिया और कहा कि स्वामीजी धर्म-संसद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करेंगे।

सोमवार 22 दिसम्बर, 1893 को धर्म-संसद का प्रथम अधिवेशन कोलम्बस हाल में प्रारम्भ हुआ। मध्य में रोमन कैथोलिक चर्च के उच्चतम धर्माधिकारी कार्डिनल गिबन्स बैठे थे। उनके चारों ओर प्राच्य धर्मों के विभिन्न प्रतिनिधि आसीन थे—पी० सी० मजूमदार और नागरकर ब्रह्म समाज का, लंका के धर्मपाल-बौद्धधर्म का, गांधी जैन धर्म का तथा चक्रवर्ती और एनी बेसेण्ट थियोसॉफिकल सोसाइटी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इन्हीं लोगों के साथ स्वामी विवेकानन्द शिरोमणि हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

---

1. Here is a man who is more learned than all our learned professors put together.

शाम के अधिवेशन में अध्यक्ष ने स्वामीजी से अपना भाषण देने का अनुरोध किया। अमेरिकनवासियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—'बहनों और भाइयों! हिन्दू धर्म सभी धर्मो का जनक है। यह वह धर्म है जिसने संसार को सहिष्णुता और सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया।' अपनी बात को पुष्ट करने के लिए स्वामीजी ने शिवमहिम्न स्तोत्र और गीता से निम्न दो पद सुनाये—

"जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेड़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अन्त में तुझ में ही आकर मिल जाते हैं।"[1]

तथा

"जो कोई मेरी ओर आता है—चाहें किसी प्रकार से हों—मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।"[2]

इस प्रकार स्वामीजी ने सिद्ध किया कि धर्म में सांप्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्धता इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। अमेरिका वाले उनके विचारों से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शन के आचार्य पद का कार्यभार तथा कोलम्बिया विश्वविद्यालय में संस्कृत के आचार्य पद का कार्यभार देने का प्रस्ताव किया गया। स्वामीजी ने बड़े विनम्र भाव से इन पदों को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वे सन्यासी हैं।

धर्मपरिषद का कार्य समाप्त कर स्वामीजी 7 अगस्त, 1895 को इंग्लैण्ड आए। लंदन में नियमित रूप से उनकी वेदांत पर कक्षाएँ चलती थीं। ज्ञान-योग पर जो उन्होंने वहाँ भाषण दिए उनका लंदन की जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इंग्लैण्ड की एक धर्म सभा में उनकी भेंट मिस

---

1. 'रुचिनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानांपथजुषाम्।
   नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णवइव ॥
2. "ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।
   मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"

मारगरेट नोवेल से हुई जो आगे चलकर भारत की भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1]

इंग्लैण्ड में कार्य समाप्त कर स्वामीजी 6 दिसम्बर, 1895 को पुनः न्यूयार्क लौट आए। वहाँ अध्यात्म पर उन्होंने कई भाषण दिए जो बाद में 'कर्म-योग' और 'भक्ति-योग' के नाम से प्रकाशित किए गए। अन्त में हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों के सतत प्रचार के लिए उन्होंने एक संस्था स्थापित की जिसे वेदांत संघ की संस्था कहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक पाश्चात्य प्रविधि और प्राच्य अध्यात्म का संगम नहीं होगा तब तक मानवता का कल्याण असम्भव है। वे वेदांत व विज्ञान के बीच समन्वय चाहते थे। वे जानते थे कि जब तक हिन्दू धर्म की बौद्धिक और वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जाएगी तब तक वह पाश्चात्य जगत् को स्वीकार नहीं हो सकती। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वामीजी ने हिन्दू धर्म और दर्शन के पुनर्गठन पर विशेष बल दिया और अंत तक इसी कार्य में रत रहे। उन्होंने अपने पश्चिमी शिष्यों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए भारत में भेजा और अपने भारत के शिष्यों को विज्ञान और प्रविधि की शिक्षा देने के लिए पश्चिम में भेजा।

फरवरी 1896 में (स्वामी विवेकानन्द) ने न्यूयार्क नगर में अपनी सुप्रसिद्ध वेदान्त सभा की स्थापना की। इस सभा ने विदेशों में हिन्दू धर्म और दर्शन के मूल विचारों के प्रचार व प्रसार का कार्यभार अपने ऊपर लिया और अब तक वह यह कार्य करती जा रही है।[2]

जब स्वामीजी अमेरिका में हिन्दू धर्म और दर्शन के प्रचार में लगे थे, इंग्लैण्ड के मित्रों ने उन्हें एक बार पुनः अपने यहाँ आमन्त्रित किया। वे अप्रैल 1896 में इंग्लैण्ड वापस आ गए। वहाँ वे नियमित रूप से वेदांत पर कक्षाएँ लेते थे। सुप्रसिद्ध दार्शनिक मैक्समूलर श्रीरामकृष्णदेव के जीवन और उनकी शिक्षाओं से विशेष प्रभावित थे। इस विषय पर विवेकानन्द से वार्तालाप कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए, इस वार्तालाप के परिणामस्वरूप ही उन्होंने अपनी रचना 'रामकृष्ण, उनका जीवन और उनकी शिक्षाएँ[3] प्रकाशित की।

---

1. समकालीन भारतीय दर्शन—डा० लक्ष्मी सक्सेना, पृष्ठ 62
2. डा० लक्ष्मी सक्सेना : समकालीन भारतीय दर्शन, पृष्ठ 63
3. Max Muller, Ramakrishna, His life and sayings.

इंग्लैण्ड में विवेकानन्द का कार्यक्रम इतना व्यस्त रहा कि वे क्लांति का अनुभव करने लगे। इस क्लांति और थकान को मिटाने के लिए उन्होंने स्विटरजरलैंड की यात्रा का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ की शान्ति और ताजगी ने उनकी सम्पूर्ण मानसिक थकान को समाप्त कर दिया। अगस्त, 1891 में जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक पाल ड्यूसन ने उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित किया। स्वामीजी से मिलकर जर्मन दार्शनिक ने भारत और भारतीय दर्शन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे स्वामीजी के विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनके साथ विवेचन के लिए वे लंदन पहुँचे। लंदन के पाल ड्यूसन ने स्वामीजी के साथ वेदांत दर्शन पर विचारों का आदान-प्रदान किया। वहां दो माह तक निवास के बाद स्वामीजी अपने दो पाश्चात्य शिष्यों एवं श्रीमती सेवियर के साथ भारत लौट आए।

पश्चिमी देशों पर अपनी और भारत की आध्यात्मिक विजय के बाद स्वामी विवेकानन्द भारत लौट आए। लौटने पर भारत में उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण और उन्नयन में उनके विशेष योगदान की सर्वत्र चर्चा होने लगी। हिन्दू धर्म के महान आचार्य और प्रस्तोता के रूप में उनका स्वागत किया गया। स्वदेश लौटने पर उन्होंने अपना सारा समय अद्वैत संघ जिसको उन्होंने श्रीरामकृष्ण की मृत्यु के बाद स्थापित किया था, के कार्य-कलापों में लगा दिया। वेदांत की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देना ही इस संघ का प्रमुख उद्देश्य था। आज भी देश के विभिन्न भागों में अद्वैत संघ की शाखाएँ सांस्कृतिक उन्नयन और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के कार्य में लगी हैं। स्वामी विवेकानन्द की देश को यह सबसे बड़ी देन है।

रामकृष्ण मिशन के कार्यों की व्यस्तता के कारण स्वामीजी को दमा और मधुमेह की बीमारी हो गई थी। अंत में 4 जुलाई 1902 ई० को केवल 39 वर्ष और कुछ महीनों की अवस्था में उनका देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु से भारत की कितनी अपूरणीय क्षति हुई, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

रामकृष्ण-विवेकानन्द के द्वारा दिए गए आध्यात्मिक सत्य से दर्शन के अनेक शास्त्रीय प्रश्नों

का भी समाधान प्राप्त होता है। वे समाधान वैचारिक समाधान न होकर अनुभूति के सत्य हैं। ऐसी ही एक समस्या द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत के आपसी विवादों की है जिसका अद्‌भुत समाधान हमें रामकृष्ण-विवेकानन्द के दर्शन में प्राप्त होता है जिसके अनुसार—द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत वस्तुतः उसी अनुभूति के तीन प्रकार हैं जिनमें परस्पर विसंगति न होकर क्रमशः तीन उत्तरोत्तर सोपानवत संगति है। द्वैत से चलकर एवं विशिष्टाद्वैत होते हुए ही अद्वैत की भूमि तक पहुँचा जा सकता है और यही कारण है कि अद्वैतोन्मुख विकासयात्रा में द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत की धरा से भी स्वामी विवेकानन्द अपने व्यक्तितत्व एवं कृतित्व से वेदान्तिक समाजवाद की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के दर्शन के तीन मुख्य स्रोत हैं—प्रथम भारतीय धर्मग्रन्थों की विषयवस्तु। द्वितीय उनके गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस एवं उनकी कृपा से प्राप्त अनुभूतियाँ और तृतीय अपने मातृभूमि की तत्कालीन दशाओं से यथार्थ परिचय। 'अपने गुरू परमहंस रामकृष्ण में नरेन्द्र को प्राचीन धर्मग्रन्थों का वह सत्यापन प्राप्त हुआ जिसकी माँग उनका हृदय ~~और~~ बुद्धि करती रही थी। यहाँ वह सत्य उपलब्ध था जिसका टूटा-फूटा वर्णन ही ग्रन्थ उपलब्ध कर पाते हैं। अपने गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस में विवेकानन्द को जीवन के रहस्य की कुंजी मिल गई थी। वस्तुतः विवेकानन्द की वाणी परमहंस देव की ही अनुभूतियाँ थीं। वह 'Spirit' एक ही थी जिससे पहले दक्षिणेश्वर की चिन्मयी माँ काली और परमहंस रामकृष्ण अभिन्न हुए थे और वही परमहंस देव की महासमाधि के पूर्व नरेन्द्र में संचारित हो गई थी।' फिर ' उनके गुरुदेव का जीवन एवं व्यक्तित्व जिस विराट परिपूर्णता का अल्पकालिक एवं प्रखर प्रतीक था उसकी परिव्याप्ति को आत्मसात करने के लिए कन्याकुमारी से हिमालय तक समग्र भारत का भ्रमण करना सर्वत्र साधु, सन्त, विद्वानों और जनसाधारण से समभाव से मिलना, सबसे शिक्षा ग्रहण करना और सबको शिक्षा देना, सबके साथ जीवन बिताना और भारत के अतीत एवं वर्तमान का यथार्थ परिचय प्राप्त करना अनिवार्य था।' विशेषकर इसी परिचय के सन्दर्भ में उनकी शिक्षाओं का सामाजिक महत्त्व निहित है किन्तु इसके पीछे उनकी वह अद्वैत दृष्टि भी थी जिसके सन्दर्भ में उन्होंने एक बार कहा—'कला, विज्ञान एवं

धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत का सिद्धान्त चाहिए।'

रामकृष्ण-विवेकानन्द के पीछे युग-युग के आध्यात्मिक विकास का प्रशान्त सागर था, उनके पीछे एक संसार था जो अपनी कालगणना वेदों से करता है और अपनी याद उपनिषदों में करता है, एक संसार जिसकी तुलना में बौद्ध धर्म प्रायः आधुनिक है, एक संसार-मत मतान्तरों की धार्मिक व्यवस्थाओं से पूर्ण, उष्ण कटिबन्ध की सूर्यरश्मियों से स्नात-शान्त देश, जिसकी सड़कों के रज पर युग-युगान्तर से सन्तों के चरणचिन्ह अंकित हो रहे थे। उनके पीछे था वह भारत, सहस्रों वर्षों के अपने राष्ट्रीय विकास के साथ, जिनमें उसने अपने देश और काल के महान् विस्तार के एक छोर से दूसरे छोर तक अपने समस्त देशवासियों द्वारा सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त कुछ मौलिक और सारभूत सत्यों का पता लगाया है, अनेक बातें सिद्ध की है और केवल एक पूर्ण मतैक्य को छोड़कर लगभग सबको उपलब्ध किया है।

उनके पीछे के इस महान् संसार के अतिरिक्त वहाँ एक तत्कालीन संसार भी था—अन्धविश्वासों में जकड़ा, दरिद्र, तमसाछन्न अपने प्राचीन गौरव से च्युत भारत। इसी प्राचीन गौरव की पुर्नप्रतिष्ठा के लिए समय की दीर्घ अवधि के बाद एक ऐसा मनुष्य हमारे इस ग्रह में आ पहुँचा था जो असन्दिग्ध रूप से दूसरे किसी मण्डल से आया हुआ एक पर्यटक था। जो उस अतिदूरवर्ती क्षेत्र की, जहाँ से वह आया हुआ था, महिमाशक्ति और दीप्ति का कुछ अंश इस संसार में लाया था। वह मनुष्यों के बीच विचरा था किन्तु इस मर्त्यभूमि का नहीं था, वह था एक तीर्थयात्री, एक अजनबी, वह केवल एक रात के लिए ही ठहरा था। उसने अपने चारों ओर के मनुष्यों के जीवन से अपने को सम्बद्ध पाया था, उनके हर्ष-विषाद का साथी बना था लेकिन इन सभी के बीच वह यह कभी नहीं भूला कि वह कौन है? कहाँ से आया है और उसके यहाँ आने का क्या उद्देश्य था? वह कभी अपने दिव्यत्व को नहीं भूला। उसने सदैव यह याद रखा कि वह महान तेजस्वी एवं महामहिमान्वित आत्मा है। वह जानता था कि वह उस वर्णनातीत स्वर्गीय क्षेत्र से आया है जहां सूर्य अथवा चन्द्र की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह क्षेत्र आलोकों के आलोक

से आलोकित है। वह जानता था कि ईश्वर की जब सभी सन्तानें एक साथ आनन्द के लिए गान कर रही थी उस समय से पूर्व ही उसका अस्तित्व था। वस्तुतः यह निरूपण 'था' की भाषा से कहीं अधिक 'हैं' की भाषा में संगत होगा क्योंकि उसी महापुरुष 'विवेकानन्द' की उद्घोषणा थी "I shall inspire men everywhere, until the world shall know that it is one with God."

किन्तु रामकृष्ण-विवेकानन्द का अवतरण अकस्मात ही नहीं हो गया था वरन् उनके पीछे अवतरण को सम्भव बनाने वाली परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण थीं। किसी सामाजिक घटना विशेष के उत्पन्न होने की वैसे तो कोई स्पष्ट कालरेखा खींचना असम्भव ही है क्योंकि समस्त भौतिक घटनाओं के जन्म के पीछे व्यक्ति के मानस में होने वाली वैचारिक हलचल ही प्रधान होती है, और पुनश्च, यह वैचारिक हलचल किसी न किसी पर्यावरण से प्रभावित होती है और इस प्रकार यह श्रृंखला परिवर्तित रूपों में अतीत के उस धुंधलके में पहुँच जाती है जहाँ झांकने का साहस परम्पराओं को भी नहीं होता और इतिहास की क्षीण रेखा भी ओझल हो जाया करती है। तथापि जिस समुद्र के ज्वार की उत्तुंग शिखरों पर आसीन होकर रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा अर्वाचीन भारत के द्वार पर दस्तक देती है उस समुद्र की सतह पर स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर हलचल सर्वप्रथम राजाराम मोहन राय के रूप में प्रारम्भ होती है।

यहाँ ज्वार और उत्तुंग शिखर की उपमा लाक्षणिक अर्थ रखती है वाच्य नहीं, क्योंकि रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा वर्षा ऋतु का जल न होकर गंगा-यमुना के जल के समान भी है। 'जब वर्षा होती है तब चारों ओर सड़कों पर भी जल दिखाई देने लगता है पर जैसे ही वर्षा समाप्त हो जाती है और मेघ चले जाते हैं, वर्षा का जल भी चला जाता है; इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे होते हैं जो समाज में वर्षाकाल के मेघ की तरह छा जाते हैं पर जैसे वर्षा के मेघों के चले जाने के बाद जल समाप्त हो जाता है वैसे ही उन महापुरुषों का नाम भी केवल इतिहास में रह जाता है। गंगा और यमुना की धाराओं की विशेषता यह है कि वे मूल से सम्बद्ध हैं इसलिए न जाने उनका जल कितने वर्षों से प्रवाहित होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा।' उपर्युक्त ज्वार के उदाहरण को इसी अर्थ में लेना चाहिए न कि ज्वार के चढ़ने और उतरने की अल्पकालीन घटना से।

'रामकृष्ण हिन्दू धर्म की गंगा हैं जो वैयक्तिक समाज की कमण्डलु में बन्द थीं। विवेकानन्द इस गंगा के भगीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमण्डलु से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।

श्री रामकृष्ण देव ने यह उद्घोषित किया कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत एक ही सत्य की प्राप्ति के तीन सोपान हैं। इसी सत्य को स्वामी जी भी स्थापित करते हैं। जब वह इसे एक और भी महान तथा अधिक सरल इस सिद्धान्त के अंग के रूप में देखते हैं कि अनेक और एक विभिन्न समयों पर, विभिन्न वृत्तियों में मन के द्वारा देखे जाने वाला एक ही तत्त्व है अथवा जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने उसी सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है कि''ईश्वर साकार और निराकार दोनों ही हैं। ईश्वर वह भी है जिसमें साकार और निराकार दोनों ही समाविष्ट हैं। यहाँ पर रामकृष्ण-विवेकानन्द पूर्व और पश्चिम के ही नहीं भूत और भविष्य के भी संगम बिन्दु बन जाते हैं।

स्वामीजी के लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा पौरुष तथा श्रद्धा, सच्चे नैतिक बल तथा आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं है। एक दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण वाणी को किसी केन्द्रीय दृढ़ आस्था के भाष्य के रूप में पढ़ा जा सकता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में ''कला, विज्ञान, एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के विविध माध्यम हैं लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत का सिद्धान्त चाहिए।''

इस प्रकार रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की भूमि यदि अद्वैत वेदान्त की है तो वह पावन सरिता प्राचीन और अर्वाचीन का संगम भी है। यह संगम बुद्धि और हृदय का भी मिलन है। श्री रामकृष्ण देव इस इन्द्रिय जगत् से पूर्णतया विमुख होकर परमसत्ता की अनुभूति हेतु इन्द्रियातीत के अन्वेषण में पूर्णतया रत रहे।

किन्तु एक ऐसा पक्ष है जिसके सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण देव अतिआधुनिक थे और वह पक्ष है ईश्वर के प्रति उनकी दृष्टि। यहां वह किसी भी आधुनिक व्यक्ति से कहीं ज्यादा आधुनिक हैं। यदि हम ईश्वर ज्ञान के प्रति थोड़ा भी बोध रखते हों तो हम सामान्यतया या तो आध्यात्मिक ग्रन्थों

पर निर्भर रहते हैं अथवा दार्शनिक तर्कों पर। किन्तु रामकृष्ण इनमें से किसी पर भी निर्भर नहीं थे क्योंकि इनमें से कोई भी अर्थात् न तो पुस्तक पर आधारित अनुमान और न ही इन्द्रियानुभव पर आधारित अनुमान ईश्वर के अस्तित्व को निश्चित रूप से सिद्ध कर सकते हैं। श्रीरामकृष्ण ने धार्मिक एकता और सहिष्णुता पर बल दिया। यह एकता आधुनिक युग की एक प्रमुख मांग है।

वेदान्ती ग्रन्थों और पाश्चात्य विचारों में निष्णात होने के बावजूद स्वामी विवेकानन्द ने किसी नये दार्शनिक निकाय की रचना नहीं की। उन्होंने औपनिषदिक और शंकर के ही दर्शन को आधुनिक युग के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया। स्वामीजी का महान् लक्ष्य आधुनिक युग में आध्यात्मिक आधार पर मानव का पुनर्निर्माण करना है।

अन्त में हम इस शोध प्रबन्ध की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहेंगे, जिसके अनुसार इसमें कुल आठ अध्याय हैं। आठों अध्यायों के विषय विवेचन का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम परिच्छेद में भारतीय पुनर्जागरण के प्रमुख आधारों, विशेषताओं, प्रभावों आदि का विवेचन एवं मूल्यांकन तथा रामकृष्ण आन्दोलन व श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द का संक्षिप्त जीवन परिचय एवं उनके भावधारा के वैशिष्ट्य को दर्शाया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में अद्वैत मत में परमतत्त्व अर्थात् ब्रह्म की धारणा पर विचार किया गया है। ब्रह्म के स्वरूप की विस्तृत रूप से विवेचना की गई है। ब्रह्म की अभिव्यक्तियों के विषय में भी विस्तृतरूप से बताया गया है और माया, जीव एवं जगत् से ब्रह्म के सम्बन्धों की भी समीक्षा की गई है।

तृतीय परिच्छेद में रामकृष्ण-विवेकानन्द के माया सम्बन्धी सिद्धान्तों का संकलन है। माया के स्वरूप तथा माया और ब्रह्म के परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया गया है। जीव और जगत् के सन्दर्भ में भी माया की स्थिति की समीक्षा की गई है।

चतुर्थ परिच्छेद में अद्वैत वेदान्त में जीव के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विषयों पर भी सामग्री दी गई है। जीव के अवस्था भेद, जीव का बन्धमोक्ष एवं जीव-ब्रह्म सम्बन्ध पर विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है।

पंचम परिच्छेद में रामकृष्ण-विवेकानन्द की सृष्टि-सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन है। सृष्टि के स्वरूप तथा ब्रह्म के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार किया गया है। रामकृष्ण-विवेकानन्द के सृष्टि सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की समीक्षा भी की गई है।

षष्ठ परिच्छेद में अद्वैत मत में बन्ध-मोक्ष की धारणा पर विचार किया गया है। बन्ध-मोक्ष के स्वरूप की विस्तृत आलोचना की गई है। मोक्ष की प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति एवं बन्ध मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों की समीक्षा भी की गई है।

सप्तम परिच्छेद में अद्वैत मत में साधना का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस परिच्छेद के अन्तर्गत साधना के अवरोधक एवं साधना के सहायक तत्त्वों का विवेचन विशेष रूप से हुआ है। अन्त में मार्ग के मुख्य तथ्यों तथा साधना की विवेचना की गई है।

अष्टम् परिच्छेद में रामकृष्ण विवेकानन्द दर्शन के युगीन सन्दर्भ और अद्वैत वेदान्त के मत की विस्तृत रूप से विवेचना की गई है। इसके साथ ही साथ सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक दृष्टि पर भी विचार किया गया है।

उपसंहार में समग्र रामकृष्ण-विवेकानन्द दर्शन का निष्कर्ष, अद्वैत की भूमिका के सन्दर्भ में उनका वैशिष्ट्य तथा प्रासंगिकता का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

यह संक्षेप में पूरे प्रबन्ध की रूपरेखा है। मूल्यांकन की सुविधा के लिए प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में विवेचित विषय का सार-संक्षेप दिया गया है और सार संक्षेप के पश्चात् परिच्छेद में वर्णित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विश्लेषण और आलोचना भी किया गया है।

———

प्रथम परिच्छेद

भारत में पुनर्जागरण

आधुनिक एशिया का प्रबुद्धीकरण, उसमें नवजीवन का संचार तथा उसका द्रुत पुनरुत्थान पिछले सवा सौ वर्ष के विश्व इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। सभ्यता के प्रकाश की किरण सर्वप्रथम एशिया में ही प्रस्फुटित हुई थी। किन्तु जब सोलहवीं शताब्दी में यूरोप के राष्ट्रों ने विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी (टेक्नालॉजी) का विकास आरम्भ किया तो उस समय से एशिया के लिए यूरोप के समकक्ष खड़ा रह सकना असम्भव हो गया। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोपीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ, बड़े पैमाने पर पण्य का उत्पादन होने लगा और वाणिज्य का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। उस समय से एशिया यूरोपीय साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का क्रीड़ांगन बन गया। प्रौद्योगिकी क्रान्ति के आगमन से पाश्चात्य देशों की आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति में और भी अधिक वृद्धि हो गई। अठारहवीं शताब्दी में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में एशियाई देशों में सर्वत्र आर्थिक अध:पतन, राजनीतिक जर्जरता,[1] सामाजिक गतिहीनता तथा सांस्कृतिक अवनति के दृश्य दिखायी देने लगे। विश्व के इतिहास में एशिया की गणना अधीन कोटि में होने लगी। भारत में ब्रिटिश-शासन की स्थापना व्यवस्थित ढंग से दक्षिण के आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों (1740-1763), प्लासी की लड़ाई (जून 23, 1757) तथा बक्सर के युद्ध (अक्टूबर 23, 1764) और शाह आलम द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दीवानी अधिकारों को दिये जाने (अगस्त 1, 1765) के साथ-साथ आरम्भ हुई। बलशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने इस देश में कूटनीति, शासन पटुता तथा उच्च प्रकार के सैनिक शस्त्रास्त्र की सम्पूर्ण शक्तियों के साथ प्रवेश किया, और इसलिए उसने भारतीय राजनीति में प्रलय मचा दी। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे भारत का अधिकांश भाग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रादेशिक स्वामित्व के अन्तर्गत चला गया। क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज़, वैलेजली तथा डलहौजी मुख्य नायक थे जिन्होंने साम्राज्यवादी आधिपत्य की स्थापना के इस कार्य को सम्पादित किया।

---

1. किन्तु कहीं-कहीं राजनीतिक एकीकरण के उदाहरण भी थे। पश्चिमी भारत में मराठों की शक्ति का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेकिन पानीपत के युद्ध (1761) ने उनको भारी आघात पहुँचाया।

किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से एशिया का मन तथा आत्मा एक बार पुनः निश्चित रूप से जाग गए हैं। आज एशिया भयंकर शक्ति से स्पन्दित है। जिन प्रमुख नेताओं तथा महान् विभूतियों को एशियायी कुम्भकरण के इस भयंकर जागरण का श्रेय है, उसमें तिलक, गाँधी और कमाल पाशा का स्थान विशेषतः उच्च तथा अद्भुत है। आज अखिल एशिया में राष्ट्रवाद की शक्तियां उत्तरोत्तर बलवती हो रही हैं, और साथ ही साथ आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्रचना की माँग भी जोर पकड़ रही है। आधुनिक भारत में नयी राजनीतिक तथा सामाजिक शक्ति उद्दाम वेग के साथ उमड़ रही है। यह निश्चित करना कठिन है कि भारत में आधुनिक युग वास्तव में कब आरम्भ होता है। कभी-कभी मान लिया जाता है कि इस देश में आधुनिक युग, कम से कम अपने आद्य रूप में, सोलहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो जाता है। उस युग में देश के एकेश्वरवाद तथा भक्ति-मार्ग की गहरी छाप पड़ रही थी, और भक्ति-मार्गियों ने आध्यत्मिक तथा सामाजिक एकता का पाठ पढ़ाया था। तुर्क आक्रमणकारियों ने देश में आग्नेयास्त्रों का चलन आरम्भ किया। कुछ मुगल बादशाह धार्मिक सहिष्णुता के प्रबुद्ध समर्थक थे, और उन्होंने ऐसी प्रशासन व्यवस्था स्थापित की जो समकालीन पाश्चात्य राजाओं की प्रशासन व्यवस्था से अधिक प्रगतिशील थी। वास्को-डी-गामा 1498 में भारतीय तट पर उतरा, और तब से भारत के कुछ प्रदेशों के द्वार पश्चिमी व्यापारियों, उपनिवेशवादियों और आक्रमणकारियों के लिए खुल गए। इन सबसे स्पष्ट है कि सोलहवीं शताब्दी में भारत में कुछ ऐसे तत्त्वों का प्रादुर्भाव हो चुका था जिनकी प्रकृति आधुनिक थी। किन्तु आधुनिक सैनिक औद्योगिकी (टेक्नालॉजी) और पाश्चात्य बौद्धिक तथा वैज्ञानिक चिन्तनधाराओं के उच्च पहलुओं से भारत का सीधा सम्पर्क अठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जा कर हुआ। यह सत्य है कि पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान के प्रचार से देश में बौद्धिक अनुसन्धान की नयी भावना उत्पन्न हुई जिसका प्रयोग धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए किया गया।

भारत का बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। जिस प्रकार इटली के पुनर्जागरण तथा जर्मनी के धर्म-सुधार आन्दोलन ने यूरोपीय

राष्ट्रवाद[1] के उदय के लिए बौद्धिक आधार का काम किया था, उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत्त आत्मनिर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न की। भारतीय आत्मा के जागरण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्रों में हुई, और राजनीतिक आत्मचेतना का उदय उसके अपरिहार्य परिणाम के रूप में हुआ।

पुनर्जागरण काल से ब्रह्माण्ड विद्या की समस्याओं के सम्बन्ध में भी नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आरम्भ हुआ। किन्तु भारतीय पुनर्जागरण के मूल में तत्त्वत: नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं का प्राधान्य था।[2] भारतीय पुनर्जागरण में अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रवृत्ति अधिक बलवती थी। भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन के कुछ नेताओं ने खुले रूप में इस बात का समर्थन किया कि हमें संकल्पपूर्वक वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों के आधार पर अपने वर्तमान जीवन को ढालना चाहिए। उन्होंने उन भारतीयों की निन्दा की जो हक्सले, डार्विन, मिल और स्पेंसर के विचारों से प्रभावित थे तथा जिनका जीवन-दर्शन आध्यात्मिकता तथा राष्ट्र-प्रेम से पूर्णत: शून्य हो गया था। अतीत को पुनर्जीवित करने की यह भावना आक्रामक तथा अहंकारपूर्ण विदेशी सभ्यता की महान् चुनौती के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई थी। चूंकि यह सभ्यता राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से बलशाली थी, इसलिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना और भी अधिक स्वाभाविक था। पश्चिम की यान्त्रिक सभ्यता तथा भारत की धार्मिक तथा पुण्यशीला संस्कृतियों के बीच इस संघर्ष से नये भारत का उदय हुआ।[3] कुछ सीमा तक पुरानी संस्कृतियाँ सामन्ती व्यवस्था की मरणोन्मुखी आर्थिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती थीं,

---

1 पुनर्जागरण तथा धर्म-सुधार के प्रभाव के कारण मध्ययुग के सार्वभौमिकता के आदर्श का ह्रास हुआ और राष्ट्रवाद की विजय हुई।

2. इतालवी पुनर्जागरण के पाडुवा सम्प्रदाय (Padua School) ने, जिसके नेता पौम्पोनात्सी और क्रेमौनिनी थे, मनुष्य के नैतिक मूल्य पर बल दिया था।

3. जे० एन० फार्कुहार ने अत्यधिक अतिरंजित ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईसाइयत के एकेश्वरवाद, दैवी धार्मिकता, ईश्वर के पितृत्व तथा आध्यात्मिक आराधना आदि धारणाओं का आधुनिक भारतीय चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। देखिए—जे० एन० फार्कुहार, Modern Religious Movements in India, पृ० 430-444। अलबर्ट स्वाइट्जर का कथन है कि यूरोप तथा ईसाइयत के 'जीवन तथा विश्व को स्वीकार करने' के सन्देश का तथा प्रेम के आदर्श का आधुनिक भारतीय चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। देखिए—अलबर्ट श्वाइट्जर, Indian Thought and its Development, पृ० 209।

और उसके विपरीत ब्रिटिश शक्ति व्यापारिक उत्पादन तथा वाणिज्य पर आधारित पूँजीवादी अर्थतन्त्र की प्रतिनिधि थी।

विदेशी राजनीतिक शक्ति के आघात के विरुद्ध बचाव की व्यवस्था के रूप में देश की प्राचीन संस्कृतियाँ पुन: सचेत तथा सचेष्ट हो उठीं तथा अपने अस्तित्व को पुन: आग्रहपूर्वक जताने लगीं। प्राचीन ग्रन्थों का नये मानवतावादी तथा सर्वराष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया जाने लगा। प्राय: प्राचीन धर्मशास्त्रों में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का बीज ढूँढ निकालने का भी प्रयत्न किया गया। चूंकि विदेशी साम्राज्यवाद ने अत्यन्त क्रूर और विनाशकारी तरीकों से काम लिया था, और भारत की मैसूर, मराठा, सिक्ख आदि बड़ी-बड़ी शक्तियाँ धीरे-धीरे भूमिसात हो गई थीं। अत: देश की स्थिति अत्यन्त विषम और बलहीन हो गयी। ऐसी स्थिति में देशवासियों के सामने धार्मिक तथा आध्यात्मिक सान्त्वना को छोड़कर और कोई चारा नहीं रह गया था। परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार मध्य युग में इस्लाम तथा हिन्दू शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष की प्रक्रिया ने भक्ति-मार्ग तथा नानक (1469-1539), कबीर (1440-1518), चैतन्य, तुलसीदास (1532-1623) और सूरदास के सम्प्रदायों को जन्म दिया था वैसे ही ब्रिटेन की प्रचण्ड राजनीतिक शक्ति तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण आन्दोलन आदि का उदय हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार ने एक ऐसा नया बुद्धिजीवी वर्ग उत्पन्न कर दिया था जिसकी देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में कहीं कोई जड़ें नहीं थीं। उनमें से कुछ ने या तो ईसाई धर्म को अंगीकार करके संतोष किया, या बुद्धिवाद और प्राकृतिक धर्म के सामान्य जीवन-दर्शन के अनुयायी बन गए। किन्तु इस बुद्धिजीवी वर्ग के कुछ लोगों ने प्राचीन धर्मशास्त्रों की शरण ली और उत्साह के आवेश में आकर अतिरंजित ढंग से उनका गुणगान किया।

इस पुनर्जाग्रत नवीन भारत के निर्माण में जिन महान् शक्तियों ने योग दिया उनमें ब्रह्म समाज[1] का स्थान अग्रगण्य है। इस संस्था ने बंगाल में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक तथा सामाजिक कार्य

---

1. ब्रह्म समाज की स्थापना 23 जनवरी, 1830 को हुई थी, यद्यपि उसने धर्म प्रचार का काम 1828 में ही आरम्भ कर दिया था।

किया तथा अनेक प्रकार से दीन-दुखियों की सेवा-सहायता की। देश के अन्य भागों में भी ब्रह्म समाज का प्रभाव पड़ा। राजा राममोहन राय (1772-1833), देवेन्द्र नाथ ठाकुर (1817-1905) तथा केशवचन्द्र सेन (1838-1884) ब्रह्म-समाज के मुख्य नेता थे। यह आन्दोलन कट्टर एकेश्वरवाद,बौद्धिक हेतुवाद, उपनिषदों के अद्वैतवाद तथा इसाई भक्तिवाद का समन्वय था। राजा राम मोहन राय उन विद्वानों में से थे जिन्होंने पहले-पहले तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन प्रारम्भ किया था, यही कारण था कि बेंथम तक ने उन्हें 'मानव-सेवा के क्षेत्र में कार्य करने वाले एक प्रशंसित और प्रिय सहयोगी' कहकर अभिनन्दित किया था। राजा राममोहन राय सन् 1820 के बाद के यूरोपीय राष्ट्रीय आन्दोलनों से परिचित थे, और उन्हें उनकी राजनीतिक मुक्ति की आकांक्षाओं से हार्दिक सहानुभूति थी। ब्रह्म समाज ने सामाजिक गतिहीनता का विरोध किया है, और इस संस्था के लिए यह श्रेय की बात है कि जगदीशचन्द्र बोस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, ब्रजेन्द्रनाथ सील और विपिनचन्द्र पाल पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था।

आर्य समाज भारत का अन्य शक्तिशाली धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन रहा है। इसकी स्थापना 1875 में हुई थी। इस समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द वेदों के अद्वितीय पण्डित, शास्त्रार्थ-समर के महासेनानी, प्रथम श्रेणी के नैयायिक और धार्मिक एकेश्वरवाद के महान उपदेष्टा थे। उन्होंने घोषणा की कि सब मनुष्यों को वेदाध्ययन का जन्मसिद्ध अधिकार है। यद्यपि आर्य समाज विशुद्ध वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का समर्थक रहा है, फिर भी उसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की, विशेषकर पंजाब में, महान सेवा की है। उसने उत्तरी भारत की हिन्दू जनता में गहरी जड़ें जमा ली थीं। उसने हिन्दुओं में एक नयी आक्रामक भावना उत्पन्न की। समाज-सुधार का भी उसने समर्थन किया। हंसराज तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने डी० ए० वी० कालेज, लाहौर[1] तथा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करके शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आर्य समाज के बड़े नेता लाला लाजपत राय आधुनिक भारतीय राजनीति की महान् विभूतियों में से थे, और अनेक

1. डी० ए० वी० कालेज की स्थापना का मुख्य श्रेय हंसराज, गुरुदत्त विद्यार्थी (1864-90) तथा लाला लाजपत राय को था।

वर्षों तक उनका तिलक तथा गोखले के साथ घनिष्ठ साहचर्य रहा था।

यूरोप के भारत-विद्या-विशारदों तथा दार्शनिकों ने भी प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करके भारतीयों की आत्मविश्वास की भावना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। विल्किन्स, जोन्स, कोलब्रुक (1765-1837) तथा एच० एच० विल्सन महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद के लिए उल्लेखनीय हैं। शोपेनहावर ने उपनिषदों को ऐंक्वितिल डूपीरों के दोषपूर्ण लैटिन अनुवाद[1] के माध्यम से पढ़ा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों का अध्ययन सबसे अधिक लाभदायक तथा आत्मा को प्रसन्नता देने वाला और उदात्त बनाने वाला है। रॉथ, बीएट-लिंग्क, लासेन (1800-1876), ईबर्नोफ (1807-1852) तथा ओल्डेनबर्ग भारत-विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे।[2] ई० सेनार्ट, एच० याकोबी, हिल्लेब्रांड्ट, आर० गार्वे, वैवर, लुडबिग, मोनियर-विलियम्स, हैनरी एस० लीवी, मैकडॉनल, ह्विटने, ब्लूमफील्ड आदि भी संस्कृत के प्रख्यात विद्वान थे। पश्चिम के अनेक प्राच्य-शास्त्रियों तथा भारत-विद्या-विशारदों ने तो प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक इतिहास तथा भाषा जीवाश्म विज्ञान के आधार पर विवेचन करके ही सन्तोष कर लिया, किन्तु शोपेनहावर, श्लोगेल,[3] मैक्समूलर, डॉयसन आदि विचारकों ने प्राचीन भारत की बड़ी प्रशंसा की। इस देश में उनकी प्रशंसात्मक टिप्पणियों का प्राचीन धर्मशास्त्रों के महत्त्व तथा उनमें विद्यमान बहुमूल्य ज्ञान के प्रति लोगों की श्रद्धा को अधिक दृढ़ बनाने के लिए व्यापक रूप से प्रयोग किया गया। पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के अध्ययन में जो रुचि दिखलाई, उसके फलस्वरूप तुलनात्मक पुराण-विद्या तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान नाम के नये शास्त्रों का जन्म हुआ।

---

1. विल्किन्स ने 1885 में अंग्रेजी में गीता का अनुवाद किया और जोन्स ने 1790 में अभिज्ञान शाकुन्तलम् का भाषान्तर प्रकाशित किया। विलियम जोन्स (1746-1794) ने 1784 में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की स्थापना की। 1792 मे वाराणसी में एक संस्कृत कालेज स्थापित किया गया। 1821 में कलकत्ता संस्कृत कालेज की नींव डाली गई।
2. रुडॉल्फ रॉथ ने 1846 में The Literature and the History of the Vedas प्रकाशित की। 1852 में रॉथ और वोएटलिंग्क ने आठ जिल्दों में प्रसिद्ध तथा युगपरिवर्तनकारी ग्रन्थ Worterbuch का प्रकाशन आरम्भ किया। मैक्सूलर ने 1849-75 में सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का प्रकाशन किया।
3. हैमिल्टन नाम के एक अंग्रेज ने फ्रीडरिख श्लीगल को संस्कृत सिखाई थी।

यूरोपीय भारत-विद्या-विशारदों के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र भाषाओं से सम्बन्धित था और उनकी पद्धति वैज्ञानिक थी। इसके विपरीत थियोसोफीकल सोसाइटी ने, जिसकी स्थापना 1875 में मैडम ब्लैवटस्की (1831-1891) और कर्नल औल्काट ने की थी, अध्ययनशील जनता का ध्यान प्राचीन चिन्तन के उन पहलुओं की ओर आकृष्ट किया जिनका सम्बन्ध लोकोत्तर जीवन, मृत्यु तथा मरणोपरान्त जीवन की समस्याओं से था।[1] इससे कुछ लोगों के मन में जीवन के उन मानसिक स्तरों के प्रति उत्कण्ठा जाग्रत हुई जिनका वर्णन प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों में पाया जाता था। थियोसोफी ने हिन्दू योग के विचारों और धारणाओं का वैज्ञानिक विकास की पदावली में व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया। इस थियोसोफी आन्दोलन के नेताओं में सबसे बड़ा नाम श्रीमती एनी बेसेन्ट का है। औल्काट और ब्लैवट्स्की पर बौद्धों के आचारवाद का प्रभाव पड़ा था।[2] इसके विपरीत एनी बेसेन्ट को हिन्दू धर्म से गहरी प्रेरणा मिली थी, और उन्होंने पौराणिक हिन्दू धर्म तथा मूर्ति-पूजा की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने 1893 में भारत भूमि पर पदार्पण किया। हिन्दुओं के धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी भक्ति वास्तविक, गहन तथा अद्भुत थी। उन्होंने हिन्दू संस्कृति के हर रूप और पहलू का समर्थन किया। 1913 में उन्होंने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया और उन्होंने अनेक वर्षों तक भारतीय नेताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में रहकर कार्य किया।

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। पण्डितों का वह सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं। भारतीय जाति तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं है। हाँ, कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मोटी पोथियाँ रच देने से धर्म किसी की समझ में आता है। दयानन्द और राममोहन राय तथा एनी बेसेन्ट के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू-धर्म निन्दनीय नहीं, वरेण्य है, धर्म का यह जीता-जागता रूप उसे तब दिखाई पड़ा, जब

1. थियोसोफीकल सोसाइटी के संस्थापकों तथा स्वामी दयानन्द के बीच कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था। औल्काट (1832-1907) तथा ब्लैवट्स्की 1879 में भारत आए। किन्तु इन दोनों नेताओं तथा कट्टर वेदवादी दयानन्द के बीच सहयोग सम्भव नहीं हो सका।
2. 1880 में औल्काट और ब्लैवट्स्की ने लंका में बौद्धों के पंचशील की दीक्षा ली थी।

रामकृष्ण परमहंस (1836-1886) का आविर्भाव हुआ।

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का जन्म बंगाल के हुगली जिले के अन्तर्गत कामारपुकुर ग्राम के एक सद्ब्राह्मण परिवार में 17 फरवरी सन् 1836 ई०, (फाल्गुन शुक्ल द्वितीया) बुधवार को हुआ था। उनके पिता का नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय तथा माता का नाम चन्द्रमणि देवी था।

चन्द्रकला के समान शिशु दिन पर दिन बढ़ने लगा। उस छोटे से बालक को केन्द्रित कर उस ब्राह्मण दम्पत्ति को अनेक लौकिक लीलाएँ दिखाई देने लगीं। पाँचवे वर्ष में श्रीरामकृष्ण को विद्यारम्भ संस्कार कराकर उन्हें गांव की पाठशाला में पढ़ने को भेजा गया। वे श्रुतिधर व स्मृतिधर थे। एक बार भी वह जो कुछ देख या सुन लेते, किसी भी प्रकार भूलते नहीं थे। यह कहना कठिन है कि श्रीरामकृष्ण के जीवन में दिव्यभाव का विकास सर्वप्रथम कब हुआ था। पर उनका दैवीस्वरुप शैशवकाल में ही प्रकट होने लगा था। सात वर्ष की आयु में अकस्मात् पिता का निधन हो गया। श्रीरामकृण्ण देव का पाठशाला जाना बन्द हो गया और उनके विवेकशील मन में संसार का सच्चा स्वरुप एकदम भासित हो उठा। पितृवियोग की इस एक ही घटना ने, इस बालक के हृदय में संसार के प्रति तीव्र वितृष्णा ला दी।

कलकत्ता के कालीमन्दिर में प्रधान पुजारी के रुप में पण्डित रामकुमार नियुक्त हुए। श्रीरामकृष्णदेव भी झामापुकुर से वहाँ कभी-कभी आया करते थे। देव इच्छा से शीघ्र ही वे भी पूजा कार्य में नियुक्त हुए। उस समय वे इक्कीस या बाईस वर्ष के थे। कुछ दिनों तक काली मन्दिर में पूजा करने के बाद श्रीरामकृष्ण के मन में प्रश्न उठा—" मै जो पूजा कर रहा हूँ वह किसकी कर रहा हूँ? मृण्मयी माँ की, या चिन्मयी माँ की? माँ यदि चिन्मयी हैं तो फिर मेरे इतने रोने-पीटने के बाद भी दर्शन क्यों नहीं देती? जगन्माता के दर्शनार्थ श्रीरामकृष्ण की व्याकुलता दिन पर दिन बढ़ती गई। दोपहर को मन्दिर बन्द हो जाने पर वे पंचटवी में चले जाते और वहीं पर गम्भीर ध्यान में मग्न हो जाते। एक दिन पूजा के बाद वे मन्दिर में बैठे अश्रुपूर्ण नेत्रों से गाते हुए 'माँ' को भजन सुना रहे थे। उसी समय उनके मन में विचार आया कि यदि माँ के दर्शन न मिले तो फिर इस

जीवन धारण से लाभ ही क्या? इतने में उनकी दृष्टि मन्दिर की दीवार से लटकती हुई तलवार पर पड़ी। उसके आघात से उसी क्षण जीवन को समाप्त कर डालने के इरादे से उन्होंने उन्मत्त की तरह झपटकर तलवार खींच ली। वे अपने गले पर प्रहार करने ही वाले थे कि सहसा उन्हें माँ की ज्योर्तिमयी मूर्ति के दर्शन हुए और वे बेसुध होकर गिर पड़े।

श्रीरामकृष्ण देव सदा 'माँ, माँ' कहते हुए रोते और 'भूतिर खाल' तथा 'बुधुई मोडल' नामक श्मशानों में जाकर अकेले तरह-तरह की साधनाएँ करने में अपना अधिकांश समय बिताते। अपने पुत्र को बाहर से बहुत कुछ शान्त देखकर चन्द्रमणि देवी थोड़ी आश्वस्त हुई। पुत्र रामेश्वर तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों के साथ विचार-विमर्श करने के बाद वे गुप्त रूप से उसके विवाह का आयोजन करने लगीं। एक दिन भावाविष्ट हो श्री रामकृष्ण देव ने चन्द्रमणि देवी से कहा—''जयरामवाटी के रामचन्द्रमुखोपाध्याय की कन्या (मेरे लिए) चिह्नित कर रखी हुई है। देखो जाकर!'' पर कन्या बहुत ही छोटी थी। अभी उसे सिर्फ छठा साल लगा था। होनहार जानकर चन्द्रमणि देवी ने उसी कन्या के साथ अपने पुत्र का विवाह तय कर लिया। 1858 ई० के मई माह में यह परम शुभ विवाह सम्पन्न हुआ।

एक दिन उन्होंने माँ काली से कहा—''माँ! मैं, तो पढ़ना-लिखना नहीं जानता, तू ही कृपा करके मुझे सभी धर्मों का सभी शास्त्रों का सार बलता दे।'' तब से जगदम्बा की इच्छा से विभिन्न धर्मो के, विभिन्न भावों के आचार्य और धर्म-गुरू दक्षिणेश्वर आने लगे और श्रीरामकृष्ण देव को क्रमश: विविध धर्मों की साधना में दीक्षित करने लगे।

श्रीरामकृष्ण देव आद्याशक्ति की विशेष इच्छा से दीर्घ छः महीने तक लगातार निर्विकल्प समाधि में अवस्थान किए थे। जगदम्बा की इच्छा से वे जान गए थे कि वे ईश्वर के अंश हैं। कभी वे स्वयं को निर्गुण, सगुण ब्रह्म, ईश्वर या जगदम्बा का अंश मानते तो कभी पूर्णब्रह्म, सनातन। इस प्रकार वे निर्विकल्प-सविकल्प, अद्वैत-द्वैत, विज्ञान पराभक्ति की अवस्थाओं में विचरण किया करते थे। इस समय श्रीरामकृष्ण देव जातिस्मरत्व की सहायता से ठीक-ठीक समझ गए थे कि नित्य-

शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाववान् है, अवतार पुरुष हैं और वर्तमान् युग की धर्मग्लानि को दूर कर लोक कल्याण साधने के लिए उन्होंने देह धारण किया है।

अप्रैल सन् 1885 ई० में श्रीरामकृष्ण के गले के रोग का सूत्रपात हुआ। परन्तु चिकित्सकों के मना करने पर भी उन्होंने बातचीत करना बन्द नहीं किया। शारीरिक अवस्था से बेखबर वे सदा ईश्वरीय भाव में डूबे रहते थे। 15 अगस्त 1886 ई०, रविवार रात को एक बजकर दो मिनट पर (दूसरे मत के अनुसार एक बजकर छ: मिनट पर) सहसा श्रीरामकृष्ण का शरीर बार-बार पुलक के साथ रोमांचित हो उठा। आँखे स्थिर तथा दृष्टि नासाग्र में स्थिर हो गई। अंग-प्रत्यंग से एक अभूतपूर्व दिव्यानन्द का स्पन्दन फूट पड़ा। वे फिर गहरी समाधि में डूब गए। यही उनकी अन्तिम समाधि थी जो बाद में महासमाधि में परिणत हुई। श्रीरामकृष्ण देव स्व स्वरूप में विलीन हो गए।

स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन से रामकृष्ण अनेक बातों में भिन्न थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय परम्परा के उद्‌भट पण्डित तथा केशवचन्द्रसेन पाश्चात्य चिन्तन की दृष्टि से प्रभावित थे। इनकी तुलना में परमहंस देव अपेक्षा कृत अल्पशिक्षित व्यक्ति होते हुए भी अद्‌भुत आध्यात्मिक प्रतिभा और दार्शनिक चेतना से सम्पन्न व्यक्ति थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय और केशवचन्द्रसेन मैदान में इसलिए आए थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी। किन्तु रामकृष्ण देव को किसी भी धर्म के प्रति कोई आक्रोश नहीं था। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन संस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे, किन्तु, रामकृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं था। वे अपनी बातें सुनाने को आश्रम से बाहर नहीं गए, न हिन्दुओं से उन्होंने कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है।[1]

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दू धर्म बहुत दिनों से रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु, अब अंग्रेजी शिक्षा के

1 संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 570-71।

प्रसार एवं ईसाइयों के कुप्रचार से वे रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे थे। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध काफी सघन हो चुका था, किन्तु दुर्भाग्यवश तत्कालीन अंग्रेजी साहित्य में नास्तिकता के ओजस्वी विचार प्रधान होते जा रहे थे एवं उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धान्तों का पता चला था, उनसे भी यह सहित्य पूर्णरूपेण व्याप्त था।

परिणाम इसका यह हुआ कि अंग्रेजी भाषा के प्रचार के साथ भारत में भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव, भारतीय धर्म और संस्कृति के सामने एक नहीं तीन शत्रु थे। पहला हिन्दू धर्म और रुढ़ियाँ एवं अन्ध-विश्वास दूसरा ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली हिन्दुत्व की निन्दा और भ्रान्त व्याख्या तथा तीसरा अंग्रेजी पढ़े लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिए जो ढंग और साधन अनिवार्य थे, उनका सन्धान केशवचन्द्र सेन जैसे चिन्तकों ने कर लिया था। किन्तु धर्म वास्तव में कैसा होता है, इसका प्रमाण वे नहीं दे सके थे।[1]

वाद-विवाद, तर्क और पाण्डित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्तों और संगठनों से धर्म की सिद्धि नहीं होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आए हैं जिसने धर्म के महासत्यों को केवल जाना ही नहीं, उनका अनुभव और साक्षात्कार भी किया है। श्रीरामकृष्णदेव के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नहीं है,वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं और उनके सामने संसार की सारी तृष्णाएँ, सारे सुख भोग तृणवत् नगण्य हैं।

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दु, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रकार लड़ रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब रामकृष्ण देव ने सभी धर्मों के मूलतत्व को अपने जीवन में साकार करके, मानों सारे विश्व को यह संदेश दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर

---

1. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 572।

ले जाने वाले अनेक मार्ग हैं और रामकृष्णदेव का जो उपदेश था, उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा। भारतवर्ष की धार्मिक समास्या का जो समाधान रामकृष्णदेव ने दिया है उससे बड़ा और अधिक उपयोगी साधन और कोई नहीं हो सकता। क्रम-क्रम से वैष्णव, शैव, शाक्त, तान्त्रिक, अद्वैतवादी, मुसलमान और ईसाई बनकर रामकृष्णदेव ने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्मों के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। उनसे मूलतत्त्व में कोई फर्क नहीं पड़ता है। साधन और मार्ग अनेक हैं। उनमें से मनुष्य किसी को भी चुन सकता है। 'शान्ति' मार्ग से नहीं, अनुभूति से मिलती है। जब तक तुम अनुभूति की ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

श्रीरामकृष्णदेव उस ऊँचाई के मनुष्य थे जहाँ से सभी धर्म सत्य और सब के सब समान दिखते हैं, जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती, जहाँ धर्म अपनी राजनैतिक एवं सामजिक द्वन्द्व को छोड़कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है।

श्रीरामकृष्ण देव आजीवन बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छीटों से ही जन्म-जन्म की तृषा शान्त हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित्र ऐसे महापुरुष का चरित्र है जो जीवन के अन्तिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथ्वी के वासी थे एवं पृथ्वी से ही वे ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु, रामकृष्ण, दैवी अवतार की भाँति आये। पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आए। दृश्य की ओर से चलकर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसोफिस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर रामकृष्ण परमहंस ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन

अनन्त ऋषियों और सन्तों की कथाएँ सुनी जाती हैं, वे झूठ नहीं है।[1]

गाँधीजी का वचन है कि रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आए हुए जीवित धर्म की कहानी है। कहते हैं, केशवचन्द्र सेन के समय, ब्रह्मसमाज में भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ, वह ब्राह्मसमाजियों की रामकृष्ण से संगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्राह्मसमाजी, साधक और विद्वान् आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "धर्म किसे कहते हैं? यह बात श्री रामकृष्ण देव की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।"[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में विज्ञान और भौतिकतावाद उत्कर्ष प्राप्त करते जा रहे थे। उनके बढ़ते हुए चरण भारत के अध्यात्म्-उद्यान को कुचल रहे थे। वैज्ञानिक अनुसन्धानों के प्रबल प्रहारों से पुराने अन्ध-विश्वास चीनी-मिट्टी के बर्तनों की तरह चकनाचूर हो रहे थे। जिनके लिए धर्म केवल कुछ मतवादों और निरर्थक अनुष्ठानों का पुञ्ज मात्र रह गया था, उनकी हालत नाजुक हो गई थी। उनके हाथों से सब कुछ खिसकता चला जा रहा था। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा जैसे अज्ञेयवाद और भौतिकवाद के उमड़ते ज्वार में सब कुछ विलीन हो जाएगा। भारतीय समाज जात-पाँत, छुआछूत आदि कुरीतियों में फँसकर अपने आत्मगौरव और पौरुष को भूलता चला जा रहा था। भारतमाता पराधीनता की बेड़ियों में पूरी तरह जकड़ी हुई थीं। इसी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में रूढ़ियों और कुरीतियों के तिमिर को दूर करने का प्रयत्न उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया था। किन्तु यह सूर्य अब अस्तगामी हो चुका था। उधर भक्तिभाव की शीतलता लिए हुए रामकृष्ण-परमहंस रूपी चन्द्र भी बंगभूमि पर से अपनी शीतल स्निग्ध किरणें समेट चुका था। रामकृष्ण परमहंस के सहजोद्गारों में समन्वयात्मक दृष्टि और भक्तिभाव की सरलता एवं आध्यात्मिक दिव्यता थी परन्तु उनमें तार्किक तीक्ष्णता का अभाव था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वेदों के आधार पर समाज में प्रचलित वाह्याडम्बरों और कुरीतियों का उच्छेदन करने का प्रयत्न किया। परन्तु स्वामीजी के सिद्धान्तों में समन्वय और सामंजस्य का अभाव एवं

---

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 573।
2. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 581।

कट्टरता की भावना अधिक थी। स्वामीजी के सिद्धान्त वेदों के प्रति श्रद्धा रखने वाले भारतीयों के लिए तो अनुकूल हो सकते थे परन्तु विचार-क्षेत्र में केवल युक्ति को ही कसौटी मानकर चलने वाले पश्चिमी दार्शनिकों को प्रभावित नहीं कर पा रहे थे। आचार्य शंकर के समय जिस प्रकार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं कि बौद्ध दार्शनिकों को केवल श्रुतियों की अपौरुषेयता की दुहाई देकर परास्त नहीं किया जा सकता था, उसी प्रकार यह समय भी वेदों की अपौरुपेयता की दुहाई देने का नहीं था। इस समय तो आवश्यकता थी एक व्यक्तित्व की जो विज्ञान और भौतिकता के आक्रमण को विशुद्ध तर्क के शरों से रोकता और अध्यात्मतत्त्व की युक्तिसंगत व्याख्या करता। इस समय आवश्यकता थी एक ऐसे युगपुरुष की जो नाना प्रकार के मत-मतान्तरों में से सबको जोड़ने वाली कड़ियों को ढूँढ निकालता और उनके पारस्परिक विद्वेष को कम करता। स्वामी विवेकानन्द जी का आविर्भाव ठीक ऐसे ही तिमिराच्छन्नकाल में हुआ।

स्वामी विवेकानन्द जिनका बचपन का नाम नरेन्द्र था, 12 जनवरी सन् 1863 ई० को कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दत्त परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता विश्वनाथ दत्त बड़े दयालु और संवेदनशील व्यक्ति थे और उनकी माता भुवनेश्वरी देवी बड़ी बुद्धिमान और ईश्वर-भक्त महिला थी। उनकी माँ ने रामायण और महाभारत को पूर्णरूप से कण्ठस्थ कर लिया था। नरेन्द्रनाथ के चरित्र और मस्तिष्क के विकास पर उनकी माँ का अटूट प्रभाव पड़ा था।

छः वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र व्याकरण 'मुक्तबोध' तथा रामायण और महाभारत के बहुत से श्लोकों को कण्ठस्थ कर लिया। सात वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र ने अंग्रेजी, बंगला साहित्य और भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया। प्रथम श्रेणी में हाईस्कूल की परीक्षा पास करने के बाद वे कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज में भरती हुए। उस कालेज में नरेन्द्र ने अंग्रेजी साहित्य, यूरोपीय इतिहास, पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत और चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया। पाश्चात्य दार्शनिकों में उनकी स्पेंसर, मिल, काण्ट और शोपेनहावर में विशेष रुचि थी। इन दार्शनिकों के गम्भीर अध्ययन ने उन्हें सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्ति बना दिया।

युवक नरेन्द्र जिज्ञासु था। ब्रह्म साक्षात्कार के बिना उसकी जिज्ञासा तृप्त नहीं हो सकती थी। इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वह महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर से मिला। मिलते ही उसने उनसे पूछा—'श्रीमान्! क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है?' महर्षि इस प्रश्न को सुनकर पर्याप्त आश्चर्यचकित हो गए। इस आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वह एक धार्मिक नेता के बाद दूसरे धार्मिक नेता से मिलता रहा, पर किसी ने उसकी जिज्ञासा की पूर्ति नहीं की।

प्रिंसिपल हेस्टी ने एक बार नरेन्द्र को श्रीरामकृष्णदेव के विषय में बताया था। इस बात का पता लगाने के लिए कि क्या सचमुच श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, युवक नरेन्द्र दक्षिणेश्वर गया। नास्तिक नरेन्द्र ने उनसे प्रश्न किया, 'श्रीमान! क्या आपने ईश्वर साक्षात्कार कर लिया है?' श्रीरामकृष्ण ने उतनी ही सरलता से उत्तर दिया 'हाँ! ईश्वर को मैं उसी प्रकार देखता हूँ जिस प्रकार कि तुम्हें देख रहा हूँ।' इस उत्तर से नरेन्द्र प्रभावित तो हुआ पर उनके उन्माद को देखकर उसे सहसा उनकी बातों पर विश्वास न हुआ। पर एक-दो बार मिलने के बाद नरेन्द्र की आँखें खुलीं और उसने श्रीरामकृष्ण की गुरुता को पहचाना। उनकी बातों पर सहसा उसे विश्वास होने लगा।

नरेन्द्रनाथ के मन में ये सारे अन्तर्द्वन्द्व चल ही रहे थे कि एक दिन उसके पिता श्री विश्वनाथ दत्त जो परिवार के एकमात्र अभिभावक थे, इस संसार से चल बसे। पिता की मृत्यु ने परिवार को अभूतपूर्व आर्थिक कठिनाई में डाल दिया। जैसे-जैसे कठिनाइयाँ बढ़ती गईं, उसका ईश्वर में विश्वास भी बढ़ता गया। उसने सोचना प्रारम्भ किया कि 'यदि ईश्वर का अस्तित्व न होता तो मनुष्य के अस्तित्व का कोई मूल्य ही न होता।' अपने गुरू के चरणों में आसीन हो उन्होंने उनसे वेदान्त और उसे प्राप्त करने की विधि "निर्विकल्प समाधि" की शिक्षा ग्रहण की। सम्पूर्ण प्राचीन ज्ञान का रहस्य उन्हें श्रीरामकृष्ण देव से प्राप्त हुआ। मृत्यु के पहले श्रीरामकृष्ण देव ने एक धर्मसंघ

की स्थापना की थी, जिसके स्वामी विवेकानन्द प्रमुख थे। आध्यात्मिकता की वृद्धि और मानवता की सेवा करना ही इस संघ का उद्देश्य था। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सन् 1888 ई० में वे भारत-भ्रमण के लिए निकले।

अपनी यात्रा के बीच जब वे खंडवा में थे, उन्हें पता चला कि सन् 1893 ई० में अमेरिका के शिकागो नगर में धर्म संसद की बैठक हो रही है। उन्होंने उसमें भाग लेने की इच्छा व्यक्त की। धर्म-संसद में भाग लेने के उनके दो उद्देश्य थे—प्रथम तो यह कि वे अन्य धर्मों के ऊपर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते थे और द्वितीय यह कि वे भारत की गरीबी के निवारण के लिए अमेरिका की समृद्धि का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे।

स्वामी विवेकानन्द ने 31 मई 1893 ई० को बम्बई से अपनी अमेरिका की यात्रा प्रारम्भ की। लंका, सिंगापुर, हांगकांग और नागासाकी होते हुए जुलाई के मध्य तक वे शिकागो पहुँचे। इस यात्रा से उन्हें एशिया की सांस्कृतिक एकता का दर्शन हुआ और इसमें भारतीय योगदान की भी उन्हें झांकी मिली।

शिकागो पहुँचने पर जब उन्होंने अमेरिका की शक्ति, धर्म, सृजनात्मक प्रतिभा और समृद्धि को देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। 12 दिन बाद वे शिकागो के सूचना-केन्द्र पहुँचे। वहाँ पता चला कि अब धर्म संसद में भाग लेने के लिए पंजीकरण असंभव है, और यदि पंजीकरण संभव भी है तो वह आधिकारिक परिचय-पत्र के बिना नहीं हो सकता। स्वामी विवेकानन्द के पास इस प्रकार का कोई परिचय-पत्र नहीं था। उन्हें परिचय-पत्र की आवश्यकता भी न थी। वे जहाँ कहीं जाते, लोगों के ध्यान के आकर्षण-केन्द्र बन जाते थे। जब वे एक दिन बोस्टन ट्रेन से यात्रा कर रहे थे, उसमें मैसेचुसेटस की एक धनी महिला से उनकी भेंट हो गई। उस महिला ने स्वामीजी का हार्वर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी विभाग के प्राध्यापक जे० एच० राइट से परिचय कराया। प्रो०

राइट स्वामी विवेकानन्द की विद्वता और ज्ञान से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने मित्र और प्रतिनिधियों की चयन समिति के अध्यक्ष डा० बैरो को पत्र लिखा, 'यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है, जो हमारे सभी प्राध्यापकों के संयुक्त ज्ञान से भी अधिक ज्ञान रखता है।'[1] उन्होंने स्वामीजी को शिकागो के लिए एक रेलवे टिकट और चयन-समिति के लिए एक संस्तुति पत्र दिया और कहा कि स्वामीजी धर्म-संसद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करेंगे।

सोमवार 22 सितम्बर, 1893 ई० को धर्म-संसद का प्रथम अधिवेशन कोलम्बस हाल में प्रारम्भ हुआ। शाम के अधिवेशन में अध्यक्ष ने स्वामीजी से अपना भाषण देने का अनुरोध किया। अमेरिकावासियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—'बहनों और भाइयों। हिन्दू धर्म सभी धर्मो का जनक है। यह वह धर्म है जिसने संसार को सहिष्णुता और सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया।

स्वामीजी ने यह सिद्ध किया कि धर्म में साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्धता इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। अमेरिका वाले उनके विचारों से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शन के आचार्य पद का कार्यभार तथा कोलम्बिया विश्वविद्यालय में संस्कृत के आचार्य पद का कार्यभार देने का प्रस्ताव किया गया। स्वामीजी ने बड़े विनम्र भाव से इन पदों को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वे सन्यासी हैं।

धर्म परिषद का कार्य समाप्त कर स्वामी जी 7 अगस्त, 1895 ई० को इंग्लैण्ड आए। लन्दन में नियमित रूप से उनकी वेदान्त की कक्षाएँ चलती थीं। इंग्लैण्ड की एक धर्म-सभा में उनकी भेंट मिस मारगरेट-नोवेल से हुई जो आगे चलकर भारत में भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। स्वामीजी ने अपने भारतीय शिष्यों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए पश्चिम में भेजा और अपने पश्चिम के शिष्यों को विज्ञान और प्रविधि की शिक्षा देने के लिए भारत में भेजा। इंग्लैण्ड में स्वामीजी का कार्यक्रम इतना व्यस्त रहा कि वे क्लांति का अनुभव करने लगे। इस क्लांति और थकान को मिटाने के लिए

---

1. Here is a man who is more learned than all our learned professors put together.

उन्होंने स्विटजरलैण्ड की यात्रा का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ की शान्ति और ताजगी ने उनकी सम्पूर्ण मानसिक थकान को समाप्त कर दिया।

पश्चिमी देशों पर अपनी और भारत की आध्यात्मिक विजय के बाद स्वामीजी भारत लौट आए। लौटने पर भारत में उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण और उन्नयन में उनके विशेष योगदान की सर्वत्र चर्चा होने लगी। स्वदेश लौटने पर उन्होंने अपना सारा समय अद्वैत संघ जिसको उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव की मृत्यु के बाद स्थापित किया था, के कार्य कलापों में लगा दिया। वेदान्त की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देना ही इस संघ का प्रमुख उद्देश्य था। आज भी देश के विभिन्न भागों में अद्वैत संघ की शाखाएँ, सांस्कृतिक उन्नयन और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के कार्य में लगी हैं। स्वामी विवेकानन्द की देश को यह सबसे बड़ी देन है।

श्रीरामकृष्ण मिशन के कार्यों की व्यस्तता के कारण स्वामीजी को दमा और मधुमेह की बीमारी हो गई थी। अन्त में चार जुलाई 1902 ई० को केवल 39 वर्ष और कुछ महीनों की अवस्था में उनका देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु से भारत की कितनी अपूरणीय क्षति हुई, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

स्वामी विवेकानन्द के एक ही व्यक्तित्व में गीता की समन्वयात्मकता, आचार्य शंकर की तर्कपटुता, भक्त की भाव-प्रवणता और समर्पित देशभक्त की राष्ट्रीयता विद्यमान थी। 'उनका समस्त चिन्तन समन्वयात्मक शैली से अनुप्राणित है'। शिकागो-धर्म-सम्मेलन में जहां सब अपने-अपने ईश्वर की चर्चा कर रहे थे वहाँ स्वामी विवेकानन्द ने एक सार्वभौम धर्म की चर्चा कर शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली थी। उन्होंने न केवल द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत आदि वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में, अपितु विश्व के समस्त धर्मों और सम्प्रदायों में भी सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी प्रवृत्ति के कारण वे जैसा कि भगिनी निवेदिता के शब्दों में स्वामी विवेकानन्द प्राच्य-पाश्चात्य, प्राचीन-अर्वाचीन, एवं दर्शनशास्त्र और विज्ञान के मिलन-केन्द्र बन गए, सम्प्रदाय एवं

धर्मों की अनेकरूपता में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हुए भी साम्प्रदायिकता एवं संकीर्णता के वे प्रबल विरोधी थे। उन्होंने वेदान्त को संकीर्णता और साम्प्रदायिकता से हटाकर विश्वव्यापक रूप देने का प्रयत्न किया। वेदान्त के आदर्शों को व्यावहारिकता के धरातल पर अवतरित कर देने वाले इस युग के वे प्रथम देवदूत थे। भगिनी निवेदिता ने कहा है—यदि स्वामी विवेकानन्द न हुए होते तो आज सहस्रों लोगों को जीवनदायी सन्देश प्रदान करने वाले वेदान्त के सिद्धान्त पण्डितों के विवाद के विषय ही बने रह जाते। वेदान्त को तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों का पुञ्ज मानने वाली परम्परा के वे विरुद्ध थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्त को बुद्धिगम्य और विज्ञानसम्मत रूप में ही प्रस्तुत किया। वे आजीवन विद्युत के समान संचार कर देने वाले चेतना-युक्त शब्दों से भारतीयों में आत्मतेज और आत्मगौरव को जगाने का प्रयत्न करते रहे। पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में वे अवसादग्रस्त तथा हतोत्साह हिन्दू मन के लिए संजीवनी शक्ति के रूप में आए थे। गरीबी और भुखमरी जैसी मानवीय समस्याओं के प्रति उनका हृदय इतना अधिक संवेदनशील था कि इन समस्याओं को दूर करने के आगे वे धर्म और अध्यात्म की भी बातें भूल जाते थे। उन्होंने मानवीय समस्याओं को हल करने में जुट जाने को ही आज का सबसे बड़ा धर्म बताया। उनके विचार राष्ट्रीयता से इतने ओत-प्रोत थे कि उन्होंने कहा—"जब तक भारत का कुत्ता भी भूखा है तब तक उसके लिए रोटी जुटाना ही तुम्हारा बड़ा धर्म है। अमेरिका से लौट कर हिन्दुओं को जगाते हुए स्वामीजी ने सिंह-गर्जना की—"तुम्हारे तैंतीस करोड़ देवता सोए हुए हैं। जगा हुआ देवता केवल एक है और वह है—भारत माता, जो तुम्हारे सामने खड़ी है। उठो, सोए हुए देवताओं को छोड़कर तुम इस जाग्रत देवता की सेवा में लग जाओ।" यही धर्म है, यही परमात्मा का आराधन है।

श्रीरामकृष्ण देव के सपनों को साकार करने वाले स्वामी विवेकानन्द थे। वस्तुतः स्वामीजी का व्यक्तित्व और जीवन दर्शन श्रीरामकृष्ण देव द्वारा साक्षात् कृत सत्य की व्याख्या मात्र थी। ऐसा स्वामीजी स्वयं अनुभव करते थे। स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरु श्री रामकृष्ण देव की चिन्तन पद्धति और मूल्य दृष्टि से जिस जीवन दर्शन और आदर्शों की स्थापना की वे ही रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के नाम से इतिहास में प्रतिष्ठित हुए।

भावों की धारा का मूलत्तत्व—भाव-की रामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्दर्भ में विशिष्टता क्या है? अब विचारणीय है कि इस ' रामकृष्ण भावधारा की विशिष्टता क्या है? क्या है इस भावधारा की अथ और इति?

रामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्दर्भ में इन दोनों की महत्ता है। रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा में बुद्धितत्त्व और भावतत्त्व दोनों की समान महत्ता है। संगति तथा सम्बद्धता भाव की प्राथमिक अपेक्षायें हैं। जो स्पष्टत: बौद्धिक चेतना पर आश्रित है। भावों के प्रसंग में भी बौद्धिक जागरूकता अपरिहार्य होती है। विचारहीन अनुभूति प्रलाप मात्र है। यही कारण है कि रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा अथवा दर्शन के द्वारा जहाँ एक ओर मनुष्य के हृदय पक्ष से सम्बद्ध रखने वाला धर्म सुस्पष्ट रूप में व्याख्यायित हुआ वहीं दूसरी ओर बुद्धिपक्ष से सम्बद्ध रखने वाला दर्शन भी अपनी सारी तर्क प्रवणता और युक्तिपरकता के साथ प्रतिष्ठित हुआ।

रामकृष्ण और विवेकानन्द—ये दोनों ही व्यक्ति मूलत: आध्यात्मिक अनुभूति से सम्पन्न ज्ञानी महापुरुष थे किन्तु इनका अध्यात्म जीवन के विविध पार्श्वो एवं क्षेत्रों को अपने भीतर उसी प्रकार समेटकर स्थित है जिस प्रकार परब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करता है। यही कारण है कि इन दोनों ने विशेष रूप से स्वामी जी ने विशेष रूप से भारत और सामान्य रूप से समस्त विश्व के वैर्याक्तक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन पर निर्णायक प्रभाव छोड़ा। स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन का फलक इतना विस्तृत था कि इस देश के सम्पूर्ण वर्तमान और भविष्य ने उनसे प्रेरणा और दिशा प्राप्त की। गीता के कर्मयोगी की भाँति इन दोनों महापुरुषों ने स्वयं विरक्त संन्यासी होते हुए भी समाज के सामने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में न केवल आदर्श प्रस्तुत किये, अपितु समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया। रामकृष्ण और विवेकानन्द ऐसे शुष्क शास्त्रीय दार्शनिक नहीं है जो ब्रह्म, जीव और सृष्टि की सैद्धान्तिक विवेचना में ही उलझे रहें। उन्होंने उपनिषदों के एकतत्त्ववाद के अमोघ मंत्र को मनुष्य के जीवन की समस्त विकृतियों को दूर करने वाली अमृतौषधि के रूप में समाज के सबसे असहाय और दीन व्यक्ति को भी वितरित किया। उन्होंने "आत्मामेव सर्वविदं" अथवा "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" की भावना को जीवन में साकार किया और मनुष्यमात्र की दिव्यता को

रेखांकित किया। स्वामी विवेकानन्द का कोटिशः उद्धृत यह वाक्य पुनः उद्धृत करने का लोभ संवलित नहीं कर पा रही हूँ "Each Soul is potentially divine".

श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द अर्थशास्त्री नहीं थे तो भी उन्होंने भूखे व्यक्ति को धर्म का उपदेश देने की अपेक्षा उसकी क्षुधा तृप्ति को अधिक महत्त्व दिया; वे समाजशास्त्री नहीं थे, किन्तु समाज की मूल इकाई 'व्यक्ति' के व्यक्तित्व निर्माण की बात कहकर उन्होंने मनुष्य की सामाजिकता, नैतिकता और दायित्वों की सार्थक व्याख्या की और मूलतः समाज सुधारक न होते हुए भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उन्नयन में क्रान्तिकारी भूमिका का निर्वाह किया। स्वामी विवेकानन्द वैज्ञानिक नहीं थे किन्तु उनके चिन्तन में सत्य के प्रति उत्कट जिज्ञासा, युक्तिपरकता के प्रति आग्रह और निष्पक्ष निष्कर्ष के प्रति अद्‌भुत समर्पण दिखलायी देता है। यही कारण है कि उनके विचारों और उपदेशों में सर्वत्र वह वैज्ञानिक दृष्टि दिखलायी पड़ती है जिसे पं० नेहरू "Scientific temper" कहते हैं। श्रीरामकृष्ण देव भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि पुरुष हैं तो स्वामी विवेकानन्द भारतीयता और राष्ट्रीयता के अप्रतिम उदाहरण हैं। भारत के प्रति स्वामीजी का प्रेम और समर्पण उनके प्रत्येक वाक्य से छलकता है। वे राष्ट्रवादियों में अग्रगण्य हैं और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रेरणा स्रोत हैं। स्वामीजी के प्रसिद्ध वाक्य "I am condensed India" को कवीन्द्र रवीन्द्र भी यह कहकर प्रमाणित करते हैं कि "यदि आप भारत को समझना चाहते हैं तो स्वामी विवेकानन्द का अध्ययन कीजिए। उनमें सब सकारात्मक है, नकारात्मक कुछ भी नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द में भारतीय संस्कृति को पिछले हजारों वर्षों की उपलब्धियों को समकालीन चिन्तन के नूतन आलोक में युगानुकूल बनाकर प्रस्तुत किया। वे भारत और भारतीयता के प्राण थे किन्तु सम्पूर्ण मानवता उनकी भावधारा से सिंचित होती है।

श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द दोनों ही तत्त्वज्ञ महापुरुष थे किन्तु इनका दार्शनिक चिन्तन संकुचित और सीमाबद्ध नहीं था। दोनों ही जीवन पर्यन्त दार्शनिक सत्यों की तार्किक व्याख्या के प्रति उतने रुचिमान नहीं रहे जितने कि दर्शन को जीवन में अनुभूति के स्तर पर

रूपायित करने के प्रति। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी कोई शास्त्रीय पृष्ठभूमि नहीं थी अथवा वे शास्त्रीय परम्परा से कटे हुए थे। जहाँ एक ओर रामकृष्ण असाधारण आध्यात्मिक प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे, वहीं स्वामी विवेकानन्द समस्त भारतीय दर्शन परम्परा के मर्मज्ञ और विद्वान् थे। श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन की कठोर साधना के द्वारा न केवल विभिन्न धर्मों में प्राप्त एकत्व का साक्षात्कार किया था अपितु उन्हें सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात समाधि तक की सिद्धि प्राप्त थी। वे निरन्तर भाव समाधि में रहते थे और चेतना के स्थूल पर कम ही उतर पाते थे। स्वामी विवेकानन्द भी उनकी कृपा से निर्बीज समाधि में स्थित होकर परमात्मा के निराकार स्वरूप का अनुभव कर चुके थे। वे उपनिषदों तथा अन्यान्य दार्शनिक सम्प्रदायों के ज्ञाता और नैष्ठिक सन्यासी थे। उनके व्यक्तित्व का तेज और प्रखरता उनकी आध्यात्मिक सम्पन्नता के कारण ही थे। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त को जीवन में उतारने की प्रक्रिया का उपदेश किया और वेदान्त को विश्व का भविष्यतकालिक धर्म कहा। यद्यपि उन्होंने ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि पर साधिकार व्याख्यान दिए, किन्तु उनकी आस्था वेदान्त के प्रति ही रही। उनका समस्त जीवन दर्शन अद्वैत से ही अनुप्रेरित है। मनुष्य की दिव्यता, आत्मा का एकत्व, प्रेम और सेवा के आदर्श मनुष्य में निहित अनन्त सम्भावनायें और अपरिमित बल आदि उनके सभी प्रिय सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त से निःसृत होते हैं। श्रीरामकृष्ण देव ने जिस परम् एक और अद्वितीय सत्य का अनुभव किया उसे ही विवेकानन्द ने व्यक्ति,समाज और राष्ट्र के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया। स्वामी जी वेदान्त की शास्त्रीय परम्परा से न तो अपरिचित रहे और न ही उसकी उपेक्षा की तथापि उन्होंने शास्त्रीय टीका-टिप्पणी और स्वमत स्थापन या परपक्ष खण्डन की शास्त्रार्थ शैली को तत्कालीन समाज के लिए अधिक उपयोगी न समझकर अद्वैत वेदान्त की मूल भावना को दैनन्दिन जीवन में उतारने का सार्थक प्रयास किया। इस दृष्टि से उन्होंने वेदान्त की समयानुकूल व्याख्या की और उसे पुस्तकों से निकालकर जीवन में

प्रतिष्ठित किया। इसीलिए उनके वेदान्त को "Practical Veanta" का ही नाम दिया जाता है। स्वामी विवेकानन्द के वक्तृत्व और कृतित्व से वेदान्त की यह धारा प्रच्छन्न रूप से बहती रहती है। उनका सम्पूर्ण चिन्तन अद्वैत वेदान्त की परिधि में है, भले ही उसका शास्त्रीय रूप प्रायः चर्चा का विषय न बनता हो। यूँ ही दर्शन की उपयोगिता और सार्थकता पण्डित मण्डली और पुस्तकों में सीमित रह जाने में नहीं है उसकी सार्थकता इसी बात में है कि वह जीवन का स्पन्दन बन सके।

रामकृष्ण-विवेकानन्द का अद्वैत वेदान्त कभी-कभी शंकराचार्य के केवलाद्वैत की सीमाओं में निरूद्ध नहीं रहता। वह विशिष्टाद्वैत जैसी अद्वैत की अन्य भंगिमाओं का भी स्पर्श करता चलता है। इस दृष्टि से रामकृष्ण भावधारा का अद्वैत बहुत लचीला है।

इस शोध प्रबन्ध के अगले अध्यायों में रामकृष्ण भावधारा के मूलतत्त्व, इस अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि से की गयी है और यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि उनकी वेदान्त दृष्टि शास्त्रीयता के परिप्रेक्ष्य में कैसी ठहरती है? शास्त्रीय वेदान्त के परम्परागत विचार बिन्दुओं के अन्तर्गत रामकृष्ण भावधारा के अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है और यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि यह अद्वैतदर्शन किस सीमा तक शास्त्रीयता के आग्रहों से बद्ध और मुक्त है।

———

द्वितीय परिच्छेद

का स्वरूप

ब्रह्म शब्द 'वृह्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है बढ़ना या विकसित होना। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही परम् तत्त्व है। वह ही एक मात्र परमसत्ता है। ब्रह्म को विश्व का कारण माना गया है। इससे विश्व की उत्पत्ति होती है और अन्त में विश्व ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म विश्व का आधार है।

आचार्य शंकर एकत्त्ववादी हैं। वह ब्रह्म को ही एकमात्र सत् मानते हैं। ब्रह्म को छोड़कर शेष सभी वस्तुएं—जगत्, ईश्वर-सत्य नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत्ता की तीन कोटियाँ हैं,—पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्ता। ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से पूर्णत: सत् है एवं दिक् और काल की सीमा से परे है तथा इस पर कारण नियम भी लागू नहीं होता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है। किन्तु उपनिषदों में सगुण और निगुर्ण—ब्रह्म के दोनों रूपों की व्याख्या की गई है। एकमात्र ब्रह्म ही पूर्ण एवं सत् है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही चरम लक्ष्य है। वह सर्वोच्चज्ञान है। ब्रह्म-ज्ञान सें जगत् का ज्ञान जो मूलत: अज्ञान है, समाप्त हो जाता है। ब्रह्म अनन्त, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। इसी अर्थ में ब्रह्म को विश्व का कारण माना गया है। इस विवर्त से ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक जादूगर अपने ही जादू से ठगा नहीं जाता है। अविद्या के कारण ब्रह्म नाना रूपात्मक जगत् के रूप में दीखता है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, और जगत् मिथ्या है। ब्रह्म त्रिकालाबाधित सत्ता है। वह सर्वव्यापक है, उसका आदि और अन्त नहीं है। ब्रह्म अपरिवर्तनशील है। उसका न विकास होता है न रूपान्तर होता है। वह निरन्तर एक ही समान रहता है।[1]

ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना गया है। उपनिषद् में ब्रह्म को 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं है' कहकर वर्णन किया गया है। ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का यह अर्थ नहीं है कि वह अज्ञेय है। ब्रह्म की अनुभूति होती है। इस प्रकार ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष और निराकार है। ''सत् और असत्,

---

1. It does not unfold express develop, manifest, grow and change for it is self identical throughout.
Indian Phil; Vol. II (Page 587).

—By Radhakrishnan.

एक और अनेक,.......ज्ञान और अज्ञान, कर्म और अकर्म, क्रियाशील और अक्रियाशील, फलदायक और फलहीन,......इत्यादि प्रत्यय ब्रह्म पर लागू नहीं हो सकते। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। सत् चित् और आनन्द में अवियोज्य सम्बन्ध है जिसके फलस्वरूप तीन मिलकर एक ही सत्ता का निर्माण करते हैं।'' तैत्तिरीय उपनिषद (319) में कहा गया है कि केवल वही (ब्रह्म) तत्त्व इस जगत् का मूल कारण कहा जा सकता है, जिससे सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हो, जो सभी वस्तुओं की सत्ता का आधार हो और जिसमें अन्ततः सभी वस्तुओं का लय हो। तात्पर्य यह है कि वस्तु जगत् का आदि, आधार, अन्त ब्रह्म ही है और वही ब्रह्म परम तत्त्व है।

श्री रामकृष्ण देव कहते है कि ब्रह्म विद्या और अविद्या के द्वैत से परे हैं। इसके लिए वे एक उपमा देते हैं कि जिस प्रकार पाँव में चुभे काँटे को एक दूसरे काँटे से निकालकर फिर दोनों काँटों को फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् विद्या को भी त्यागना होता है।[1] विद्या को हम सत्वगुण से भी तुलना कर सकते हैं जो अविद्या रूपी रज् और तम् के क्षीण होने पर ही आती है किन्तु उस त्रिगुणातीत परम तत्व की यथार्थ उपलब्धि हेतु इस सत्ता से भी परे जाना होता है। यहाँ ये ध्यातव्य है कि शास्त्रों में सत्य नहीं वरन् सत्य का निरूपण है।

स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म के विषय में बड़े ही सहज भाव में कहते हैं कि यह अद्वैत रूप ब्रह्म ही परम सत् है। इसे ही श्रुति कहती है सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। ब्रह्म सत, सर्वव्यापी, शुद्ध चैतन्य रूप, अन्तर्यामी है। ब्रह्म से बढ़कर कुछ नहीं। अतः उसे निरतिशय कहते हैं। ब्रह्म ही विश्व का अव्याकृत रूप है। सभी वस्तुओं का परमकारण, सभी शक्तियों का अधिष्ठान रूप है। ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निष्कलुष, निरंजन, निरुपाधि है। परन्तु स्वामी जी सगुण ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषदों का अनुगमन करते हुए वे पर और अपर अर्थात् निर्गुण और सगुण दोनों को सत्य मानते हैं। वे कहते हैं कि इन दोनों में मौलिक भेद नहीं है। दोनों एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। परम तत्व एक 'अद्वय' अनन्त ब्रह्म है, परन्तु परमतत्व परमात्मा भी है। सर्वाधार, सर्वनियन्ता,

---

1. रामकृष्णवचनामृत।

सर्वज्ञ, स्रष्टा आदि उपाधियों या विशेषणों से वही ईश्वर या भगवान् कहलाता है।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि स्वामी जी निर्गुण और सगुण का तात्त्विक भेद नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार परम तत्त्व एक, अद्वैत ब्रह्म है। वह निरपेक्ष, अनन्त और अविभाज्य है। अविभाज्य होने के कारण ब्रह्म् को निरवयव कहते हैं, क्योंकि उसका कोई अवयव या अंग नहीं है। स्वामी जी परम तत्व (ब्रह्म) को दिक्, काल और कारणता के परे भी मानते हैं। अनन्त को दिक् और काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। अनन्त ही नित्य या शाश्वत होता है, क्योंकि वह कारणजन्य नहीं होता। जो कारणजन्य होता है, वह अनित्य होता है। नित्य का कोई कारण नहीं होता। इस प्रकार निरपेक्ष परम तत्व (ब्रह्म) को दिक् काल, कारणता आदि की अपेक्षा नहीं अर्थात् वह दिक्कालाद्यनवच्छिन्न है।

पृष्ठभूमि के रूप में वेदान्त के ब्रह्म सिद्धान्त के इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात् रामकृष्ण-विवेकानन्द के ब्रह्म सम्बन्धी विचारों का अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेद, तन्त्र, पुराण एवं अन्य स्मृतियाँ और श्रुतियाँ मनुष्यों द्वारा बार-बार उच्चारित होने के कारण उच्छिष्ट हो चुकी हैं। ब्रह्म ही एकमात्र एक ऐसा तत्त्व बचा है जिसे कोई भी वाणी अब तक दूषित नहीं कर पायी है क्योंकि ब्रह्म वाणी की पहुँच के बाहर है।[2] श्री रामकृष्ण देव प्रायः कहा करते थे कि ब्रह्म निगुर्ण, अगतिशील, अचल एवं मेरुपर्वत की तरह दृढ़ है। वह शुभ और अशुभ दोनों से उसी प्रकार अतीत है जिस प्रकार कि दीपक का प्रकाश भगवद्गीता पढ़ने के लिए और जालसाजी करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है।[3] पुनः, ब्रह्म एक सर्प के समान है जिसके भीतर विष पाया जाता है। जिस प्रकार सर्प का विष दूसरों के लिए तो वास्तविक विष है पर स्वयं सर्प उससे तनिक भी प्रभावित नहीं होता। ठीक उसी प्रकार संसार में जो दुःख, क्लेश, पाप व अन्य प्रकार के अशुभ पाए जाते हैं, वे ब्रह्मेतर अज्ञानी मनुष्यों के लिए हैं, स्वयं ब्रह्म भी

1. विवेकान्द साहित्य, अष्टम खण्ड, पृ० 118-19।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1960, पृ० 261।
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1969, पृ० 261।

इनसे तनिक भी प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, दुःख-सुख इत्यादि द्वन्द्वों से सदा अतीत है।[1] वह ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, मन-वाणी, धारणा-ध्यान, ज्ञाता-ज्ञेय, सत्-असत् इत्यादि धारणाओं से भी अतीत है। वह सभी प्रकार की सापेक्षिकता से परे हैं। ब्रह्म उस आकाश के समान है जिसमें यद्यपि सभी प्रकार की गन्ध पायी जाती है पर वह आकाश स्वयं इससे दूषित नहीं होता है।[2]

स्वामी जी कहते हैं कि 'उसी की शक्ति' से आकाश में विस्तार है, उसी की शक्ति से वायु का श्वांस है, उसी की शक्ति से सूर्य चमकता है, तथा उसी की शक्ति से सभी जीवित हैं। वही जगत् का सत्य है, वही आत्म की आत्मा है।'[3] इसी बात को अन्य रूप में अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''निरपेक्ष सत् महासागर है, जबकि आप और हम, सूर्य एवं तारे, तथा अन्य सभी कुछ उसी सागर की विभिन्न तरंगे हैं। इन तरंगों की एक दूसरे से भिन्नता क्या है? वह भिन्नता केवल आकार की है, जो आकार काल, स्थान और कारणता है, जो सब उन तरंगों पर ही पूर्णतया आधृत है।[4]

अद्वैत के पोषक होने के कारण स्वामी विवेकानन्द परम तत्व (ब्रह्म) को अनिर्वचनीय भी मानते हैं। परन्तु उनकी अनिर्वचनीयता की धारणा अन्य अद्वैतवादियों से भिन्न है। अद्वैतवादियों के अनुसार 'परम तत्त्व अनिर्वचनीय है' का अर्थ है कि परम तत्त्व वचन विन्यास के परे है, बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है। हम परम तत्त्व को भाव, अभाव (सत् और असत्) रूप में नहीं कथन कर सकते। अतः जो अवाङ्मनसगोचर होने के कारण बुद्धि के सभी विकल्पों के परे है, वह निश्चय ही अनिवर्चनीय है। स्वामी जी के अनुसार वह अप्रमेय अवश्य है, परन्तु स्वानुभूतिसम्वेद्य नहीं। वह यथार्थ ज्ञान या प्रमा का विषय नहीं, क्योंकि प्रमा तो बौद्धिक ज्ञान है। जो बुद्धि की सभी

---

1. रामकृष्णवचनामृत (द्वितीय भाग), पृ० 454।
2. वही, (प्रथम भाग), पृ० 533।
3. "Through his control the sky expands, through his control the air breathes, through his control the sun shines, and through his control all live. He is the reality in nature, He is the soul of your soul."
—Swami Vivekananda, Complete Works, Vol. II, p. 236.
4. " ....The absolute is that ocean, while you and I, and sun and stars, and every thing else are various waves of that ocean. And what makes the waves different? Only the form, and that form is time, space and causation, all entirely dependent on the wave."
—Swami Vivekananda, Complete works, Vol. II, p. 135.

कोटियों के परे है, वह अबौद्धिक या बुद्धयातीत है। अतः अबौद्धिक को अप्रमेय ही माना जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है वह स्वानुभूतिसम्वेद्य है। अप्रमेय होने के कारण वह बौद्धिक ज्ञान और तार्किक अभिव्यक्ति का विषय नहीं बन सकता, सभी प्रमाणों की सीमा वहाँ समाप्त हो जाती है। परन्तु परम तत्त्व (ब्रह्म) को जानने का प्रयास हो सकता है। श्रुति-प्रमाण या आगमन से उसकी सत्ता सिद्ध है।

श्रीरामकृष्ण देव तत्त्व के विषय में किसी वाद या सिद्धान्त का सदा विरोध करते थे। वे इस विषय में सदा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते थे। उनका कहना था कि यदि घड़े का पानी मेरी प्यास बुझा देता है तो नदी या झील के पानी की थाह लेने का क्या अर्थ है?[1] पुनः वे कहते थे कि तत्त्व तो एक ही है, पर लोग उसे भिन्न रूपों में देखते हैं।[2] उनके अनुसार तत्त्व एक गिरगिट की तरह है जो भिन्न-भिन्न मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देता है। जिस व्यक्ति को गिरगिट का सम्यक् ज्ञान नहीं है वह उनके भिन्न-भिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में ग्रहण करेगा। पर जिन्हें गिरगिट के लाल, हरे, पीले इत्यादि सभी रूपों का ज्ञान है, वह इन रूपों के विरोध की अपेक्षा सामंजस्य को विशेष महत्त्व देगा।

श्री रामकृष्णदेव के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है। वह अपौरुषेय निरपेक्ष तत्त्व है। वह उसी प्रकार अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है, जिस प्रकार कि उस व्यक्ति के लिए समुद्र अवर्णनीय है जिसने समुद्र को कभी नहीं देखा है।[3]

माण्डूक्य उपनिषद के अनुसार "नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थंमन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।" सत् के इस निरपेक्ष और अद्वैत स्वरूप का प्रतिपादन स्वामी विवेकानन्द भी करते हैं। उनके अनुसार सत् एक निरपेक्ष तत्त्व है। इन्होंने सत् के इस

1. श्री रामकृष्ण उपदेश, ब्रह्मानन्द, पृ० 39।
2. वही।
3. श्री रामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, सन् 1960, पृ० 261।

एकत्व-स्वरूप पर इतना जोर दिया है कि वे यह भी कहते हैं कि सत् 'एक' अवश्य है, किन्तु उसे 'सम्पूर्णता' (Whole) कहना उपयुक्त नहीं है। सम्पूर्णता की अवधारणा में ही यह निहित है कि उसके अवयव हैं, अंश हैं। सम्पूर्णता उन अवयवों का संगठित रूप है। किन्तु, तब तो यदि सत् को 'सम्पूर्णता' कहा जाय तो सत् भी अवयवी बन जाता है, उसके भी अंश हो जाते हैं। विवेकानन्द कहते हैं कि असीम अविभाज्य है, असीम के अवयव या अंश नहीं होते। निरपेक्ष सत् का विभाजन नहीं हो सकता।[1] निरपेक्षसत् पूर्ण इकाई है, अतः सत् में सम्पूर्णता एवं अवयवों का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः निरपेक्ष-सत् की अवधारणा अमूर्त विचार की प्रक्रिया की अन्तिम सीमा है, यही कारण है कि निरपेक्ष सत् अनिवार्यतः तथा अद्वैत रूप में एक है।

विवेकानन्द के अनुसार यह ब्रह्म स्थान, काल, कारणता आदि से परे है, अतः उसमें परिवर्तन की अवधारणा का आरोपण भी नहीं हो सकता, इस अर्थ में वह 'अपरिवर्तनशील' है। उसे 'अपरिवर्तनशील' कहने का यह अर्थ नहीं कि वह काल के सभी क्षणों में एक जैसा ही रहता है। इसका अर्थ यह है कि सत् के सम्बन्ध में काल का प्रश्न उठाना अप्रासंगिक ही नहीं, सर्वथा अर्थहीन है।विवेकानन्द का कहना है कि इस प्रकार की सूक्ष्म वैचारिक विवेचना की आवश्यकता ब्रह्म तथा ईश्वर को समझने के हमारे सीमित ढंगों के कारण उत्पन्न होती है। वस्तुतः ईश्वर, आत्मा, जगत् आदि को हम भिन्न-भिन्न रूप में अलग-अलग देखते भी नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि हमें इनकी अलग-अलग अनुभूति होती हो, और तब हम इन्हें एक दूसरे के साथ सम्बन्धित करने का प्रयास करते हैं। वस्तुतः हमारी अनुभूति में इनकी भिन्नता की अनुभूति नहीं होती, सब एक ही प्रकार की अनुभूति है। वह तो हमारे भाषीय अभिव्यक्ति के ढंग, विशेषतः आलंकारिक एवं उपमाजन्य भाषीय प्रयोगों के ढंग हैं जिनसे इनकी विभिन्नताओं की भ्रान्ति उत्पन्न होती है।[2]

---

1. वे कहतें हैं, "The Infinite is indivisible, there cannot be parts of the Infinite. The absolute cannot be divided."

—Complete works, Vol. III, p. 7.

2. वे कहते हैं, 'God is neither outside nature nor inside nature, but God and Nature and soul and universe are all convertible terms. You never see two things. It is your metaphorical works that delude you"

—Complete Works, Vol III, p. 421.

इसी कारण विवेकानन्द निरपेक्ष सत् को 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। उनका कहना है कि निरपेक्ष सत् में गुणों या लक्षणों का आरोपण उपयुक्त नहीं है। निरपेक्ष सत् में गुणों का आरोपण करने का अर्थ है कि हम यह दावा कर रहे हैं कि हम निरपेक्ष सत् को जान सकते हैं, और यह कहना कि 'निरपेक्ष सत् को जाना जा सकता है' एक प्रकार से आत्मव्याघात है। निरपेक्ष सत् पूर्णतया अज्ञेय है, इसमें 'स्वगत भेदों' के लिए भी स्थान नहीं है।

फिर भी विवेकानन्द का कहना है कि ऐसे निरपेक्ष सत् के विवरण का प्रयास होता रहा है, कोई विवरण उसका पूर्ण विवरण, या पूर्णतया यथार्थ विवरण नहीं होता, फिर भी ऐसे निकट के विवरण देने का प्रयास किया जाता है। विवेकानन्द के अनुसार निरपेक्ष सत् को 'सत्-चित्-आनन्द' कहकर समझाने का प्रयास किया जाता है। 'सत्' (Existence) तथा चित् (Consciousness) की अवधारणायें यहाँ भी प्राय: अद्वैत वेदान्त की उनकी अवधारणाओं के समान ही है, किन्तु 'आनन्द' की (Bliss) अवधारणा को विवेकानन्द ने बड़ा समृद्ध बना दिया है। विवेकानन्द ने 'आनन्द' के मूल में प्रेम (Love) रखा है, तथा इसे बार-बार कहते हैं कि प्रेम में ही आनन्द है।

विवेकानन्द का कहना है कि निरपेक्ष, अवैधानिक सत् को समझने की एक वैचारिक दृष्टि यह भी है कि उसे जगत् का स्रष्टा, शासक तथा जगत् के पूर्ण कारक के रूप में देखा जाता है। ऐसे जगत्-स्रष्टा को परम शुभ तथा प्रेमरूप भी माना जाता है तथा समझा जाता है कि प्रेमपूर्ण होने के कारण वह जगत पर सदा कृपा रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सत् के अनिर्वचनीय, निर्गुण रूप के साथ, उसी में निहित एक वैयक्तिक ईश्वर के लिए भी स्थान बन जाता है।

स्वामी जी कहते हैं कि शंकर ने यह समझा था कि शुद्ध अनिर्वचनीय ब्रह्म की अवधारणा पारमार्थिक दृष्टि से भले ही उपयुक्त हो, व्यवहार में वह साधारण मन की धार्मिक प्रवृत्तियों एवं आकांक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं कर पाती। इसी कारण शंकर ने अपने दर्शन में 'ईश्वर' के लिए भी स्थान बनाया तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसकी यथार्थता एवं उपयोगिता पर बल दिया। किन्तु, उन्होंने ब्रह्म के अद्वैत रूप की तार्किकता को खण्डित नहीं होने दिया, तथा इसके लिए ईश्वर को

'पारमार्थिक सत्ता' नहीं दी। 'ईश्वर' भी अविद्या तथा माया के स्तर तक ही यथार्थ रहा, पारमार्थिक स्तर पर 'ब्रह्म' का स्वरूप 'ईश्वर' से खण्डित नहीं होता। किन्तु इस स्तर पर स्वामीजी का शंकर से किंचित मतभेद दिखलाई पड़ता है। वे यह नहीं स्वीकारते कि 'ब्रह्म' माया तथा अविद्या के साथ जुड़ा है। वे यह नहीं स्वीकार करते हैं कि 'ब्रह्म' तथा 'ईश्वर' दो हैं। उनका कहना है कि बुद्धि के द्वारा सत् जो है, वह है, उसके स्वरूप का स्पष्ट अवबोध तो अभी नहीं है, अतः उस पर विचार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया जाता है। उसी सत् को जब एक दृष्टि से देखते हैं, तो वह 'ईश्वर' है, तथा यदि देखने का ढंग परिवर्तित हो जाए और सत् को देखने की दृष्टि भिन्न हो जाय तो वही सत् 'ईश्वर' प्रतीत होता है। अतः विवेकानन्द के अनुसार यह भेद पारमार्थिक दृष्टि से है ही नहीं, यह दृष्टि-भेद है। इस प्रकार उनके अनुसार ईश्वर को अन्ततः अयथार्थ कहने की आवश्यकता ही नहीं, वही सत् तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म है, और उस सत् को जब हम धार्मिक दृष्टि से देखते हैं, तो वह ईश्वर है। अतः विवेकानन्द का कहना है कि जो परम सत् है, वही हमारी भावना, आराधना, भक्ति का विषय भी है।

अन्त में स्वामी विवेकानन्द आलंकारिक भाषा में कहते हैं कि परमात्मा सबसे बड़ा कवि है, जिसकी कविता यह सृष्टि है। वह अपनी कविता के पद्यों और लयों को अपने अनन्त आनन्द में लिखता है।[1] तात्पर्य यह है कि परमात्मा ही जगत् का रचयिता है और जगत् उसकी रचना है। अद्वैत वेदान्ती होने के कारण स्वामी विवेकानन्द परमात्मा को जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों मानते हैं। परमात्मा अपनी लीला (इच्छा) से ही जगत् की सृष्टि करता है। सम्पूर्ण जगत् उसकी लीला है। श्रुतियों में जगत् को परमात्मा की लीला स्वीकार किया गया है। परमात्मा अपनी लीला या क्रीड़ा के लिए ही सृष्टि करता है। क्रीड़ा या खेल का कोई कारण नहीं हो सकता। परमात्मा की क्रीड़ा में भी कोई अभाव नहीं, वरन् उसका स्वभाव ही कारण है। उसका स्वभाव ही आनन्द है। अतः आनन्द के लिए वह सृष्टि करता है, खेल खेलता है। जिस प्रकार कोई स्वान्तः

---

1. I never read of anymore beautiful conception of God then the following. He is the great poet, the ancient poet, the whole universe is his poem coming in verses, rhymes and rythms with in infinite bliss.

—Swami Vivekananda: Janana Yoga, p 148.

सुखाय किसी कविता की रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए संसार को उत्पन्न करता है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति इस माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण संसार की बीज है।[1] वह समस्त इन्द्रियानुभविक विश्व का कारण है। वही सब शरीरों और इन्द्रियों की रचना करती है। उसी से सोलह कार्य और सात कार्य-कारण उत्पन्न होते हैं।[2] तीन गुणों वाली माया ईश्वर की अपनी शक्ति है और वही संसार की सब वस्तुओं का मूल स्रोत है।[3]

सांख्य की प्रकृति एक स्वतंत्र तत्त्व है। वह अपने आप में अपने द्वारा ही स्थित है। वह उस पुरुष के समान ही सत् है जिसका उद्देश्य पूरा करने के लिए उसका अस्तित्व है। इसके विपरीत शंकर की माया ब्रह्म पर निर्भर रहने वाली मानी गई है। अद्वैत वेदान्त में माया को ब्रह्म की उपाधि स्वीकार किया गया है। इस उपाधि से संयुक्त होकर निर्गुण निराकर ब्रह्म सगुण साकार ईश्वर तथा जीव जगत् के रूप में प्रतीत होता है। अत: शंकर ईश्वर, जीव व जगत् को ब्रह्म की मायिक अभिव्यक्तियाँ स्वीकार करते हैं। यह ईश्वर पर पूर्णतया निर्भर और उससे अभिन्न है। इसलिए उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार शक्ति शक्तिमान से अभिन्न होती है वैसे ही माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न है।[4] वास्तव में शंकर के ब्रह्मवाद में जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्नता से शंकर का तात्पर्य तादात्म्य नहीं है। श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि शंकर के लिए अभिन्नता का अर्थ भिन्नता को अस्वीकार करना मात्र है। इसका अर्थ तादात्म्य स्वीकार करना नहीं है।[5] आचार्य शंकर के मतानुसार माया ईश्वर की वह आश्चर्यजनक रचनात्मक संकल्पशक्ति है जिसमें असीम कारण-कार्य शक्यता है।

---

1 शां० भा० गीता, 7. 4, 13. 19, 13. 29
2. वही 13. 20
3. वही 14. 3
4. शां० भा० गीता, 14.4 (सा शक्ति: ब्रह्म एव..........शक्ति शक्तिमतो: अनन्यत्वात्।
5. भामती, 2.1.14; शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 1.24।

आचार्य शंकर ने विशेष रूप से यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण मायोपहित ईश्वर ही है। आचार्य शंकर का विचार है कि यह विश्व नामरूपों द्वारा विभाजित है, जहाँ जीवों को निश्चित कारण से निश्चित स्थान और समय पर अपने कर्मो का फलभोग प्राप्त होता रहता है। इसकी व्यवस्था मन से भी अचिन्त्यनीय है। ऐसे संसार की उत्पत्ति सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकती।[1] ईश्वर की इस जड़चेतन सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है। वह अपने चैतन्य की प्रधानता से सृष्टि का निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से सृष्टि का उपादान कारण है। इस सन्दर्भ में श्रुति लूतातन्तु का उदाहरण देती है। जिस तरह मकड़ी अपने चैतन्य की दृष्टि से जाले का निमित्त कारण है तथा शरीर की प्रधानता से जाले का उपादान कारण भी है।

श्रीरामकृष्ण देव भी कहते हैं कि ब्रह्म और माया के बीच वही सम्बन्ध है जो स्थिर सर्प और गतिशील सर्प के बीच होता है। गति रूप शक्ति माया है और स्थिति रूप शक्ति ब्रह्म है।[2] जब परमसत् क्रियारहित अवस्था में होता है तो उसे ब्रह्म कहा जाता है। वही ब्रह्म जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय के सन्दर्भ में देखा जाता है तो उसे ईश्वर कहा जाता है। ब्रह्म और माया में शक्तिशक्तिमान की दृष्टि से अभेद सम्बन्ध है, निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय माया वास्तव में एक ही हैं। जो सत्-चित्-आनन्द रूप ब्रह्म है वही सत्ता सर्वज्ञ, आनन्दमयी, जगत् जननी शक्ति है। श्रीरामकृष्ण देव परमतत्त्व एवं उसकी शक्ति में अभेद सम्बन्ध पर बल देते हुए कहते हैं कि "ब्रह्म और शक्ति में अभेद है, एक को मानिए तो दूसरे को मानना ही पड़ता है, जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति होती है। सूर्य को पृथक् कर किरणों की कल्पना नहीं की जा सकती और न सूर्य के विषय में किरणों को छोड़कर ही सोचा जा सकता है। दुग्ध और उसकी धवलता में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः ब्रह्म को छोड़कर शक्ति के विषय में विचार नहीं किया जा सकता और न ही शक्ति को

---

1. शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 1.1.2।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, सन् 1969, पृ० 261।

छोड़कर ब्रह्म के विषय में विचार हो सकता है।[1] शक्ति के बिना शिव उसी प्रकार सृष्टि रचना करने में असमर्थ है जिस प्रकार कुम्भकार बिना जल के मृत्तिका मात्र से पात्र का निर्माण करने में।[2]

परम-तत्त्व एवं शक्ति में अभेद सम्बन्ध को स्वीकार करने के कारण श्रीरामकृष्ण वल्लभ वेदान्त के अधिक समीप हैं परन्तु साथ ही तत्त्व एवं शक्ति में अपार्थक्य को स्वीकार करने के कारण उनके विचार श्रीरामानुज से भी मिलते-जुलते हैं। रामानुज के अनुसार भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि न तो अनुभव से ही हो सकती है और न प्रमाणों से ही। पदार्थ का समुचित स्वरूप ही सब प्रमाणों एवं अनुभवों का विषय है। यह आनुभाविक एवं प्रामाणिक निष्कर्ष ब्रह्म के सविशेष स्वरूप को मानने के लिए विवश करता है। पदार्थ एवं शक्ति में श्रीरामकृष्ण ने अभेद सम्बन्ध माना है।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि ब्रह्म और माया में वही सम्बन्ध है जो शान्त समुद्र और क्षुब्ध समुद्र के बीच होता है। जिस प्रकार कोई कुम्हार सूखी मिट्टी द्वारा किसी घड़े का निर्माण नहीं कर सकता, उसके लिए जल की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शिव (ब्रह्म) शक्ति (माया) के बिना सृष्टि का कार्य नहीं कर सकते।[3]

जहाँ कहीं प्रक्रिया अर्थात-सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है, वहां माया या शक्ति का वास होता है। जल, जल ही रहेगा चाहे वह शान्त हो या क्षुब्ध। सत्-चित-आनन्द निरपेक्ष ब्रह्म ही माया से उपहित होकर ईश्वरपदवाच्यता को ग्रहण करता है और जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय को निष्पन्न करता है। जिस प्रकार 'कैप्टेन'[4] वही रहेंगे चाहें वे निष्क्रिय होकर अपने निवास में बैठे रहें या मन्दिर में जाकर आराधना करें अथवा किसी कार्य से गवर्नर जनरल से मिलें, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म, ब्रह्म ही रहेगा चाहे वह सच्चिदानन्द रूप में निष्क्रिय रहे अथवा ईश्वर रूप में सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कार्य करे।

---

1. रामकृष्णबचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 122।
2. टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण परमहंस, पृ० 4-5।
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अध्याय 2, पृ० 39।
4. कलकत्ता स्थित नेपाल सरकार के प्रतिनिधि श्री विश्वनाथ उपाध्याय को श्रीरामकृष्ण देव 'कैप्टेन' कहकर पुकारते थे।

श्रीरामकृष्ण देव माया की उपमा बादलों से और ब्रह्म की उपमा स्वच्छ आकाश से देते हैं। कभी-कभी ब्रह्म की उपमा सूर्य से भी दी गई है। जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किए रहता है, किन्तु साधारण बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाश स्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के आवरण के कारण नहीं देख पाते।[1] सदानन्दयोगीन्द्र के वेदान्तसार में आवरण शक्ति का विवेचन उपमा के माध्यम से इस प्रकार मिलता है—

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्क यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।

तथा बद्धवद्भाति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥

अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ पुरुष बादल से अपनी दृष्टि के ढक जाने पर सूर्य को बादल से ढका हुआ और प्रभारहित मानता है उसी प्रकार मूढ़ पुरुष की दृष्टि से जो आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ (संसारी) जैसा प्रतीत होता है, वह नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ।[2] श्रीरामकृष्ण देव श्री राम, जानकी और लक्ष्मण का उदाहरण दिए हैं। जीवात्मा और परमात्मा के बीच माया का परदा है। इस परदे के कारण दोनों में परस्पर भेट नहीं हो सकती। जैसे आगे-आगे राम बीच में जानकी और पीछे-पीछे लक्ष्मण जा रहे हैं। यहाँ राम परमात्मा हैं और लक्ष्मण जीवात्मा। बीच में जानकी ही माया रूप आवरण है। जब तक जानकी बीच में हैं, तब तक लक्ष्मण रामचन्द्र जी को नहीं देख सकते। यदि जानकी थोड़ा हट जायें तो लक्ष्मण को राम के दर्शन हो जायें। ठीक इसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है तो उसे माया से निवृत्त होना पड़ेगा।[3]

माया की अवास्तविकता को दर्शाने के लिए श्रीरामकृष्ण देव दीपाधार त्रिपार्श्व का उदाहरण दिये हैं जिसमें लाल, पीले और नीले रंग की किरणें विकीर्ण होती हैं। जिस प्रकार प्रिज्म या त्रिपार्श्व से निकलने वाले सभी रंग श्वेत वर्ण की ही अभिव्यक्ति हैं, ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश—स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ० 12।
2. वेदान्तसार पृ० 91।
3 श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० 11।

जगत् भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति हैं। केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है।[1]

माया ही वह 'प्रिज्म' या माध्यम है जिसके द्वारा अद्वय ब्रह्म वैविध्यपूर्ण सृष्टि के रूप में भासित होता है। श्री रामकृष्ण के अनुसार माया दो प्रकार की होती है, विद्या और अविद्या। विद्या मनुष्य को ईश्वर के पास ले जाती है, पर अविद्या उसे ईश्वर से बहुत दूर फेंक देती है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, अनुकम्पा—ये सभी विद्या माया के अभिन्न रूप हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।[2] माया ही ब्रह्म को प्रकाशित करती है। जिस प्रकार शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान को जाना जा सकता है, उसी प्रकार माया के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। विद्या के माध्यम से ही परम ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। माया ही द्वैत को उत्पन्न करती है। माया के बिना भोक्ता, भोग्य और भोग की कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु यह भी सत्य है कि विद्या के द्वारा ही द्वैत के मिथ्यात्व का भी ज्ञान होता है, तथा व्यक्ति मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ता है। इस प्रकार माया की द्विविध भूमिका है।

उपनिषदीय वाक्यों पर विचार करके शंकर ने यह भेद स्थापित किया कि एक तो ब्रह्म वह है जैसा कुछ अपने आप में है और दूसरा जिसे हम अपने अनुभव जगत् से सम्बद्ध मानकर समझने का प्रयत्न करते हैं। पहले को वे निर्गुण, निर्विशेष या ब्रह्म कहते हैं और दूसरे को सगुण, सविशेष और अपर ब्रह्म कहते हैं। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म सत्[3] परमार्थ सत्य[4] परमार्थ तत्त्व[5] और भूमा[6] आदि भी कहलाता है। वह निर्विशेष होने के कारण अवर्णनीय है।[7] परिभाषा में जाति का विभाजन कर विशेष का निरुपण करना आवश्यक है, किन्तु ब्रह्म न किसी जाति में आता है और न वह किसी विशेष की गणना में आता है।[8] अतः वह निर्गुण है, गुणों की सीमित परिधि में बँधने वाला

---

1 श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० 41।
2 वही, पृ० 42।
3. शां० भा० गीता, 2.17 (सदाएयेन ब्रह्मणा.......)।
4. शां० भा०, तैत्तिरीय, 2.6 (परमार्थ सत्यं ब्रह्म)।
5. शां० भा०, गीता 2.59 (परमार्थ तत्त्वं ब्रह्म)।
6. शां० भा० छान्दोग्य, 7.23 (भूमा महन्निरतिशयं), शां० भा० केन, 1.5 (ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं)।
7 शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 4.3.14, 3.2.16, 3.2.11 (समस्त विशेषरहितं)।
8. शां० भा० माण्डूक्य, 1.7 शां० भा० केन, 1.3।

नहीं है। निर्गुण का तात्पर्य गुणशून्य नहीं वरन् गुणातीत है क्योंकि प्रत्येक निर्वचन उसके सम्बन्ध में कुछ निषेध करता है किन्तु वह ब्रह्म तो समस्त विधि निषेधों से अतीत है। स्वयं विधि और निषेध उसी से सत्ता ग्रहण करते हैं। अत: स्वयं उसी को सीमित नहीं कर सकते।

श्रीरामकृष्णदेव ने अनेक बार शांकरसम्मत बह्म के निर्गुण एवं वैष्णवाचार्यों द्वारा स्वीकृत सगुण रूप में समन्वय किया है—"वेदों ने जिसे बह्म कहा है उन्हीं को मैं माँ कहकर पुकारता हूँ। जो निर्गुण है वही सगुण है, जो ब्रह्म है वही शक्ति है। जब यह बोध होता है कि वह निष्क्रिय है तब मैं उसे ब्रह्म कहता हूँ और जब यह सोचता हूँ कि वह सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है तब उसे आद्याशक्ति काली कहता हूँ।[1] सगुण और निर्गुण दोनों का ही सम्यक् अवबोध रामकृष्ण परमहंस को था। उनकी सगुण उपासना माँ काली की उपासना थी, एवं निर्गुणोपासना उनके वेदान्ती गुरु तोतापुरी ने उन्हें करवाया था।[2] जिस प्रकार एक व्यक्ति एक समय वस्त्रधारी रूप में और दूसरे समय में निर्वस्त्र रूप में रहता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में स्थित होता है।[3] शक्ति सहित ब्रह्म सगुण ब्रह्म है, शक्तिरहित ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है।[4] इसी तथ्य को कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए श्रीरामकृष्णदेव ने कहा—"एक ही ब्राह्मण पूजा करते समय पुजारी और भोजन बनाते समय पाचक होता है।"[5] सर्प जब कुण्डली युक्त है तब भी सर्प है और जब तिर्यग् गति से संसरण करता हो तब भी सर्प ही है।[6] इसी प्रकार ब्रह्म जब सृष्ट्युत्पत्यादि कर्म करता है तब वह शक्तिरूप है, जब निष्क्रिय रहता है तब निर्गुण एवं निराकार है जिसे ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। उसी को योगी परमात्मा कहते हैं और उसी को भक्त भगवान कहते हैं।[7] वस्तु एक ही है, केवल नाम भेद है। जो ब्रह्म है वही भगवान् है, वही आत्मा है। श्रीरामकृष्णदेव कबीर के

---

1. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 68।
2. रामकृष्ण लीलाप्रसंग, प्रथम खण्ड, पृ० 272।
3. रामकृष्ण उपदेश, अं० अनुवाद पृ० 267।
4. वही, पृ० 267।
5. वही, पृ० 121।
6. वही (प्रथम भाग), पृ० 53
7. वही, पृ० 121।

समान निर्गुण को पिता और सगुण को माता कहकर[1] उभयविध धारणाओं में समन्वय का प्रयास करते हैं।

ब्रह्म की उभयविध धारणाओं के प्रति श्रीरामकृष्णदेव की समन्वयवादी प्रवृत्ति होते हुए भी उनके वचनामृतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्हें परमतत्त्व की सगुण धारणा ही अधिक प्रिय थी। परम्तत्त्व की शक्ति अथवा गुणों से रहित मानने के सिद्धान्त को वे उसी प्रकार असंगत मानते हैं जिस प्रकार सूर्य से किरणों की पृथक्करणीयता की कल्पना। वे परमतत्त्व एवं उसकी शक्ति में अभेद सम्बन्ध पर बल देते हैं।

वेदान्त के रहस्य का ठीक-ठीक उद्घाटन न कर सकने के कारण ब्रह्म समाजी नेताओं ने ब्रह्म की साकारता का निरसन किया। श्री रामकृष्णदेव ने इस मान्यता का उसी रूप में पुनः स्थापन करते हुए कहा कि ''वह श्रीकृष्ण के समान मनुष्य रूप धारण कर आता है एवं अनेक रूपों से भक्तों को दर्शन देता है, यह भी सत्य है और वह निराकार अखण्ड और सच्चिदानन्द है, यह कथन भी सत्य है । वेदों ने उसको साकार भी कहा है और निराकार भी, सगुण भी और निर्गुण भी।''[2] सच्चिदानन्द मानों एक अनन्त समुद्र है, ठण्डक के कारण समुद्र का पानी बर्फ बनकर तैरा करता है, पानी पर बर्फ के कितने ही आकार के टुकड़े तैरते हैं, वैसे ही भक्ति के प्रभाव से सच्चिदानन्द सागर में साकार मूर्ति के दर्शन होते हैं, वे भक्त के लिए साकार होते हैं। फिर जब ज्ञान-सूर्य का उदय होता है तब बर्फ गल जाती है और पहले का पानी ज्यों का त्यों रह जाता है।[3] वस्तुतः परमात्मतत्त्व अनेक स्वरूप युक्त है। जो उसकी जिस रूप में उपासना करता है वह उसे उसी रूप में प्राप्त करता है। अतः उसके स्वरूप को 'इदमित्थम्' कहकर निश्चित करना असंभव है। उसके विविध रूप उस कृकलास (गिरगिट) के समान है जिसको बहुत से मनुष्यों ने देखा तो था, परन्तु देखा एक ही बार था। उनमें कोई गिरगिट को पीला, कोई लाल, कोई हरा और कोई आसमानी रंग का बतलाता था। भ्रम-निवारण तब हुआ जब एक व्यक्ति जिसने गिरगिट को अनेक बार देखा

1. रामकृष्ण उपदेश, अं० अनुवाद, पृ० 310।
2. रामकृष्णवचनामृत, (प्रथम भाग), पृ० 58।
3. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृष्ठ 228।

था—आकर बोला कि उन सबके अपने-अपने कथन सत्य भी हैं, और असत्य भी। गिरगिट उन सव वर्णों से युक्त है, जिनका वर्णन उन सब व्यक्तियों ने किया है परन्तु वह और भी अनेक वर्णों से युक्त है।[1] इसी प्रकार ईश्वर भी विभिन्न स्वरूपों से युक्त है और उसके वे विविध रूप भाव-भेद से ही व्यक्त होते हैं। जैसे एक ही खाद्य वस्तु नाना प्रकार के रसों और मसालों के साथ पकायी जाकर विविध प्रकार के स्वादों से युक्त होती है, उसी प्रकार भगवान् एक ही है परन्तु साधकगण विभिन्न भावों से उनकी उपासना करते हैं।[2]

स्वामीजी कहते हैं कि जब हम देश-काल निमित्त रूपी शीशे के माध्यम से ब्रह्म की ओर देखने का प्रयत्न करते हैं तभी वह जगत् से सम्बद्ध प्रतीत होता है।[3] तभी वह सगुण प्रतीत होता है जबकि वास्तविक यह है कि जहाँ पर ब्रह्म है वहाँ देश-काल आदि निमित्त होते ही नहीं है।[4] देश-कालादि से युक्त रहने पर ब्रह्म कदापि असीम और अनन्त नहीं रह सकता। वह सापेक्ष तथा सविशेष हो जाएगा, क्योंकि सत्य वही है जो देश-कालादि से परे हो।[5] इसके अतिरिक्त, जिन देश, काल और निमित्त से हम ब्रह्म को 'सविशेष' और 'सम्बद्ध' स्वीकार करते हैं; उन देश-कालादि का भी अस्तित्व नहीं है। तीनों की ही धारणा सापेक्ष है। काल मन के अधीन है। इसी प्रकार देश की भी निरपेक्ष एवं शुद्ध रूप से कल्पना नहीं की जा सकती, कार्य-कारण-भाव भी देश एवं काल के अधीन होने से सापेक्ष है, अतः सापेक्ष होने के कारण देश-काल सत् नहीं है।[6] ब्रह्म को असत् से सीमित नहीं किया जा सकता। काल मन के अधीन है[7] और ईश्वर मन से युक्त नहीं है। अतः काल से भी परे है। देश से वही वस्तु सम्बद्ध हो सकती है जो साकार हो। ईश्वर निराकार है अतः

---

1. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृष्ठ 138-9।
2. परमहंस चरित, पृष्ठ 66।
3. The absolute has become the universe by coming through time, space and causation—Complete Works of Swami Vivekananda, Vol II, p. 129.
4. The idea of time cannot be there—the idea of space cannot be there, seeing that there is no external change. What you call motion and causation can not exist where there is only one, Ibid—Vol. II, p. 30
5. That which is beyond time, space and causation that is perfect, Vol. III. p. 13.
6. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol II, p. 135-36.
7. Ibid, Vol. II, p 78.

देश से भी सम्बद्ध नहीं हो सकता।[1] कार्य-भाव काल और देश के आश्रित हैं। जब ईश्वर देश और काल से अस्पृष्ट है तो वह कार्य-कारण भाव से भी असम्बद्ध है।

जब हम पूछते हैं "ब्रह्म पर किस कारण ने कार्य किया?" तो हम कितनी बड़ी भूल करते हैं। यह प्रश्न करने का अर्थ है कि ब्रह्म भी अन्य किसी के अधीन है—वह निरपेक्ष ब्रह्म सत्ता भी किसी अन्य के द्वारा बद्ध है। अर्थात् ब्रह्म अथवा निरपेक्ष 'सत्ता' शब्द को हम जगत् के समान समझते हैं—हम उसे जगत् के स्तर पर नीचे खींच लाते हैं। ब्रह्म में देश-काल और निमित्त है ही नहीं क्योंकि वह एकमेवाद्वितीय नहीं हो सकता।अपनी सत्ताकाजो स्वयं ही आधार है उसका कोई कारण नहीं हो सकता। जो मुक्त स्वभाव है, स्वतंत्र है, उसका कोई कारण नहीं हो सकता अन्यथा वह मुक्त नहीं रहेगा, बद्ध हो जायेगा। जिसमें सापेक्ष भाव है वह कभी मुक्त स्वभाव नहीं हो सकता।[2]

आचार्य शंकर की भाँति स्वामीजी के अनुसार भी सगुण ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नहीं, वरन् सगुण और सविशेष है। इसे ही परम पिता, परमात्मा, ईश्वर भगवान् आदि कहते हैं।[3] सगुण ब्रह्म के श्रुति सम्मत दो लक्षणों को स्वामी जी भी स्वीकार करते हैं—स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है—'सच्चिदानन्द' अर्थात् ब्रह्म सत् है, चित् है और आनन्दस्वरूप है। दूसरे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। जिसके द्वारा सभी जीव उत्पन्न होते हैं (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते) आदि। इस लक्षण से ब्रह्म सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता सिद्ध होता है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म को ही सृष्टा, ईश्वर और भगवान् कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द ईश्वर को भी पूर्णतः सत् स्वीकार करते हैं। परन्तु ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में विवेकानन्द का तर्क कुछ अद्वैत परम्परा से भिन्न है।

---

1. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol, II, p. 225.
2. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 2, पृ० 87।
3. श्रुति के अनुसार येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्या संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।

स्वामी जी कहते हैं कि "जब तक हमारा शरीर है, जब तक हम इस शरीर को आत्मा समझे बैठे हैं और जब तक हम स्थूल जगत् की ओर दृष्टि किए हुए हैं तब तक हमें सगुण ईश्वर को स्वीकार करना ही होगा। ऐसी अवस्था में ईश्वर को स्वीकार न करना निरा पागलपन है।"[1] इन शब्दों के साथ स्वामी विवेकानन्द भी आचार्य शंकर के समान सगुण ईश्वर की मान्यता का समर्थन करते हैं। संसार के अधिकांश व्यक्ति द्वैतवादी हैं। ऐसे व्यक्ति, जो साधारण बुद्धि के हैं, निर्गुण ब्रह्म की धारणा को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।[2] जब निर्गुण ब्रह्म को हम माया के कुहरे में से देखते हैं, तो वही सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। जब हम उसे पंचेन्द्रियों द्वारा पाने की चेष्टा करते हैं तो उसे हम सगुण ब्रह्म के रूप में ही देख सकते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा का विषयीकरण नहीं हो सकता—आत्मा को दृश्यमान वस्तु नहीं बनाया जा सकता। ज्ञाता स्वयं अपना ज्ञेय कैसे हो सकता है? परन्तु उसका मानों प्रतिबिम्ब पड़ सकता है—चाहो तो, इसे उसका विषयीकरण कह सकते हो। इस प्रतिबिम्ब का सर्वोत्कृष्ट रूप, ज्ञाता को ज्ञेय रूप में लाने का महत्तम प्रयास—यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है।[3] अतः एक 'व्यक्ति' के रूप में ईश्वर की उपासना किए बिना मनुष्यों का काम नहीं चल सकता।[4]

अद्वैत वेदान्त के अनुयायी होने के कारण स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म की निरपेक्ष, निर्विशेष एवं निर्गुण सत्ता को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार आचार्य शंकर अपनी प्रबल युक्तियों से ब्रह्म के सविशेषत्व का निरसन करते हैं, उसी प्रकार स्वामी जी भी अनेक तर्क-प्रहारों से सगुण ब्रह्म की धारणा का उच्छेदन कर निर्गुण ब्रह्म की धारणा की स्थापना करते हैं। "सगुण ब्रह्म के सब विशेषण निर्गुण-ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक और अयौक्तिक हैं। इसलिए वे त्याज्य हैं। निर्गुण और सर्वव्यापी ब्रह्म ज्ञानवान् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान मन का धर्म है। वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता क्योंकि विचार ससीम का धर्म है। वह सृष्टिकर्ता भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि

---

1 कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ० 28।
2. वही, खण्ड 2, पृ० 24।
3. विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ० 258-59।
4. वही, पृ० 387।

जो बन्धनहीन है, मुक्त है, उसे कभी सृष्टि करने की इच्छा नहीं हो सकती।''[1] स्वामी जी इस विषय में यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि ''एक ही समय में एक से अधिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं रह सकता। यदि ब्रह्म सगुण है, यदि ब्रह्म अनेक सद्‌गुणों से उपेत है और यदि ब्रह्म संसार के समस्त सद्‌गुणों की निधि है तो सापेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार क्या बिना दोषों के गुणों का अस्तित्व सम्भव है? क्या बिना अन्धकार के प्रकाश का अस्तित्व सम्भव है?[2] यदि ईश्वर ही सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता है तो द्वैतवाद के अनुयायी जगत् के वैषम्य के विषय में क्या समाधान देंगे?[3] एक मनुष्य सुखी है तो दूसरा दुःखी, एक धनी है तो दूसरा निर्धन एक का जीवन दूसरे की मृत्यु पर निर्भर करता है। यह प्रतिद्वन्दिता, निष्ठुरता, घोर अत्याचार और दिन-रात की आह-जिसे सुनकर कलेजा फटा जाता है—इसका सगुण ईश्वरवादी क्या समाधान प्रस्तुत करेंगे?[4] यदि यही ईश्वर की सृष्टि है तो वह ईश्वर अत्यन्त निष्ठुर से भी बढ़कर है।

ब्रह्म के ज्ञेयत्व के विषय में श्री रामकृष्ण देव ने वैष्णवाचार्यो से मिलते जुलते विचार प्रकट किए हैं। ब्रह्म के विषय में वेद में कहा गया है 'अवाङ्मनसगोचरम' इसका अर्थ यह है कि वह विषयासक्त मन के लिए अगोचर है। जैसे स्वच्छ दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है वैसे ही चित्तशुद्धि के बाद ही ब्रह्म का दर्शन होता है।[5] ब्रह्म ज्ञेय अवश्य है परन्तु व्यपदेश्य नहीं है।[6] ब्रह्म के विषय में वाद-विवाद एवं विचार तभी तक है जब तक कि उसके दर्शन का अनुभव नहीं होता। ''जब तक मधुमक्खी फूल पर नहीं बैठती है तभी तक वह गुंजार करती है, तालाब में घट के भर जाने के पहले ही आवाज होती है, भर जाने के बाद निस्तब्धता छा जाती है।[7] श्रीरामकृष्ण बड़े सरल शब्दों में कहा करते थे कि ''भोजन के निमन्त्रण पर आए व्यक्तियों में भोजन न आने तक

---

1 He cannot be called a knowing being because knowledge only belongs to the human mind.......He cannot be called a creating, because none creates except in bondage.—Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. III, p. 128-9.

2. कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ० 241।

3. वही, खण्ड .3, पृ० 241-4।

4. वही, खण्ड 3, पृ० 123-4।

5. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 158।

6 वही, पृ० 57।

7 रामकृष्णवचनामृत (द्वितीय भाग), पृ० 136।

ही वार्तालाप होता है, भोजन आने पर सब शान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के साक्षात्कार के उपरान्त सब विचार शान्त हो जाते हैं।[1]" "कोई भी हो, उसकी शक्ति कितनी ही अपार हो, परन्तु ब्रह्म उसके द्वारा अवर्णनीय नहीं। क्षुद्र चींटी चीनी के पहाड़ में से एक ही दाना ले जाने की सामर्थ्य रखती है।"[2]

वहीं दूसरी ओर आचार्य शंकर ने अगम्य होने के कारण ब्रह्म को इन्द्रियादि से अज्ञेय कहा है, ब्रह्म को विषयीकृत करने का इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। ब्रह्म स्वरूप होने एवं विषय-विषयी के भेद से रहित होने के कारण आत्मा स्वयं को उसी प्रकार नहीं जान सकता जिस प्रकार अग्नि स्वयं को जला नहीं सकती।[3] स्वामीजी भी सर्वत्र ब्रह्म की अज्ञेयता का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञान का तात्पर्य किसी भी वस्तु को सीमित कर देने से है। जब कभी हम किसी वस्तु को जानना चाहते हैं तब वह मन के द्वारा सीमाबद्ध हो जाती है।[4] ज्ञान का तात्पर्य है वस्तु को बाहर लाकर विषय की भांति प्रत्यक्ष करना। परन्तु ईश्वर का बहि:प्रेक्षण असंभव है। आत्म-स्वरूप होने के कारण हम किसी प्रकार उस (आत्मा) का प्रक्षेप नहीं कर सकते।[5] जो सबका ज्ञाता है, जो सब ज्ञानों का आधार है उसे किस प्रकार जाना जा सकता है।[6] परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वामीजी स्पेन्सर के समान अज्ञेयवादी है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि 'आत्मा न ज्ञेय है और न अज्ञेय—क्योंकि अज्ञेय मानने से भी पहले उसे 'विषय' बनना पड़ेगा, वह ज्ञेय और अज्ञेय दोनों की अपेक्षा अनन्त गुना ऊँचा है।[7]

जब ब्रह्म अज्ञेय, अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय है तो यह निश्चित है कि उसके विषय में किसी भी प्रकार के विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। सापेक्ष होने के कारण हम उसके

---

1 रामकृष्णवचनामृत, (तृतीय भाग), पृ० 87।
2. वही (प्रथम भाग), पृ० 58।
3 शाङ्कर-भाष्य—केन उपनिषद 1/3।
4. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द—खण्ड 3, पृ० 417-18।
5. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द—खण्ड द्वितीय, पृ० 134।
6. वही, खण्ड तृतीय, पृ० 419।
7. वही, खण्ड द्वितीय, पृ० 134।

विषय में 'अस्ति' शब्द का भी प्रयोग नहीं कर सकते।[1] फिर भी ब्रह्म को सत् चित् और आनन्द इन शब्दों से अभिहित किया जाता है।[2] यदि इन्हें (सत् चिदादि को) गुण रूप में स्वीकार किया जाय तो इनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानना पड़ेगा। परन्तु स्वामी जी इनके एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द ये तीनों एक है, भिन्न-भिन्न नहीं।[3] ज्ञान और आनन्द के बिना सत्ता नहीं रह सकती। अत: ये तीनों अभिन्न हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार जीव और ब्रह्म तत्त्वत: एक हैं। उनके अनुसार ब्रह्म अनन्त और विभु है अत: यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जीव को भी अपने मूलरूप में वैसा ही होना चाहिए।

जब वे ब्रह्म और जीव के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं तो वे जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध जल सूर्य को प्रभावित न कर केवल सूर्य के प्रतिबिम्ब को ही प्रभावित करता है, उसी प्रकार अन्त:करण के सद्गुणों या दुर्गुणों से केवल जीव ही प्रभावित होता है शुद्ध चेतन आत्मा या ब्रह्म नहीं।

वहीं दूसरी ओर जब वे ब्रह्म और जगत् की बात करते हैं तो वे कहते हैं कि वास्तव में संसार का स्वरूप ही ऐसा है जिसके कारण उसे असत् घोषित किया गया है। उनका कहना है कि ब्रह्म ही अन्तिम रूप से या तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से सत् है। शंकर ने विश्व को असत् सिद्ध करने के लिए श्रुतियों का भी आश्रय लिया है। श्रुतियों ने सभी कार्यों को असत् बताया है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि 'मृत्तिका के सभी कार्य 'नाम' मात्र हैं, जो केवल वाक् से उत्पन्न हुए हैं। केवल मिट्टी ही सत् है।[4]' शंकर इस दृष्टान्त का प्रयोग संसार और उसके कारण

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द—खण्ड द्वितीय, पृ० 72।
2. वही, खण्ड तृतीय, पृ० 336।
3. वही, खण्ड द्वितीय, पृ० 143।
4. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.1.4।

पर करते हैं।[1] श्रुतियों के अनुसार सभी कार्य असत् होने के कारण, शंकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संसार कार्य है और इसलिए असत् है। इस सम्बन्ध में शंकर ने कुछ ऐसी श्रुतियों को उद्धृत किया है जो कारण से अलग कार्य का अभाव बताती हैं[2] अथवा ब्रह्म से विश्व की अभिन्नता प्रतिपादित करती है[3] और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल ब्रह्म ही सत् है, अन्य सब कुछ असत् है। श्रीरामकृष्ण के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। जब ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है,तो इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि उसके अतिरिक्त जो वस्तुएं होंगी वे निश्चित रूप से असत् होंगी। इसी तर्क के अनुसार श्री परमहंस देव ने जीव और जगत् को जो ब्रह्म की दो अभिव्यक्तियां हैं, असत् कहा। जीव और जगत् आकाश-कुसुम या वन्ध्या-पुत्र की तरह असत् नहीं हैं वरन् भ्रम की भांति असत् हैं। जीव और जगत् को भ्रम कहने का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में श्रीरामकृष्णदेव ने कहा कि जगत् कपूर के समान है। जिस प्रकार कपूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जीव और जगत् का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। जगत् भ्रम की भांति अदृश्य हो जाता है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में श्री परमहंस देव जी ने इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है। जब तक नमक जल से पृथक् होता है, उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है, पर जल के भीतर समाहित होने पर उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर जीव और जगत् का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[4]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह यह है कि यदि ब्रह्म और आत्मा ज्ञान-स्वरूप हैं और एकमात्र तत्त्वं हैं तो आत्मा में भ्रम की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई?

1. तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.1।
2 छान्दोग्य उपनिषद्, 6.4.1 (अपागादग्नेरग्नित्वम् ....)।
3. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.8.7; 7.25. 2, बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.6 मुण्डक उपनिषद् 2.2.11।
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनुवाद, पृ० 263।

इस भ्रम का अधिष्ठान क्या है? इसके उत्तर में तार्किक अद्वैतवादी यही कहेगा कि 'मुझे कुछ भी इसका ज्ञान नहीं हैं' वास्तव में यह प्रश्न ही अमान्य है।

जब तक हमारा पृथक् व्यक्तित्व बना रहेगा, हम निरपेक्ष-सापेक्ष, नित्य लीला, द्रव्य गुण, अपौरुषेय-पौरुषेय तथा एक-अनेक के द्वैत से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। बद्ध अवस्था में निरपेक्ष तत्त्व के विषय में हमारी सारी कल्पनाएँ सापेक्ष रूप की ही होंगी। इसी तथ्य को स्वामी रामकृष्ण देव ने अपने ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया है, 'जब तक हम सापेक्षिकता के धरातल पर खड़े हैं, हमें मक्खन और छाछ दोनों को स्वीकार करना होगा—ईश्वर और जगत् दोनों की सत्ता माननी पड़ेगी। इस उपमान को अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि ब्रह्म ही मानों दुग्ध रूप है तथा मक्खन और छाछ उसकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु दुग्ध ही इन दोनों का मूल रूप है। उसके बिना इन दोनों की सत्ता संभव नहीं है। इसी प्रकार परब्रह्म ही मूल सत्ता है। जीव और जगत् उसकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं अत: जीव और जगत् की सत्ता सापेक्ष है। दार्शनिक क्षेत्र में सापेक्ष सत्ता का कोई महत्त्व नहीं होता। निरपेक्ष सत्ता ही परमसत्ता होती है। इस दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है। जब तक हम बद्ध अवस्था में हैं, ईश्वर असत् नहीं हो सकता। वह शरीर, मन और वाह्य जगत् से कहीं अधिक सत् है। हाँ ब्रह्म साक्षात्कार के बाद वह अवश्य असत् भूत हो जाता है। अनादि अविद्या के कारण जीव को सद्भूत ब्रह्म में असत्-भूत जीव और जगत् उसी प्रकार भासित होते हैं जिस प्रकार अन्धकार के कारण रज्जु में सर्प भासित होता है। जिस प्रकार प्रकाश में रज्जु-सर्प तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा अज्ञानान्धकार का नाश होने पर आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। यह ब्रह्मानुभूति या आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष है।

स्वामी विवेकानन्द आत्मा और परमात्मा में अभेद सम्बन्ध मानते थे। इसे उन्होंने एक सुन्दर रूपक द्वारा समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के भेद को समझाया है। किसी वृक्ष की उच्चतम डाली पर एक सुनहरा पक्षी बैठा है जो बिल्कुल शान्त, सुस्थिर, तेजस्वी और यशस्वी है। उसके नीचे एक अन्य पक्षी बैठा है जो एक डाली

से दूसरी डाली तक फुदकता रहता है। वृक्ष के कुछ फल मधुर हैं पर अन्य तिक्त हैं। नीचे वाला पक्षी कभी मधुर फल का आस्वाद लेता है और सुखी हो जाता है तथा कभी तिक्त फल खाता है और दु:खी हो जाता है। कभी किसी तिक्त फल को खाकर वह इतना दु:खी हो जाता है कि फल खाना ही छोड़ देता है और अपने से ऊपर वाले पक्षी की ओर ध्यान से देखने लगता है जो न मधुर फल खाता है और न तिक्त फल ही और इसी कारण वह न सुखी होता है और न दु:खी ही। ऊपर वाले पक्षी की शांत व सुस्थिर अवस्था को देखकर वह उसी को अपना आदर्श मान लेता है, पर थोड़े समय के बाद उसे पुन: फल खाने की इच्छा सताने लगती है। फिर ज्यों ही वह किसी तिक्त फल को खाता है उसे एक झटका लगता है और पुन: वह ऊपर वाले पक्षी की ओर आकर्षित होता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि उस पक्षी का भ्रम पूर्णरूप से दूर नहीं हो जाता। भ्रम दूर होने पर नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी के समीप पहुँचता है। उसके सान्निध्य और प्रकाश से वह इस प्रकार प्रभावित हो जाता है कि उसके स्वभाव में पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। अब उसे पूर्ण ज्ञान होता है कि वह वास्तव में स्वयं सुनहरा पक्षी था तथा उसके द्वारा मधुर व तिक्त फलों का खाया जाना और उसके परिणामस्वरूप सुख और दु:ख का अनुभव होना एक प्रकार का स्वप्न ही था।[1]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द जीव को ब्रह्म का स्वरूप ही स्वीकार करते हैं। उपरोक्त उदाहरण की प्रेरणा स्वामीजी को मुण्डकोपनिषद के उस मन्त्र से प्राप्त हुई है जहाँ अन्तर्यामी परमात्मा और जीव का वर्णन किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरेक: पिप्पलं स्वादवत्ति

अनश्ननन्येन अभिचाकशिति॥"

1. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 19।

जीव विज्ञान के विकासवाद के सन्दर्भ में इसकी व्याख्या करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि यह ठीक है कि अमीबा से गौतम बुद्ध की उत्पत्ति हुई पर चूंकि जगत में ऊर्जा की सम्पूर्ण मात्रा स्थिर है अतः अमीबा भी शक्ति रूप से गौतम बुद्ध ही रहा होगा। स्वामीजी के शब्दों में—यदि परिवर्तन प्रक्रिया के एक सिरे पर बुद्ध हैं तो दूसरे सिरे पर अमीबा भी बुद्ध का ही एक रूप है। प्रलय के समय विश्व में ऊर्जा की वही मात्रा रही होगी जो सृष्टि के समय थी। स्वामीजी अन्यत्र कहते हैं कि हमारे पैरों के नीचे रेंगने वाले क्षुद्रतम कीटाणु से लेकर उच्चतम साधु तक सब में अनन्त शक्ति, अनन्त शुचिता और अन्य प्रकार की अनन्तता पाई जाती है। - - - -उनके बीच अन्तर केवल अभिव्यक्ति की मात्रा में ही है। कीटाणु उस ऊर्जा को निम्नतम मात्रा में अभिव्यक्त करता है, मनुष्य उसी ऊर्जा को कुछ अधिक मात्रा में, तथा कोई ईश्वरीय व्यक्ति उस ऊर्जा को अधिकतम मात्रा में व्यक्त करता है।[1]

जीव की भांति जगत् भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्म जगत् का सूक्ष्म व विभु रूप है तथा जगत् ब्रह्म का स्थूल रूप है। विश्व में पाए जाने वाले समस्त चैतन्यों की समष्टि ही वह अव्यक्त विश्व चैतन्य है,जो उन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रहा है। इस 'समष्टि चैतन्य को ही 'ब्रह्म' या 'ईश्वर' की संज्ञा दी गयी है। तत्त्व एक ही है और वह ब्रह्म है। वही ब्रह्म जब मायाजन्य देश-काल और निमित्त (कारण) के आवरण में दिखाई पड़ता है, तब उसे जगत् कहते हैं।

ये देश-काल-निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहते हैं। ज्यों ही तरंगे चली जाती हैं, ये भी अन्तर्निहित हो जाते हैं। जीव जिस दिन माया के पार चला जाता है, ये देश-काल और निमित्त स्वयं अदृश्य हो जाएंगें और जीव मुक्ति-लाभ कर लेगा।

---

1. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 249।

प्रकृति ससीम है और आत्मा असीम है। अत: प्रकृति के ऊपर आत्मा की विजय सुनिश्चित है। आत्मा में निहित अजेय शक्ति को विकसित कर हम प्रकृति पर आसानी से विजय-लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

श्री रामकृष्ण देव के ब्रह्म विषयक अवधारणा की समीक्षा हम दो भागों में करेंगे। पहले हम उनके ब्रह्म विषयक उस धारणा को देखें जो उनके द्वारा की गई वेदान्त साधना के पूर्व की है। यहाँ रामकृष्ण परमहंस के लिए ब्रह्म माँ काली ही हैं। वह जगत् की आद्याशक्ति हैं। इसी की शक्ति से जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय होती है। यहाँ पर रामकृष्ण के लिए ब्रह्म सगुण ब्रह्म प्रतीत होता है किन्तु ऐसा सगुण जो निर्गुण के निषेध पर अवलम्बित हो, पूर्ण नहीं हो सकता। तो, प्रश्न उठता है कि क्या यहाँ पर रामकृष्ण के लिए सगुण ब्रह्म अर्थात् 'काली' एक परिमित सत्ता है? अथवा क्या रामकृष्ण निर्गुण का निषेध करते हैं? यहीं पर हम उनके ब्रह्म विषयक दूसरी अवधारणा पर आते हैं जिसका उल्लेख हमने इस अनुच्छेद के प्रारम्भ में ही किया है। यहाँ पर उनकी ब्रह्म विषयक अवधारणा पर उनके अद्वैत वेदान्ती गुरु तोतापुरी के द्वारा करवायी गई वेदान्ती साधना का प्रभाव है।

यहाँ पर रामकृष्ण की धारणा पूरी तरह परम्परागत अद्वैत वेदान्तियों की ही श्रृंखला में है। यानी पारमार्थिक स्तर पर निर्गुण और अद्वैत रूप ब्रह्म ही व्यावहारिक स्तर पर प्रपंच रूप में उपस्थित होता है। किन्तु यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है और वह यह कि इस जगत् को भी वह इष्टमय देखते हैं। व्यवहार दशा में भी उनका वर्तन जगत् को ब्रह्ममय अनुभूत करके ही होता है, नितान्त असत् रूप में नहीं। अत: यहाँ पर यदि वे परम्परागत वेदान्तियों पर लगने वाले आक्षेप—कि वे जगत् की ही व्याख्या करने के स्थान पर उसके अस्तित्व को ही नकार देते हैं—और फिर जगदाधिष्ठान को अनिर्वचनीय घोषित कर देते हैं—रामकृष्ण पर लागू नहीं होता। रामकृष्ण जगत् की व्याख्या के साथ-साथ पारमार्थिक सत्य को भी अपने आचरण, अपने जीवन अथवा कबीर के शब्दों में कहें तो अपनी 'रहनी' के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। मैक्समूलर के शब्दों

में 'रामकृष्ण का जीवन समग्र भारतीयों की पाँच हजार वर्षों की आध्यात्मिकता का जीवन्त प्रतीक है।' वेदों और पुराणों में निहित आदर्शों के वह जीवन्त प्रतिरूप थे और विवेकानन्द के शब्दों में वेद-वेदान्त के श्रेष्ठ भाष्य रूप।

विश्व में विविधता या अनेकता दिखलाई पड़ती है। परन्तु इसका आन्तरिक स्वरूप एकता है क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि एक सृष्टा (ईश्वर) की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार स्वर्ण से निर्मित विभिन्न आभूषण तत्त्वतः स्वर्ण ही हैं क्योंकि सभी स्वर्ण के ही विकार हैं उसी प्रकार जड़ चेतन आदि विविधताओं से भरी हुई सृष्टि तत्त्वतः एक ही ईश्वर की सृष्टि है। इस प्रकार वाह्य विविधता में आन्तरिक एकता है क्योंकि सभी विविधताओं का कारण एक ईश्वर ही है। जिस प्रकार नदी के प्रवाहों में विविधता दिखलाई पड़ती है परन्तु नदी की आन्तरिक एकता ही विभिन्न प्रवाहों में प्रवाहित दिखलाई देती है उसी प्रकार स्वामीजी कहते हैं कि वाह्य विविधता ही दृष्टि से व्यक्तियों में, वर्णो में ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, देवता-मनुष्य, पशु आदि का भेद अवश्य दिखलाई देता है परन्तु आन्तरिक (तात्त्विक) एकता की दृष्टि से सभी में अभेद हैं क्योंकि एक ही के वे सभी अनेक स्पन्दन हैं।[1]

स्वामी विवेकानन्द के उद्‌गारों में सर्वाधिक उद्धरण उपनिषदों के हैं और उनके दर्शन के निर्माणकारी तत्त्वों में उपनिषदों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। औपनिषदिक ब्रह्मवाद की आधुनिक जीवन में उपादेयता उन्हीं के दर्शन में सर्वाधिक ओजस्विता और तीक्ष्णता के साथ दिखती है। ब्रह्म के सगुण रूप की आराधना—जिसमें रामकृष्ण की दास्य, वात्सल्य, मधुर आदि भाव शामिल कहे जा सकते हैं—की अपेक्षा वीर भाव उन्हें अधिक अभीष्ट है। विवेकानन्द स्पष्ट उद्‌घोषणा करते हैं कि उन्होंने एक नये उपनिषद-बलोपनिषद्-की रचना की है जिसका मूल मंत्र है 'अभय' उन्हीं के शब्दों में—उपनिषद् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सन्देश उसके प्रत्येक पृष्ठ पर उल्लिखित सर्वाधिक जीवनदायक सन्देश यदि कोई है तो वह है 'निर्भयता'।

---

1. If yor go beyond the surface, you will find that unity between man and man, between races and races, high and low, rich and poor.........men and animals.... ....all will be seen as only vibrations.

—Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. I, P. 123.

स्पष्ट है कि विवेकानन्द का ब्रह्म सिद्धान्त उस तरह का शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है जो शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया है। वह सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक और अनुभूतिशील है। बुद्ध की भांति उनका भी उद्देश्य शुष्क दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा न होकर मानवमात्र की अज्ञानता, दुर्बलता और पीड़ा का निवारण था। अत: उनके ब्रह्म विषयक सिद्धान्तों को भी इसी सन्दर्भ में देखना उचित होगा। वे दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा अवश्य करते हैं किन्तु उनका उद्देश्य उस सिद्धान्त को एक साधारण व्यक्ति के जीवन से जोड़ना था। अत: वह मानव के उद्बोधक हैं और उनका दार्शनिक अनुदान भी यही है। सिद्धान्त रूप में उन्हें शंकराचार्य का अथवा यह कहें कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित औपनिषदिक ब्रह्मवाद स्वीकार्य है। हाँ, अपने उद्देश्य पूर्ति हेतु वह उसके कुछ पक्षों पर विशेष बल देते हैं जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है। आत्मा का ब्रह्म से तादात्म्य, ब्रह्म के पर और अपर लक्षण आदि वह स्वीकार करते हैं। अत: उनका ब्रह्म विषयक सिद्धान्त अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं में जहाँ एक ओर उपनिषदों और शंकराचार्य को संस्पर्श करता है वहीं शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त पर किए जाने वाले आक्षेपों का परिहार भी रामकृष्ण के आध्यात्मिक अनुभवों के आलोक में उनके द्वारा दर्शन को व्यवहारिक जीवन से पूर्णतया समीकृत कर देने से हो जाता है। यही उनके ब्रह्मवाद की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक समीक्षा है।

तृतीय परिच्छेद

माया सिद्धान्त

इस परिच्छेद में ब्रह्म अथवा आत्मा की विस्तृत रूप से समीक्षा करने के पश्चात् अद्वैत वेदान्त के दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रत्यय माया, अज्ञान या अविद्या पर विचार किया गया है। माया की अवधारणा अद्वैत वेदान्त के रहस्य के लिए कुन्जी का काम करती है। इसे समझे बिना कोई व्यक्ति अद्वैत वेदान्त के परमतत्त्व (ब्रह्म) को नहीं समझ सकता। अद्वैत वेदान्त में माया को मिथ्या, भ्रम, भ्रान्ति, अविद्या अध्यास आदि अनेक शब्दों से संकेत किया गया है। इस भ्रम या भ्रान्ति के कारण ही हम विषयी और विषय में, जो प्रकाश और अन्धकार के समान विरोधी धर्म हैं, भेद नहीं कर पाते हैं। यही अध्यास हैं, क्योंकि ब्रह्म भिन्न जगत् को यह ब्रह्म में अध्यस्त कर देती है। माया अपनी आवरण और विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप (सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप) को आवृत्त कर उस पर असत् रूप जगत् का आरोप कर देती है। इसे अनिवर्चनीय कहा गया है, क्योंकि यह न सत् है, न असत् है। अनिवर्चनीय का तात्पर्य यह है जिसका निर्वचन संभव न हो। निर्वचन सत् रूप अथवा असत् रूप दो रूपों में संभव होता है। एवं अमुक वस्तु असत् है—यह असत् रूप निर्वचन है। माया अनिवर्चनीय है क्योंकि वह सत् नहीं है। सत् न होने का कारण यह है कि सत् एक मात्र ब्रह्म ही है। एवं अविद्या की निवृत्ति के उपरान्त एकमात्र ब्रह्म की ही सत्यता उद्घाटित होती है किन्तु माया असत् भी नहीं है क्योंकि वह इस समस्त जगत प्रपंच को उपस्थित करती है। अत: सत् और असत् से विलक्षण होने के कारण वह सद्सत्निर्वचनीय है। सदानन्द योगीन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्तसार' में अज्ञान का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

अज्ञानं तु सद्सद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञान विरोधी भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यमज्ञ इत्याद्यनुभवात् ''देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्'' इत्यादिश्रुतेश्च।

इस अनिवर्चनीय माया को अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की उपाधि से स्वीकार किया गया है। इस उपाधि से उपहित होकर निर्विशेष, निर्गुण, निराकार ब्रह्म सगुण, सविशेष अनन्त शक्ति सम्पन्न ईश्वर के रूप में भाषित होता है। यह ईश्वर मायापति तथा सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण तथा जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता है। शक्ति और शक्तिमान में अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। अत: यह माया ईश्वर में ओत-प्रोत भाव से स्थित रहती है।

वस्तुतः माया को बुद्धितत्त्व से गम्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि बुद्धि कार्य रूप है। सृष्टिक्रम में उसका आविर्भाव हुआ है और यह अविर्भाव प्रधानतः माया के ही सत्त्वगुण से हुआ है। अद्वैत वेदान्त की सृष्टि मीमांसा में माया के राजसिक पक्ष से पञ्चप्राणों की उत्पत्ति, सत्त्वपक्ष से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति एवं तमस् पक्ष से तन्मात्राएँ एवं महाभूतों की उत्पत्ति बतलाई गई है। इस प्रकार बुद्धि एक कार्य है, रचना है, सृष्टि है जिसका कारण माया है। संक्षेप में, माया ही संसार की सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता तथा समस्त सांसारिक व्यवहारों की व्याख्या है।

इस संक्षिप्त शास्त्रीय व्याख्या के प्रकाश में अब हम श्रीरामकृष्णदेव तथा स्वामी विवेकानन्द के माया सम्बन्धी विचारों का अनुशीलन करेंगे। श्रीरामकृष्ण देव माया को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति मानते हैं जो ब्रह्म के तटस्थ लक्षण—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते--------- के सन्दर्भ में उसकी कार्यकरणात्मिका शक्ति है। यही शक्ति आद्याशक्ति, माँ, काली आदि संज्ञाओं से अभिहित है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया की कल्पना परम्परागत औपनिषदिक दर्शन में प्राप्त है। माया का यह शास्त्रीय रूप है। स्वामी विवेकानन्द के माया सिद्धान्त की भी पृष्ठभूमि है।[1]

स्वामीजी के अनुसार माया जीवन और जगत् का एक तथ्य है, कोरा सिद्धान्त नहीं। उस तथ्य को चाहे हम जड़ कहें या चेतन, वस्तुस्थिति वही रहेगी अर्थात् हमारे कथन से वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं। हम यह नहीं कह सकते कि उनका भाव है, हम यह भी नहीं कह सकते कि उनका अभाव है। हम यह नहीं कह सकते कि वे एक हैं और न ही यह कह सकते हैं कि वे अनेक हैं। प्रकाश और अन्धकार की सह-स्थिति यहाँ शाश्वत है जो अपृथक् और अविभाज्य है। यह एक तथ्य है और एक ही समय तथ्य नहीं भी है, जाग्रत है और उसी समय सोया भी है—यह तथ्यात्मक विवरण है और इसे ही माया कहते हैं। यही वचन विन्यास के परे अनिर्वचनीय है। यह अद्वैत की अनिवर्चनीयता की एक नयी व्याख्या है। माया का स्वरूप श्री रामकृष्ण देव के मत में

1. What you call matter or spirit or mind or anything else you may like to call them, the fact remains the same? We cannot say that they are. We cannot say that they are not. We cannot say they are one or many. This eternal play of light and darkness indiscriminately indistinguishable, inseprarable is always there. A fact yet at the same time not a fact, awake at the time asleep. This is statement of fact and this is called Maya.

—Swami Vivekananda, Lecture in London ·1896, p. 120.

ठीक आचार्य शंकर का स्वीकृत रूप जैसा न होकर वैष्णव आचार्यो से मिलता-जुलता है। विद्या माया और अविद्या माया के भेद से माया दो प्रकार की है।[1] प्रथमा ईश्वर प्राप्ति में सहायिका है एवं द्वितीया विषयबुद्धि को उत्पन्न कर ईश्वर स्वरूपावर्तिका है।[2]

माया न सत् है और न असत् है। इसका क्या अर्थ है? 'जगत् मिथ्या है' इसका क्या अर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामीजी कहते हैं 'इसका अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है।'

पुन: स्वामीजी कहते हैं कि माया वस्तुत: नामरूप के सिवाय और कुछ नहीं है।[3] यदि नामरूप का त्याग कर दिया जाय तो परमतत्त्व ही अवशिष्ट रह जाएगा। जो भी पार्थक्य और परिवर्तन प्रतीत होता है वह उस नामरूप के कारण ही होता है।[4] इसी को दूसरे शब्दों में देश, काल व निमित्त कहते हैं।[5] अद्वैत वेदान्त के समान स्वामीजी भी माया की सद्सदनिर्वचनीयता करते हैं। ''माया के विषय में न तो यह कहा जा सकता है कि उसका अस्तित्व नहीं है क्योंकि उसी ने समस्त भेद उत्पन्न किए हैं, न ही इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि उसका अस्तित्त्व है क्योंकि वह सदैव दूसरे पर ही आश्रित रहती है।[6] यद्यपि परमार्थत: उसका अस्तित्त्व नहीं है, फिर भी व्यवहार में उसे अनिर्वचनीय कह सकते हैं।[7]

माया मनुष्य जीवन और जगत् के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। ''जगत् सत् और आभास तथा निश्चय और भ्रम का एक अपरिभाष्य मिश्रण है।[8] माया शब्द का यह तात्पर्य नहीं है कि जगत 'विशुद्ध भ्रम' या 'विभ्रम' है। 'माया' शब्द का केवल यही अर्थ है कि यह

---

1. टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण, पृ० 12.
2. वही, पृ० 12.
3 ज्ञानयोग, पृ० 86.
4. थॉट्स आफ वेदान्त, पृ० 9.
5. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 2, पृ० 112.
6. वही, खण्ड 2, पृ० 275-76.
7. थॉट्स आफ वेदान्त, पृ० 9.
8. 25 मार्च, 1986 को हार्वर्ड के दर्शन परिषद के अभिभाषण से उद्धृत।

असंगतियों और व्याघातों से परिपूर्ण है। अत:, यह सत् नहीं हो सकता। स्वामीजी अपने व्याख्यान में स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि 'जगत् न सत् है और न असत ही। तुम इसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि वास्तविक रूप में सत् वही हो सकता है जो देश और काल से अतीत हो तथा स्वयंभू हो। इतना होते हुए भी जगत् के भीतर कुछ न कुछ सत् अवश्य पाया जाता है। अत: हम कह सकते हैं कि इसके भीतर आभासी सत् है।''[1] इसके विपरीत ब्रह्म पूर्ण सत् है क्योंकि वहाँ विरोध, व्याघात या असंगति नाममात्र के लिए भी नहीं है। वहाँ सभी असंगतियों का शमन हो जाता है।

उपर्युक्त बातों से यह अर्थ कदापि नहीं निकाल लेना चाहिए कि वह वस्तु जिसमें असंगतियाँ या विरोधाभास पाए जाते हैं, वह बिल्कुल निरर्थक है। संसार की कोई वस्तु सार्थक है या निरर्थक है, इस बात पर निर्भर करती है कि उसके प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण है, अथवा व्यवहार में हम उस वस्तु का किस प्रकार प्रयोग करते हैं। विज्ञान का एक उदाहरण देते हुए स्वामीजी कहते हैं कि आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर एक ऐसे गैस का भी निर्माण कर सकते हैं जो विनाशकारी अग्नि को उत्पन्न करती है।[2] माया शब्द का प्रयोग बहुधा अज्ञान, असत्य, मोह, लोभ, आसक्ति, बन्धन, वासना, काम इत्यादि भावनाओं के लिए किया जाता है। यही कारण है कि साधु, सन्त और दार्शनिक लोग माया के त्याग का पाठ पढ़ाते हैं। लोग कहते हैं कि संसार-त्याग से ही हमे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार यह निराशावादी दृष्टिकोण है। जगत् में सब बुराइयाँ ही नहीं पाई जाती— यह सत्-असत्, पुरुष-प्रकृति, स्वतंत्रता-परतन्त्रता और बुद्धि-वासना दोनों का समुच्चय है। ''हमें माया के साथ संघर्ष करते हुए उस वस्तु तक पहुँचना है जो माया से अतीत है।'' यह सोचकर कि जगत् में अशुभ पाया जाता है, जगत् का परित्याग नहीं करना चाहिए। जो मनुष्य यह कहता है कि 'संसार को पूर्ण मंगलमय हो जाने दो, तब मैं कार्य करूँगा और आनन्द भोगूँगा' उसकी बात उसी व्यक्ति की तरह है जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका सारा पानी समुद्र में पहुँच जाएगा तब मैं इसके पार जाऊँगा। दोनों

---

1. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 105.
2. श्रीरामकृष्ण के सिद्धान्त (गास्पेल) से उद्धृत, पृ० 94।

बातें असंभव हैं।'[1] मोक्ष का मार्ग माया के साथ ही नहीं, वह माया के विरुद्ध है। हम प्रकृति के सहायक रूप में जन्म नहीं लिए हैं वरन् प्रकृति के विरोधी होकर जन्म लिए हैं। "मानव-जाति का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ उसके युद्ध का इतिहास है और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है।"[2] अतः विवेकानन्द निराशावादी न होकर पूर्ण आशावादी विचारक हैं।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार माया जीवन का एक तथ्य है। इसके द्वारा हमें पता चलता है कि जगत् की यथावत स्थिति क्या है? संसार की सभी वस्तुएँ स्थित हैं। इनका ज्ञान हमें होता है, यह तथ्य है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः जगत् की तथ्यात्मक स्थिति का ज्ञान हमें माया के कारण ही होता है।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि जगत् में विभिन्न प्रकार के पदार्थ स्थित हैं। जगत् के सभी पदार्थों को यथावत स्थित स्वीकार किए बिना हम जगत् के सम्बन्ध में कुछ नहीं सोच सकते, न किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकते हैं। जगत् की कोई भी व्याख्या जागतिक वस्तुओं को स्थित मानकर ही सम्भव है। यदि मान लें कि जगत् भ्रम है, इसकी सत्ता नहीं है, यह तो प्रतीति है परमार्थ नहीं, कल्पित है वास्तविक नहीं, तो हम जगत् की व्याख्या नहीं कर सकते। अतः किसी भी व्याख्या के लिए आवश्यकता है कि व्याख्येय विषय की स्थिति को स्वीकार करें। व्याख्येय विषयों की स्थिति हम से स्वतन्त्र है अर्थात् संसार भौतिक और आध्यात्मिक विषयों से भरा है—यह एक तथ्य है जिसे माया कहते हैं। इस प्रकार माया संसार का सिद्धान्त नहीं वरन् जगत का तथ्यात्मक (यथास्थिति का) विवरण है।

इस तथ्यात्मक विवरण की विशेषता यह है कि इससे हमें विरोधों और व्याघातों का बोध होता है। विश्व बड़ा ही विचित्र है, यह विरोधों से भरा है। सुख का विरोधी दुःख, शुभ का विरोधी अशुभ, दिन का विरोधी रात, जीवन का विरोधी मृत्यु सभी विद्यमान है। संसार में जो भी वस्तु स्थित है उसका विरोधी भी विद्यमान है। इस प्रकार ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई संसार में

1. ज्ञानयोग, पृ० 37-38.
2. वही पृ० 38.
3. Maya is not a theory, it is simply a statement of facts about the universe as it exists. Maya and the conception of God.
—Swami Vivekananda. Lecture in London, 1896.

धर्म नहीं जिसकी विरोधी वस्तु या धर्म न विद्यमान हो। यदि जन्म सत्य है तो उसका विरोधी मरण भी बिल्कुल सत्य है। जगत् की इस तथ्यागत स्थिति को हमें स्वीकार करना है। यही तथ्यात्मक विवरण है। प्रायः हम एक ही पक्ष को देखते हैं और उसके विरोधी विपक्ष पर ध्यान नहीं देते—यह तथ्यात्मक विवरण नहीं। जगत् के इस तथ्यात्मक विवरण की अभिव्यक्ति सरल नहीं। अभिव्यक्ति सकारात्मक या नकारात्मक होती है। हम भावात्मक या निषेधात्मक भाषा के माध्यम से ही किसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु जहां भाव और उसका विरोधी अभाव एक ही साथ समान रूप से तथ्य दिखलाई पड़े इसे अभिव्यक्त करना असाधारण कार्य है। ऐसी असाधारण स्थिति के लिए असाधारण भाषा का प्रयोग करना होगा। यह असाधारण भाषा का प्रयोग 'अनिर्वचनीय' कहलाता है। 'अनिवर्चनीय' वही है जो वचन विन्यास के परे हो। दो विरोधी धर्म या गुण वाले वस्तुओं की अभिव्यक्ति वचन विन्यास की विफलता का सूचक है। हम भाव और अभाव की अभिव्यक्ति एक ही साथ कैसे कर सकते हैं? यही तथ्यात्मक स्थिति की अनिर्वचनीयता है।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीति है, जिसकी भी प्रतीति है, वह अविद्या है; प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी अविद्यामूलक हैं। ऋग्वेद या अन्य प्राचीन शास्त्रों की तरह शंकर माया को सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति मानते हैं। अपनी अनिर्वचनीय दिव्य शक्ति के द्वारा ही वह विश्व की रचना करता है[1] और स्वयं उससे अप्रभावित रहता है। शंकर कहते हैं कि इस शक्ति को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा "इसके बिना ईश्वर को संसार का सृष्टा नहीं माना जा सकता, क्योंकि कार्य-शक्ति के बिना यह क्रियाशील ही न हो सकेगा।"[2] इस माया अथवा कारण शक्ति का आधार ईश्वर है। उसे अव्यक्त कहते हैं। परमेश्वर की इसी माया को शास्त्रों में कभी-कभी 'आकाश' या कभी-कभी 'अक्षर' भी कहा गया है।[3] श्रुति और

1. शां भा० गीता, उपोदघात।
2. शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 1.4.3.
3. वही।

स्मृति में जिसे प्रकृति कहा गया है वह यही माया है; और सर्वज्ञ ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले जो नामरूप हैं; जिसे इस दृश्य जगत् का बीज कहा गया है, और जिसे न सत् कह सकते हैं और न असत् वह माया ही है।[1]

माया का स्वरूप श्री रामकृष्ण-परमहंस के मत में ठीक आचार्य शंकर के स्वीकृत रूप जैसा न होकर वैष्णव आचार्यों से मिलता-जुलता है।

माया के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्री परमहंस देव कहते हैं—'माया को जानने की इच्छा के फलस्वरूप मुझे एक दिन दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। मैंने देखा कि पानी की एक छोटी बूँद फैलकर एक बालिका का रूप धारण कर रही हैं। वह बालिका एक स्त्री का रूप धारण कर लेती है और पुनः एक बच्चे को जन्म देती हैं; और ज्यों ही बच्चे ने जन्म लिया, उसे उठाकर वह स्त्री उसे एकदम निगल जाती है। इसी प्रकार उस स्त्री के गर्भ से कई बच्चे उत्पन्न हुए पर उत्पन्न होने के बाद ही उसने उन सभी बच्चों को खा लिया। इसके बाद मुझे ज्ञात हुआ कि वह स्त्री और कोई नहीं स्वयं माया ही थी।[2] इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की एक अचिन्त्य शक्ति माया से ही इस समस्त जगत् प्रपंच की रचना होती है। वैसे ही जैसे पानी की बूँद, पानी की एक छोटी बूँद बनकर बालिका का रूप धारण कर रही है। पुनः वही माया अपने सत्त्व, रज और तम् तीनों पक्षों से विकसित होती हुई जीव का रूप धारण करती है जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड का सार विद्यमान होता है। जिसका प्रमाण स्वयं श्रुति है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे (छान्दोग्य-उपनिषद् का आरुणि सिद्धान्त)।

इस जीव भाव से ही अविद्याकृत बन्धनों की सृष्टि होती है जो पुनः जीवभाव को पोषित करते हैं। अतः अविद्या से अविद्याजनित उपादान उत्पन्न होते हैं। और वे उपादान पुनः अविद्या में ही स्थित होते हैं। यही उस स्त्री का बच्चों को जन्म देना और पुनः उन बच्चों को खा जाना है। इसका एक दूसरा निहितार्थ यह भी है कि ईश्वर की माया ही सत् के वास्तविक का स्वरूप पर

---

1. शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 2.1.14.
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 10,—स्वामी ब्रह्मानन्द।

आवरण डाल देती है और मुक्तावस्था में ईश्वर की माया जीव की इसी अविद्या को अपने समष्टि रूप में विलीन कर लेती है। स्वामीजी बड़े सहज भाव से कहते हैं कि मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में माया का केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ नवीन प्रत्यक्ष करते तथा अधिक इन्द्रिय सम्पन्न होने पर हम इसे और भी विभिन्न रूपों में देख पाते। अतएव इसकी अपरिवर्तनीय, अचल, अनंत सत्ता नहीं है। पर इसको अस्तित्वहीन भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसके साथ मिलकर ही हमें कार्य करना होगा। यह सत् और अंसत् का मिश्रण है।[1] माया के स्वरूपाच्छेदक स्वभाव की ओर संकेत करते हुए स्वामीजी ने अपने एक व्याख्यान में कहा कि माया सर्वशक्तिमान् मनुष्य की शक्तियों को कुण्ठित कर देती है, वह उसे स्वरूप से च्युत कर वाह्य विषयों में—मृगमरीचिकाओं में—भटकने को विवश कर देती है, वह एक युवक के, एक वैज्ञानिक के समस्त उल्लास, उमंग, उत्साह और आशाओं पर तुषारपात कर देती है। वही शक्ति माया है।[2] माया के स्वरूप में जो अर्न्तविरोध है उसे स्वामीजी ने अनेकशः रेखांकित किया है। वे कहते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु विरुद्ध स्वभाव से युक्त है। 'जहाँ मंगल है, वहीं अमंगल भी है और जहां अमंगल है, वही मंगल भी है। जहाँ जीवन है, वही मृत्यु छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है। जो हँस रहा है, उसी को रोना भी पड़ेगा। जो रो रहा है, वह भी हँसेगा। यह क्रम बदला नहीं जा सकता।"[3] यही माया है। विवेकानन्द के अनुसार 'मंगल और अमंगल' ये दो एकदम विभिन्न सत्ताएँ नहीं है। इस संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे एकदम शुभ या अशुभ कहा जा सके। सम्पूर्ण जगत् ही शुभ और अशुभ का यौगिक है। इसीलिए स्वामीजी कहते हैं, "यदि अमंगल को दूर करना चाहो तो साथ ही तुम्हें मंगल को भी दूर करना होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। मृत्यु को दूर करने के लिए जीवन को भी दूर करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और दुःखहीन सुख

1. ज्ञानयोग, पृ० 16.
2. कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ०118-21.
3. ब्रह्मसूत्र भाष्य, 11 पृ० 26-27.

परस्पर विरोधी बातें हैं। इनमें कोई सत्य नहीं है क्योंकि दोनो एक ही वस्तु के विकास हैं।"[1]

माया का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह प्रश्न तो विरोधाभास युक्त है। एक अनन्त और निरपेक्ष तत्त्व को स्वीकृत कर लेने पर माया की उत्पत्ति का प्रश्न नहीं किया जा सकता। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सद्रूप है नहीं जिसको माया का कारण माना जाए परन्तु ब्रह्म को भी माया की उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह कार्य-कारण के सम्बन्ध से परे है। कार्य-कारण से परे क्यों, यह पूछना ही असंगत है।[2] अत: इस विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि माया का कारण माया ही है अथवा भ्रम का कारण अज्ञान ही है।[3]

ब्रह्म और माया के सम्बन्ध के विषय में पिछले अध्याय में विस्तृत रूप से चर्चा हो चुकी है इसलिए इस अध्याय में इनके सम्बन्धों को संक्षेप में ही बताया जाएगा।

आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति इस माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण संसार की बीज है।[4] वह समस्त इन्द्रियानुभाविक विश्व का कारण है। वही सब शरीरों और इन्द्रियों की रचना करती है। उसी से सोलह कार्य और सात कार्य-कारण उत्पन्न होते हैं।[5] तीन गुणों वाली माया ईश्वर की अपनी शक्ति है और वही संसार की सब वस्तुओं की मूल स्रोत है।[6] इसे अव्यक्त कहते हैं क्योंकि इसका वर्णन न सत् कहकर किया जाता है और न असत् कहकर।[7] जिस प्रकार शक्ति शक्तिमान से अभिन्न होती है वैसे ही माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न है।[8] वास्तव में, शंकर के ब्रह्मवाद में जिस किसी वस्तु का अस्तित्व

---

1. ब्रह्मसूत्र भाष्य, II पृ० 28.
2 कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 4, पृ० 299।
3. विवेकानन्द-साहित्य, खण्ड 6, पृ० 288।
4. शां० भा० गीता, 7.4, 13.19, 13.29।
5. शां० भा० गीता, 13.20।
6. वही 14.3।
7. शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 1.4.3।
8 शां० भा० गीता, 14.4 (सा शक्ति: ब्रह्म एव - - - - - - शक्ति शक्ति मतो: अनन्यत्वात्)

है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किन्तु अभिन्नता से शंकर का तात्पर्य तादात्म्य नहीं है। श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि शंकर के लिए अभिन्नता का अर्थ भिन्नता को अस्वीकार करना मात्र है। इसका अर्थ तादात्म्य स्वीकार करना नहीं है।[1] शंकर के मतानुसार माया ईश्वर की वह आश्चर्यजनक रचनात्मक संकल्पशक्ति है जिसमें असीम कारण-कार्य शक्यता है। शंकर ने विशेष रूप से यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस विश्व की उत्पत्ति आदि का कारण मायोपहित ईश्वर ही है।

यहाँ हमें केवल इतना बताना अभीष्ट है कि शंकर के अनुसार संसार की कारण-शक्ति केवल माया है और उस माया का आश्रय और आधार सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

श्रीरामकृष्ण देव जी कहते हैं कि ब्रह्म और माया के बीच वही सम्बन्ध है जो स्थिर सर्प और गतिशील सर्प के बीच होता है। गतिज शक्ति माया है और स्थितिज शक्ति ब्रह्म है।[2] ब्रह्म और माया में शक्तिशक्तिमान की दृष्टि से ब्रह्म और माया में अभेद सम्बन्ध है। निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय माया वास्तव में एक ही हैं। श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर की उपासना मातृशक्ति के रूप में की है। जो सत्-चित्-आनन्द रूप ब्रह्म हैं वही आनन्दमयी, जगत्जननी शक्ति है। श्रीरामकृष्ण देव परमतत्त्व एवं उसकी शक्ति में अभेद सम्बन्ध पर बल देते हुए कहते हैं कि "ब्रह्म और शक्ति में अभेद है, एक को मानिये तो दूसरे को मानना ही पड़ता है, जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति होती है। सूर्य को पृथक् कर किरणों की कल्पना नहीं की जा सकती और न सूर्य के विषय में किरणों को छोड़कर ही सोचा जा सकता है। दुग्ध और उसकी धवलता में तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः ब्रह्म को छोड़कर शक्ति के विषय में विचार नहीं किया जा सकता और न ही शक्ति को छोड़कर ब्रह्म के विषय में विचार हो सकता है।[3] शक्ति के बिना शिव उसी प्रकार सृष्टि रचना करने में असमर्थ है जिस प्रकार कुम्भकार बिना जल के मृत्तिका मात्र से पात्र का निर्माण करने में।[4]

---

1. भामती, 2.1.14; शां० भा० ब्रह्मसूत्र, 1.24।
2 श्रीरामकृष्ण उपदेश, मलापुर मठ, मद्रास, 1969, पृ० 261।
3. रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 122।
4 टीचिंग्स ऑफ रामकृष्ण परमहंस, पृ० 4-5।

परमतत्त्व एवं शक्ति में अभेद सम्बन्ध को स्वीकार करने के कारण श्रीरामकृष्ण बल्लभ वेदान्त के अधिक समीप है। परन्तु साथ ही तत्त्व एवं शक्ति में अपार्थक्य को स्वीकार करने के कारण उनके विचार श्री रामानुज से भी मिलते जुलते हैं। रामानुज के अनुसार भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि न तो अनुभव से ही हो सकती है और न प्रमाणों से ही। पदार्थ का समुचित स्वरूप ही सब प्रमाणों एवं अनुभवों का विषय है। यह आनुभाविक एवं प्रामाणिक निष्कर्ष ब्रह्म के सविशेष स्वरूप को मानने के लिए विवश करता है। पदार्थ एवं शक्ति में श्रीरामकृष्ण ने अभेद सम्बन्ध माना है।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि ब्रह्म और माया में वही सम्बन्ध है जो शान्त समुद्र और क्षुब्ध समुद्र के बीच होता है। जिस प्रकार कोई कुम्हार सूखी मिट्टी द्वारा किसी घड़े का निर्माण नहीं कर सकता, उसके लिए जल की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शिव (ब्रह्म) शक्ति (माया) के बिना सृष्टि का कार्य नहीं कर सकते।[1]

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव माया की उपमा बादलों से और ब्रह्म की उपमा स्वच्छ आकाश से देते हैं। कभी-कभी ब्रह्म की उपमा सूर्य से भी दी गई है। जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किये रहता है, किन्तु साधारण बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के आवरण के कारण नहीं देख पाते।[2]

माया की अवास्तविकता को दर्शाने के लिए श्रीरामकृष्ण देव ने एक दीपाधार त्रिपार्श्व (Chandelier Prism) उदाहरण दिये हैं जिससे लाल, पीले और नीले रंग की किरणें विकीर्ण होती हैं जिस प्रकार प्रिज्म या त्रिपार्श्व से निकलने वाले सभी रंग असद्भूत हैं, ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् भी असत् ही है। केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है।[3]

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अध्याय 2, पृ० 39।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश—स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ० 12।
3 वही, अं० अनुवाद, पृ० 41।

श्रीराम कृष्ण कहते हैं कि ईश्वर के अन्दर विद्या माया और अविद्या माया दोनों निवास करती हैं। विद्या मनुष्य को ईश्वर के पास ले जाती है, पर अविद्या उसे ईश्वर से बहुत दूर फेंक देती है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, अनुकम्पा—ये सभी विद्या के अभिन्न रूप हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।[1]

माया की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं कि आत्म-व्याघात (Self Contradiction) ही इसका स्वभाव है। संसार की प्रत्येक वस्तु विरुद्ध स्वभाव से युक्त है। 'जहां मंगल है, वहीं अमंगल भी है और जहां अमंगल है, वहीं मंगल भी है। जहाँ जीवन हैं, वहीं मृत्यु छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है। जो हँस रहा है, उसी को रोना भी पड़ेगा। जो रो रहा है, वह भी हंसेगा यह क्रम बदला नहीं जा सकता।[2] यही माया है। विवेकानन्द के अनुसार 'मंगल और अमंगल' ये दो एकदम विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। इस संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे एकदम शुभ या एकदम अशुभ कहा जा सके। सम्पूर्ण जगत् ही शुभ और अशुभ का यौगिक है। इसीलिए स्वामी जी कहते हैं "यदि अमंगल को दूर करना चाहो तो साथ ही तुम्हें मंगल को भी दूर करना होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। मृत्यु को दूर करने के लिए जीवन को भी दूर करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और दुःखहीन सुख परस्पर विरोधी बातें हैं। इनमें कोई सत्य नहीं है क्योंकि दोनों एक ही वस्तु के विकास हैं।"[3]

माया सत् का आन्तरिक विरोध (Contradiction) न होकर केवल उसका साधारण विरोध (Contrariety) ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म पूर्ण सत् है और माया पूर्ण असत् है। वास्तव में माया सत् और असत् दोनों का मिश्रण है। भगिनी निवेदिता से वार्तालाप करते हुए एक दिन स्वामीजी ने उससे कहा "बौद्ध दर्शन मनुष्यों को शिक्षा देता है कि संसार में सब कुछ भ्रम है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त यह शिक्षा देता है कि भ्रम में भी सत् शामिल है।[4] माया सिद्धान्त मनुष्य,

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनुवाद, पृ० 42।
2. 'अनन्यत्वम् व्यक्तिरेकेण अभावः' ब्रह्मसूत्र भाष्य II, 1, 14, पृ० 26-27।
3. ज्ञानयोग, पृ० 28।
4 भगिनी निवेदिता से वार्तालाप

जीवन और जगत् के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। "जगत् सत और आभास तथा निश्चय और भ्रम का एक अपरिभाष्य मिश्रण है।[1] स्वामीजी कहते हैं कि माया शब्द का यह तात्पर्य नहीं है कि जगत् 'विशुद्ध भ्रम' या 'विभ्रम' है। 'माया' शब्द का केवल यही अर्थ है कि यह असंगतियों और व्याघातों से परिपूर्ण है। अत:, यह सत् नहीं हो सकता। विवेकानन्द के शब्दों में—"जगत् न सत् है और न असत् ही। तुम इसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि वास्तविक रूप में सत् वही हो सकता है जो देश और काल से अतीत हो तथा स्वयंभू हो। इतना होते हुए भी जगत के भीतर कुछ न कुछ सत् अवश्य पाया जाता है। अत: हम कह सकते हैं कि इसके भीतर आभासी सत् है।[2] तो यह लगता है कि स्वामीजी जगत् के मिथ्यात्व पर उतना बल नहीं देते जितना कि अद्वैत वेदान्त की शास्त्रीय परम्परा देती है। वे व्यवहारिक जगत् की सत्यता पर अधिक बल देते हैं क्योंकि तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में वे जिस क्रियाशील जीवन की स्थापना का लक्ष्य लेकर चल रहे थे उसमें बार-बार जगत मिथ्यात्व का प्रतिपादन बाधक बन सकता है। इसके विपरीत ब्रह्म पूर्ण सत् है क्योंकि वहां विरोध व्याघात या असंगति नाममात्र के लिए भी नहीं है। वहाँ सभी असंगतियों का शमन हो जाता है।

आचार्य शंकर के अनुसार माया के मूलत: दो कार्य है। माया वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है। माया के कारण वस्तु के स्वरूप पर आवरण पड़ जाता है। जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाला साँप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है, उसी प्रकार माया सत्य पर आवरण डाल देती है। माया का यह निषेधात्मक कार्य है। माया के इस कार्य को आवरण (Concealment) कहा जाता है। माया का दूसरा कार्य यह है कि वह सत्य के स्थान पर दूसरी वस्तु को उपस्थित करती है। अन्धकार सिर्फ रस्सी के वास्तविक स्वरूप को ही नहीं ढक लेता है, बल्कि रस्सी के स्थान पर साँप की प्रतीति भी उपस्थित करता है। इसी प्रकार माया भी ब्रह्म के स्वरूप का आवरण कर उस पर असद्भूत जगत् का आरोप कर देती है। यह माया का भावात्मक कार्य है।

---

1. 25 मार्च, 1896 को हार्वर्ड के दर्शन परिषद् के अभिभाषण से उद्धृत।
2. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 105।

माया के इस कार्य को विक्षेप (Projection) कहा जाता है। माया अपने निषेधात्मक कार्य के बल पर ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत् को प्रस्थापित करती है। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में 'सत्य पर पर्दा डालना और असत्य को प्रस्थापित करना माया के दो कार्य हैं।[1]

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव ने माया की तीन शक्तियों का वर्णन किया है : (अ) ईश्वर की कार्यकरणात्मिका शक्ति के रूप में, (ब) अविद्या रूप में और (स) विद्या रूप में। इन तीनों का हम पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

माया ईश्वर की ब्रह्माण्डीय शक्ति है जिसके द्वारा वह सृष्टि का कार्य करता है जिस प्रकार अग्नि और उसकी दाहक शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार ब्रह्म और उसकी शक्ति माया में तादात्म्य सम्बन्ध है। ब्रह्म और माया में वही सम्बन्ध है जो शांत समुद्र और क्षुब्ध समुद्र के बीच सम्बन्ध होता है।

जिस प्रकार कोई कुम्हार सूखी मिट्टी द्वारा किसी घड़े का निर्माण नहीं कर सकता, उसके लिए जल की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शिव (बुद्धि या ब्रह्म), शक्ति (माया) के बिना सृष्टि का कार्य नहीं कर सकते।[2]

माया का दूसरा रूप अविद्या का है, जिसके द्वारा वह जीवों में भ्रान्ति उत्पन्न करती है। माया का स्वभाव कैसा है? जैसे पानी के ऊपर की काई हटाने पर सभी काई हट जाती है, पर थोड़ी देर बाद ही वह अपने आप फैल जाती है। उसी प्रकार जब तक विचार कीजिए अथवा जब तक साधु-सत्संग कीजिए, कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। पर साधु-सत्संग से थोड़ी देर वंचित रहने के बाद ही विषय-वासना चित्त को ढँक लेती है।[3]

---

1. Maya has the two functions of concealment of the real and the projection of the unreal.
— Indian Phil., Vol. 2, P. 571
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अध्याय 2, पृ० 39।
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द पृ० 10।

इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण देव ने माया की उपमा बादलों से और ब्रह्म की उपमा स्वच्छ आकाश से दी है। कभी-कभी ब्रह्म की उपमा सूर्य से भी दी गई है। जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किए रहता है, किन्तु साधारण बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलाई नहीं पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के परदे के कारण नहीं देख पाते।[1]

ब्रह्म, माया और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए उन्होंने श्रीराम, जानकी और लक्ष्मण का उदाहरण दिया है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच माया का परदा है। इस परदे के कारण दोनों में परस्पर भेंट नहीं हो सकती। जैसे आगे-आगे राम बीच में जानकी और पीछे-पीछे लक्ष्मण जा रहे हैं। यहाँ राम परमात्मा और लक्ष्मण जीवात्मा बीच में जानकी मायारूपी परदा है। जब तक जानकी बीच में हैं, तब तक लक्ष्मण रामचन्द्र जी को नहीं देख सकते। यदि जानकी थोड़ा हट जाएँ तो लक्ष्मण को राम के दर्शन हो जायें। ठीक इसी प्रकार यदि जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है तो उसे माया से निवृत्त होना पड़ेगा।[2]

माया की आगे व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि माँ, बाप, भाई, स्त्री, पुत्र, भांजा, भतीजा इन सबका जो मोह है, वही माया है। अविद्या रूपी माया छः प्रकार की होती है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। अविद्या रूपी माया अहंता ममता अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा मनुष्यों को बाँध रखती है। जिस प्रकार जब तक पानी गन्दा रहता है, तब तक चन्द्र या सूर्य की परछाईं उसमें ठीक प्रकार दिखाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार माया अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' का भाव जब तक दूर न हो जाए, तब तक आत्मा का ठीक-ठीक साक्षात्कार नहीं हो सकता।[3]

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द पृ० 12।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द, पृ० 11।
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, स्वामी ब्रह्मानन्द हिन्दी अनुवाद, पृ० 12।
   गोस्वामी तुलसी दास ने भी माया का इसी प्रकार वर्णन किया है—
   मैं अरु मोर तोर तै माया।
   जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया॥—अरण्यकाण्ड

ईश्वर के अन्दर विद्या माया और अविद्या माया दोनों निवास करती हैं। विद्या माया मनुष्य को ईश्वर के पास ले जाती हैं, पर अविद्या माया उसे ईश्वर से बहुत दूर फेंक देती हैं। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, अनुकम्पा—ये सभी विद्या माया के विभिन्न रूप हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य ईश्वर के समीप पहुँच सकता है।[1] माया ही ब्रह्म को प्रकाशित करती है। जिस प्रकार शक्ति के द्वारा ही शक्तिमान को जाना जा सकता है, उसी प्रकार माया के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। माया के माध्यम से ही हम परम ज्ञान, परम सौन्दर्य और परम सुख प्राप्त कर सकते हैं। माया ही जगत के द्वैत और सापेक्षिक भाव को उत्पन्न करती है। माया के बिना भोक्ता, भोग्य और भोग की कल्पना नहीं की जा सकती है।[2] तथा माया के द्वारा ही इस कल्पना की निवृत्ति भी होती है।

माया बुद्धिगम्य नहीं है। तो फिर प्रश्न उठता है कि माया की सम्यक् विवेचना हो कैसे? उत्तर स्पष्ट है कि एकमात्र ब्रह्मात्मैक्य बोध से ही इस माया की तथता जानी जा सकती है। उसके पूर्व की सभी माया सिद्धान्त विषयक समीक्षाएं वैसी ही होंगी जैसी शाम के झुटपुटे में प्रकाश की कमी और अनमयस्कता के चलते हम रस्सी को साँप समझ लें और भयवश, प्रवृत्तिवश, आवश्यकतावश उस रस्सी रूपी साँप को पीटते रहें और पीटते ही चले जाएं। तो क्या माया की विवेचना ही व्यर्थ है? उत्तर में हम कह सकते हैं कि नहीं। इसकी महत्ता इस तथ्य में निहित है कि माया अपने ही विरोधाभासों का हमें बोध देकर अपनी अपूर्णता को बतलाती है और इस प्रकार हम उस सत्य की ओर उन्मुख हो सकते हैं। जिसका संकेत उन विरोधाभासों की तार्किक परिणति है। यह आत्मबोध ही विद्यारूपिणी माया का कार्य है।

बिल्ली अपने दाँतों के बीच अपने बच्चे को पकड़ती है पर बच्चे को कोई चोट नहीं पहुँचती, किन्तु वही बिल्ली जब चूहे को पकड़ती है, वह मर जाता है। ठीक इसी प्रकार माया भक्तों को कभी नहीं मारती, किन्तु जो भक्त नहीं हैं, उन्हें वह मार डालती है। इसी विद्या-माया

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनु० पृ० 42।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनु० पृ० 42।

और अविद्या-माया के विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी ने बहुत कुछ इसी प्रकार कहा है।[1]

जहाँ तक बन्धन का कारण और उसे दूर करने का प्रश्न है तो, इसके विषय में उपनिषदों का कहना है कि बन्धन का मूल कारण यह है कि आत्मा को अपने स्वरूप के विषय में कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अज्ञान है।

यदि बन्धन का कारण अज्ञान है, तो यह बन्धन केवल तब दूर हो सकता है जब कि यह अज्ञान दूर हो जाए। इसके विषय में आचार्य शंकर कहते हैं कि बन्धन का मूल कारण जीव का स्वयं के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है, और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है। यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। रामकृष्ण-विवेकानन्द के भी विचार आचार्य शंकर की ही भांति है।

माया का बन्ध-मोक्ष से सम्बन्ध के विषय में स्वामीजी कहते हैं कि मानव बन्धन का कारण निज स्वरूप का अज्ञान है। बन्धन अज्ञान में ही निहित है। पुरुष या जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। यही उसका बन्धन है। मोक्ष केवल इस अज्ञान से दूर होने और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में निहित है। दूसरे, पुरुष या जीव नित्य-मुक्त हैं, परन्तु उसे वह ज्ञान तब प्राप्त होता है जब उसका अज्ञान दूर हो जाता है। चूंकि बन्धन का कारण केवल हमारा अज्ञान है, और अज्ञान का निवास हमारे मन में है, कहीं बाह्य जगत् में नहीं है;

---

1 तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुःख रूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके ।
प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥—अरण्यकाण्ड

अतः बन्धन की भी सत्ता केवल हमारे मन में ही है, कहीं बाह्य जगत् में नहीं है। अतः बन्धन को दूर करने और मोक्ष को प्राप्त करने में होने वाला परिवर्तन केवल ज्ञानगत है।

इस परिच्छेद में माया सम्बन्धी धारणा पर जो विचार किया गया है वह इस प्रकार है—

श्रीरामकृष्ण देव शास्त्रीय कुछ भी नहीं कहे हैं। रामकृष्ण देव सामान्य जीवन के उदाहरणों द्वारा अपनी बात कहते थे। अतः माया को भी विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किए हैं। स्थिर और क्षुब्ध समुद्र, सर्प और उसकी कुण्डली, अग्नि और उसकी दाहकता तथा आकाश और मेघ के उदाहरणों के द्वारा उन्होंने ब्रह्म-माया के बीच आधाराधेय भाव, तादात्म्य तथा शक्ति शक्तिमान आदि सम्बन्धों का निर्देशन किया है। श्रीरामकृष्ण देव की माया सम्बन्धी धारणा उपनिषदों के अनुकूल ही है किन्तु ईश्वर के मातृस्वरूप के उपासक होने के कारण उन्होंने माया को शक्तिरूपिणी कहकर उसके प्रति पर्याप्त आदर भी प्रदर्शित किया है।

रामकृष्ण माया की परिभाषा ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के रूप में देते हैं। यह रामकृष्ण की विशिष्ट शैली में औपनिषदिक ब्रह्मवाद की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया की कल्पना परम्परागत औपनिषदिक दर्शन में प्राप्त है। माया का यह शास्त्रीय रूप है। यह विवेकानन्द के माया सिद्धान्त की भी पृष्ठभूमि है।

चूंकि स्वामीजी जनसामान्य में जागृति उत्पन्न करने के लिए संघर्ष कर रहे थे इसलिए वेदान्त दर्शन के तत्त्वों को सर्वजनग्राह्य बनाने हेतु उन्होंने वेदान्त के शास्त्रीय रूप को जानते हुए और स्वीकार करते हुए भी उसकी व्याख्या सरल से सरल शैली में करने का प्रयत्न किया। उनकी रचनाओं और व्याख्यानों में माया और मायिक जगत् के मिथ्यात्व पर उतना बल नहीं दिया गया जितना माया और जगत के भीतर व्याप्त अन्तर्विरोधों और असंगतियों का। इन अन्तर्विरोधों और असंगतियों की चर्चा में भी स्वामीजी का प्रयोजन यही था कि व्यक्ति अपनी सामर्थ्य का अपव्यय रोने धोने में न करे और विसंगतियों को जीवन की वास्तविकता मानकर उनका अतिक्रमण करने में समर्थ हो और किसी महत् संकल्प के प्रति समर्पित हो।

चतुर्थ परिच्छेद

जीव का

जीव शब्द की व्युत्पत्ति 'जीव्' धातु से मानी गई है जिसका अर्थ है 'प्राण धारण'। अतएव जीवात्मा में उन सभी साधनों की अपेक्षा है जिनके द्वारा उसमें क्रिया और ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जीव के इन साधनों में शरीर, मन, बुद्धि, प्राण एवं दशेन्द्रियों की स्थिति है।

तैत्तिरीय-उपनिषद् में आत्मा के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय इन पंचकोशों का वर्णन है जिससे यह प्रमाणित होता है कि उपनिषदों में 'जीवात्मा' इन पंचकोशों से अवच्छिन्न 'आत्मा' को कहते हैं बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि उपाधियों से युक्त शुद्ध आत्म तत्त्व ही जीव कहलाता है। हमारा व्यक्तिनिष्ठ जीवात्मा शुद्ध आत्मतत्त्व है, यह सत् और असत् का मिथुनीकरण है, चेतन और जड़ की ग्रन्थि है।

प्रश्न उठता है कि यदि जीवात्मा में शरीरेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तत्त्वों की कल्पना अनिवार्य है तो क्या वह इन सबके समान नश्वर एवं सान्त है? जीव सम्बन्धी इस सिद्धान्त को अपनाने में तो विभिन्न दोषों की प्राप्ति होगी। प्रथम तो प्रत्येक प्राणी में आत्मा की सत्ता एवं उसके नित्यत्व की अनुभूति स्वयं सिद्ध है। कोई भी व्यक्ति यह कल्पना नहीं कर सकता कि किसी भी काल में उसका अंत होगा। दूसरे, जीवात्मा के नश्वर एवं अशाश्वत स्वभाव को मानने पर उसके कर्मों में 'कृतहानि' एवं 'अकृताभ्यागम' इन दो गम्भीर दोषों की प्रसक्ति होगी। ऐसी स्थिति में उपनिषदों के अनुसार जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? उपनिषद् के सभी महावाक्यों का जीव सम्बन्धी एक ही सिद्धान्त है और वह है 'आत्मा' और 'ब्रह्म' का ऐक्य। यहाँ पर 'आत्मा' शब्द से अभिप्राय 'जीवात्मा' से नहीं है वरन् उसका तात्पर्य शरीरादि समस्त उपाधियों से निरवच्छिन्न स्वयंसिद्ध एवं स्वप्रकाश ज्ञानात्मक सत्ता से है। यही जीवात्मा का पारमार्थिक स्वरूप है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि जीव अपने जीव-भाव में न शुद्ध चेतना है और न केवल अन्तःकरण। शुद्ध चेतना उसका तात्त्विक रूप है और अन्तःकरण उसकी उपाधि है। जीव एक प्रकार से इन दोनों की एकता है। हम चाहें उसे घटाकाश के दृष्टान्त से समझना चाहें अथवा जल में सूर्य-प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से किन्तु जीव किसी प्रकार भी सर्वव्यापी नहीं माना जा सकता। जिस

प्रकार घड़े के अन्दर सीमित आकाश घडे के आकार का माना जाता है उसी प्रकार जीव भी अन्तः करण की उपाधि से अन्तःकरण के आकार का ही माना जाएगा। जीव और ब्रह्म के बीच जो भेद दीख पड़ता है वह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों का भेद उपाधि के द्वारा निर्मित है। दोनों का भेद व्यावहारिक है। पारमार्थिक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं—"जीवों ब्रह्मैव नापरः।" जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए आचार्य शङ्कर प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद के सिद्धान्तों का सहारा लेते हैं।

अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि जीव एक है या अनेक। तो, इसका उत्तर यह है कि आचार्य शङ्कर व्यावहारिक दृष्टि से अनेक जीववाद में विश्वास रखते हैं। जीवों की अनेकता इससे भी सिद्ध होती है कि मनः शारीरिक अवयव संस्थान को जीव की उपाधि मानते हैं। उपाधियों की अनेकता एक स्पष्ट तथ्य है। इन्हीं उपाधियों के कारण जीव भी अनेक प्रतीत होते हैं।

यद्यपि आचार्य शङ्कर जीवों की अनेकता को पारमार्थिक दृष्टि से स्वीकार नहीं करते हैं तथापि व्यावहारिक दृष्टि से जीवों की अनेकता को स्वीकार करनी पड़ती है। जीव का बन्धन और मोक्ष भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। जहाँ तक जीव के बन्धन का कारण और उसे दूर करने का प्रश्न है तो इस विषय में अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं के स्वरूप का अज्ञान है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और स्वयं को शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि उपाधियों से अभिन्न समझने लगता है। वस्तुतः मुक्ति दो प्रकार की नहीं है। प्रारब्धवश शरीर की उपस्थिति बनी रहती है। ज्ञान या विद्या के द्वारा आत्मस्वरूप विषयक अज्ञान के नष्ट होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष शरीर रहते हुए भी प्राप्त हो सकता है और उसका शरीर की उपस्थिति के साथ कोई विरोध नहीं है। यही जीवनमुक्ति है। यहाँ पर व्यक्ति जीवनमुक्त कहलाता है। और प्रारब्धभोग के अनन्तर शरीरपात होने पर विदेहमुक्त कहलाता है।

जीव को ईश्वर के साथ युक्त होना चाहिए अथवा नहीं, इसी प्रसङ्ग पर श्रीरामकृष्ण देव

निम्न दृष्टान्त को देते हुए कहते हैं कि संख्या 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए चाहें जितनी बड़ी संख्या पाई जा सकती है; पर यदि उस एक को मिटा दिया जाय तो शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। उसी प्रकार, जब तक जीव उस एक ईश्वर के साथ युक्त नहीं होता तब तक उसकी कोई कीमत नहीं होती; कारण, जगत् में सभी वस्तुओं को ईश्वर के सहित सम्बन्ध होने पर ही मूल्य प्राप्त होता है। जब तक जीव जगत् के पीछे अवस्थित उस मूल्य प्रदान करने वाले ईश्वर के साथ संयुक्त रहकर उन्हीं के लिए कार्य करता है, तब तक उसे अधिकाधिक श्रेय प्राप्त होता रहता है; लेकिन इसके विपरीत जब वह ईश्वर की उपेक्षा करते हुए अपने स्वयं के गौरव के के लिए बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करने में भिड़ जाता है, तब उसे कोई लाभ नहीं मिलता।[1] जीव के अस्तित्व की कल्पना वैसी ही है जैसे कोई गंगा का कुछ भाग घेर ले और कहे कि यह हमारी निजी गंगा है।[2]

ब्रह्म शक्ति अर्थात् चैतन्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए श्रीरामकृष्ण देव पुनः कहते हैं कि 'मनुष्य की देह मानों एक हाँड़ी है और मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ मानों पानी, चावल और आलू। हाँड़ी में पानी, चावल और आलू छोड़कर उसे आग पर रख देने से वे तप्त हो जाते हैं और कोई अगर उन्हें हाथ लगाए तो उसका हाथ जल जाता है। वास्तव में जलाने की शक्ति हाँडी, पानी, चावल या आलू में से किसी में नहीं है, वह तो उस आग में है; फिर भी उनसे हाथ जलता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर विद्यमान रहने वाली ब्रह्मशक्ति के कारण ही मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, और जैसे ही इस ब्रह्म-शक्ति अर्थात चैतन्य का अभाव हो जाता है वैसे ही ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं।[3]'

जीव विवेचन के सन्दर्भ में स्वामी जी का मत अद्वैत वेदान्त से मिलता जुलता है। वे विषय और विषयी अथवा माया और ब्रह्म की ग्रन्थि को ही जीव मानते हैं।[4] वस्तुतः जब तक नाम-रूप हैं, जब तक स्वरूप-विस्मरण है, तभी तक जीव-जगत् की कल्पना है। ''जब स्वरूपावबोध होकर

---

1. अमृतवाणी , पृ० 71।
2. वही, पृष्ठ 8
3. वही पृष्ठ 8-9
4. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द,खण्ड 3, पृ० 362।

नामरूप का लोप हो जाएगा तब जीवादि की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं होगा।"[1] वस्तुतः यह जो जीव-बहुत्व प्रतीत हो रहा है वह मुक्ति-सिद्ध नहीं है। इस विषय को स्वामीजी ने तर्क-प्रणाली द्वारा प्रतिपादित किया है।[2] आत्मा का स्वरूप अन्य दर्शनों ने चाहें कुछ भी माना हो, परन्तु यह सभी स्वीकार करते हैं कि वह देश-काल से परे है, अतः निराकार है। देश-काल आदि मन के अन्तर्गत है। जो वस्तु देश-काल से परे है वह निराकार होगी, यह निश्चित है। इसी प्रकार देश-काल जिसका स्पर्श नहीं कर सकते उसकी सर्वव्यापकता एवं अनन्तता असन्दिग्ध है। केवल एक ही पदार्थ अनन्त एवं सर्वव्यापक हो सकता है। अनन्त कभी दो नहीं हो सकते।[3] जो अनन्त है, जो सर्वव्यापक है उसका जन्म-मरण भी संभव नहीं, क्योंकि जिस प्रकार 'पृथ्वी क्यों नहीं गिरती' ? यह प्रश्न स्वतः प्रत्याख्यात है उसी प्रकार यह प्रश्न भी कि जो अनन्त है वह कहाँ जाएगा और कहाँ से आएगा? इस प्रकार न तो जीव-बुहत्व सिद्ध किया जा सकता है, और न ही जीव का संसरण सिद्ध किया जा सकता है।[4]

स्वामीजी न तो सृष्टि मिथ्यात्व पर और न ही जीव मिथ्यात्व पर बल दिए हैं। यद्यपि वे शुद्ध अद्वैत वेदान्त धारा के हैं। आगे हम जीव विवेचन को दो पक्षों में देखेंगे। वे पक्ष भौतिक और चेतन है। भौतिक के अन्तर्गत हम मानव के भौतिक पक्ष का विवेचन करेंगे और चेतन के अन्तर्गत मानव के आध्यात्मिक स्वरूप का। स्वामी विवेकानन्द मानव को भौतिक और अभौतिक या आध्यात्मिक दोनों मानते हैं। शरीर से मानव भौतिक है, परन्तु आत्मा से आध्यात्मिक। इस प्रकार मानव देह और देव दोनों है। प्रथम भौतिक है, क्योंकि पंचभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) से निर्मित है। यह भौतिक तत्त्व जड़ है, इसमें चेतना नहीं। इस प्रकार भौतिक शरीर जड़ात्मक है, क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज, आदि जड़ तत्त्वों से निर्मित है। इन पंचभूतों के संघात को ही शरीर कहते हैं। शरीर एक पिण्ड है जो सभी भौतिक तत्त्वों का पिण्डीकृत रूप है। शरीर के सभी

---

1. "विवेकानन्द जी के संग में", पृ० 308।
2. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ० 78।
3. वही, खण्ड एक, पृ० 330।
4. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द,खण्ड दो, पृ० 78-91

धर्म----भी शारीरिक ही हैं, जैसे शरीर का वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होना। मानव बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था आदि विभिन्न अवस्थाओं में वृद्धि और ह्रास, उपचय और अपचय को प्राप्त करता है। इस भातिक शरीर में इन्द्रियाँ हैं। पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठान शरीर ही है। यही मानव व्यक्तित्व का बाह्य रूप है, जिसे देह की संज्ञा दी जाती है। इसके साथ मानव का एक और रूप है जिसे जैविक स्वरूप कहते हैं। मानव में मन, प्राण आदि भी है। परन्तु मानव के भौतिक स्वरूप में भौतिक और जैविक दोनों पक्ष आ जाते हैं।

अपने भौतिक स्वरूप में मानव अन्य जीवों के प्राय: समान है, क्योंकि सभी सजीव शरीर धारी होते हैं। पशु को भी मनुष्य के समान ही शरीर होता है। उसकी शारीरिक क्रियाएँ भी प्राय: मनुष्यों के समान ही होती है। आहार, निद्रा, मैथुन आदि शारीरिक क्रियाओं में मनुष्य और पशु में बहुत अन्तर नहीं। परन्तु अन्य जीवों से मानव का भेद मस्तिष्क को लेकर है। मानव मन के कारण मनन और चिन्तन करता है, बुद्धि के कारण विमर्श या विचार करता है, अहंकार के कारण कर्त्ता, भोक्ता का अनुभव करता है। मन, बुद्धि अहंकार आदि मानव के सूक्ष्म व्यक्तित्व के अंग हैं। इस प्रकार मानव अपने भौतिक शरीर या स्थूल रूप से अन्य जीवों के समान हैं, परन्तु सूक्ष्म व्यक्तित्व (मन, बुद्धि, अहंकार आदि) के कारण अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी विशेषता विचार शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही मानव, पशु आदि जीवों से श्रेष्ठ है, क्योंकि विचार करने की शक्ति अन्य जीवों में नहीं है। इस विचार शक्ति से मानव और पशु आदि जीवों के व्यवहार में भेद होता है। पशुओं का व्यवहार प्रवृत्ति के अनुकूल होता है तथा उनका कार्य यन्त्रवत् होता है। उदर-पूर्ति ही उनके कार्यों की मूल प्रवृत्ति है। भूख लगने पर बेचैनी का अनुभव करना और क्षुधा की शान्ति से प्रसन्नता का अनुभव करना यन्त्रवत् व्यवहार है। ये मूल प्रवृत्तियाँ तो मानव में भी हैं। परन्तु मानव का व्यवहार विवेक या विचार से नियन्त्रित होता है। इस विवेक या विचार के कारण मानव विकल्पों में से किसी एक का चयन करता है। इसके लिए संकल्प करता है। विकल्पात्मक परिस्थितियां किसी एक के लिए संकल्प करने में उसे लाभ-हानि, उचित-अनुचित, श्रेय प्रेय आदि सभी पक्षों पर विचार करना पड़ता है। विचार कर वह संकल्प करता है

तथा संकल्प के अनुसार आचरण करता है। अत: मानव आचरण संकल्पजन्य है और संकल्प की स्वतन्त्रता विचार शक्ति का परिणाम है। इस प्रकार संकल्प शक्ति और स्वतन्त्र विचार मानव की विशेषता है जो अन्य जीवों में नहीं पाई जाती। इनके कारण ही मानव अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। जहाँ तक शारीरिक बल का प्रश्न है किसी सीमा तक पशु में यह बल अधिक है। परन्तु पशु में विवेक बल नहीं। यह तो मानव की विशेषता है।

मानव का आध्यात्मिक स्वरूप अभौतिक आत्मरूप है। मानव शरीर नहीं शरीरी है, देह नहीं देव है। मानव का पाँच भौतिक स्वरूप तो लौकिक है परन्तु इसका आत्मरूप अलौकिक और अतीन्द्रिय है। यही मानव का तात्त्विक रूप है अर्थात् तत्त्व की दृष्टि से मानव आत्मा या परमात्मा है। परन्तु इस आत्मा या परमात्मा का निवास मानव शरीर में ही है।अत: शरीर की दृष्टि से मानव देह ही दिखलाई पड़ता है परन्तु आत्मा की दृष्टि से मानव परमात्मा है, देव है। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व देह और देव का सुन्दर समन्वय है। आपातत: मानव देह है, परन्तु तत्वत: देव है। उसका देवरूप साधारण दृष्टि से दिखलाई नहीं पड़ता। यह आध्यात्मिक रूप असाधारण दृष्टि से ही पता चलता है। देवरूप को जानने के लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। परन्तु देवरूप देह में ही स्थित है, आत्मा का अधिष्ठान शरीर ही है। इस प्रकार मानव किसी रूप में भौतिक शरीर है तो किसी रूप में अभौतिक या आध्यात्मिक आत्मा या परमात्मा है।

अद्वैत वेदान्ती होने के कारण स्वामीजी आत्मा को ही परम तत्त्व मानते है। आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय है। यह मन, बुद्धि, अहंकार आदि से भी भिन्न है। यह सर्वथा असांसरिक, अजन्मा, सर्वव्यापक, शाश्वत तत्त्व है। यह नित्य, निरवयव और निर्विकारी तत्त्व है। इसका स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। जीव भी चित्तस्वरूप होने के कारण परमात्मा से अभिन्न है। स्वामी विवेकानन्द आत्मा को ही 'आत्मशक्ति' कहते हैं जो सभी प्रकार की भौतिक और मानसिक शक्तियों से भिन्न है। इसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, परन्तु यह वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, परन्तु जो मन को कल्पना करने की शक्ति प्रदान करता है जिसे देखने में नेत्र असमर्थ है, परन्तु जो नेत्रों में देखने की शक्ति प्रदान करता है। जिसे सुन नहीं सकते,

परन्तु जो सुनने की शक्ति प्रदान करता है।[1] स्पष्ट है कि आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियों से भिन्न है। आत्मा शुद्ध, शान्त शाश्वत और स्वतन्त्र तत्व है। यह शरीर का स्वामी और इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, परन्तु शरीर और इन्द्रियों से यह पूर्णतः अप्रभावित है।

स्वामी विवेकानन्द भगवत् गीता (2-23, 24) का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि कोई शस्त्र (तलवार आदि) इसे काट नहीं सकता, क्योंकि यह अवयव रहित है, आग इसे जला नहीं सकता, जल इसे भिगो नहीं सकता, वायु इसका शोषण नहीं कर सकता, आत्मा अच्छेद (न कटने वाला) अदाह्य (न जलने वाला) अक्लेद्य (न गलने वाला) और अशोष्य (न सूखने वाला) है। यह नित्य है, क्योंकि पंचभूत इसका नाश नहीं कर सकते। नित्य होने से यह सर्वगत या सर्वव्यापी है और सर्वव्यापी होने से स्थाणु (ठूँठ के समान स्थिर) है, स्थाणु होने से यह अचल और इसीलिए सनातन है। इसका कभी जन्म नहीं होता तथा यह मरता भी नहीं है। जन्म और मृत्यु से परे होने के कारण ही नित्य है, क्योंकि अनित्य का ही जन्म-मरण होता है। यह सदा रहने वाला है, अतः शाश्वत है (2-20) पुनः स्वामीजी भगवद् गीता की भाषा (2-25) में कहते हैं कि आत्मा अव्यक्त है, क्योंकि इसका ज्ञान बुद्धि आदि कारणों से नहीं हो सकता। आत्मा अतीन्द्रिय है, क्योंकि यह इन्द्रियगोचर नहीं। आत्मा अविकारी है,क्योंकि सभी विकारों के परे है।[2]

यद्यपि आचार्य शंकर पारमार्थिक दृष्टि से जीवों की अनेकता स्वीकार नहीं करते किन्तु वह एक भिन्न बात है। उस दृष्टि से जीवों की संख्या का प्रश्न ही नहीं रह जाता है क्योंकि तब जीवत्व-भाव ही नहीं रहता है। जीव का अस्तित्व इन्द्रियानुभव में आने वाला तथ्य है। आचार्य शंकर ने जीवों की अनेकता भी व्यावहारिकअस्तित्व के अन्तर्गत ही मानी है। व्यावहारिक दृष्टि से अन्य सब प्रकार की अनेकताओं की भांति जीवों की अनेकता भी एक व्यावहारिक तथ्य है।

---

1. तुलनीय; "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक
   नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
   तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
   तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।"—मुण्डकोपनिषद्।
2. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड एक, पृ० 141।

यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि में घटाकाश, मठाकाश के दृष्टान्त से जीव भेद के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। इसके पश्चात् आचार्य शंकर के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे अनेक जीववाद में विश्वास रखते हैं। उन्होंने बार-बार केवल जीवों की अनेकता और भेद का ही प्रतिपादन नहीं किया है वरन् यह भी तर्क उपस्थित किया है कि यदि जीव अनेक न हों तो अपने कर्मों के फलभोग की इच्छा रखने वाले जीवों और मुक्तिपरायण जीवों में भेद करना सम्भव नहीं होगा। एक ही समय में एक आदमी मुक्ति की कामना करने वाला और अपने कर्मफलों के भोग की इच्छा रखने वाला नहीं हो सकता है।[1] इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर के मत में जीवों की व्यावहारिक अनेकता इससे भी सिद्ध होती है कि वे मन: शारीरिक अवयव संस्थान को जीव को उपाधि मानते हैं। इस् संस्थान में शरीर, इन्द्रियां और मन सम्मिलित हैं। उपाधियों की अनेकता एक स्पष्ट तथ्य है। इन्हीं उपाधियों के कारण जीव भी अनेक हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जीव का ब्रह्म से नितान्त अभेद सम्बन्ध है। भावात्मक रूप से इस सम्बन्ध को तादात्म्य सम्बन्ध कह सकते हैं परन्तु यह शब्द जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की बिल्कुल ठीक अभिव्यक्ति नहीं करता। तादात्म्य शब्द में यह भाव निहित है कि दो वस्तुएँ हैं, जो कि एक रूप हैं। परन्तु जीव और ब्रह्म दो नहीं बल्कि एक ही हैं। रामकृष्ण विवेकानन्द के दर्शन में "दो" के लिए स्थान नहीं है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उनका दर्शन अद्वैत अर्थात् "दो-नहीं" (अ=नहीं, द्वैत=दो) का दर्शन है। अत: जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध भावात्मक शब्दावली में नहीं बल्कि निषेधात्मक शब्दावली में अधिक सही ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। इसी कारण रामकृष्ण विवेकानन्द इनके सम्बन्ध में "अभेद" (भेद नहीं), "अद्वैत" (दो नहीं) इत्यादि शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं। परन्तु निषेधात्मक शब्दावली का प्रयोग करते समय भी हमें सावधान रहना चाहिए। इस शब्दावली का प्रयोग भी हम केवल इसलिए करते हैं कि भाषा में जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध बतलाने के लिए इससे अधिक ठीक अभिव्यक्ति उपलब्ध नहीं है। सत्य तो यह है कि जीव और ब्रह्म के बीच सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जब वे "दो" या

---

1. शां० भा० गीता, 4.2 (न हि एकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत संभवति)।

अलग-अलग हैं ही नहीं तो उनके बीच सम्बन्ध कैसा? उनके "दो" और "भिन्न" होने की तो केवल प्रतीति ही होती है। अतः उनके बीच सम्बन्ध का प्रश्न केवल प्रतीति के ही क्षेत्र में है, अर्थात् दोनों के बीच सम्बन्ध का कथन केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही किया जा सकता है। उन दोनों के बीच ठीक वही सम्बन्ध है जो घटाकाश और महाकाश के बीच है। घड़े के भीतर का आकाश और घड़े के बाहर का आकाश एक ही है, परन्तु घड़े की उपाधि के कारण वे भिन्न प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक ही हैं, परन्तु शरीर, मन तथा ज्ञानेन्द्रियों की उपाधियों के कारण वे भिन्न प्रतीति होते हैं।

श्रीरामकृष्ण देव प्रकृति भेद से जीव को कई प्रकार के बतलाते हैं उनके अनुसार जीव तीन प्रकार के होते हैं : बद्ध जीव, मुमुक्षु जीव और मुक्त जीव। कुछ मछलियाँ ऐसी होती हैं जो जाल में पड़ने पर भी भागने की बिल्कुल चेष्टा ही नहीं करतीं और चुपचाप पड़ी रहती हैं; कुछ दूसरी होती हैं जो इधर-उधर छटपटाती हैं पर भाग नहीं पातीं। पुनः एक तीसरे प्रकार की भी मछलियाँ होती हैं जो जाल को काट कर भाग जाती हैं। प्रथम प्रकार के जीव बद्धजीव, दूसरे प्रकार के जीव मुमुक्षु जीव और तीसरे प्रकार के जीव मुक्त जीव कहलाएँगे।[1] साधारण तौर पर दो प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं: ईश्वरानुरागी और सांसारिक। मक्खियाँ दो प्रकार की होती है : एक तो शहद की मक्खियाँ जो शहद के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं खातीं और दूसरी साधारण मक्खियाँ जो शहद पर भी बैठती हैं और यदि सड़ा हुआ घाव दिखाई दे तो तुरन्त शहद को छोड़कर उस पर भी जा बैठती हैं। इसी प्रकार संसार में दो प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति होते हैं : एक जो ईश्वर में अनुराग रखते हैं और दूसरे जो संसार में आसक्त जीव हैं। विषय-उपस्थित होने पर वे भगवान् को छोड़कर उसी में आसक्त हो जाते हैं।[2]

यदि जीव का तात्त्विक रूप आत्मा है और आत्मा परमात्मा में अभेद है तो संसार में अनेक जीव क्यों दिखलाई पड़ते हैं? स्वामी विवेकानन्द का उत्तर यह है कि अनेकता असत्य है और

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि० अनु०, पृ० 17-18।
2. वही, पृ० 19-20।

एकता ही सत्य है। एक सच्चे अद्वैतवादी की भांति उनका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा सब जीव ब्रह्म ही हैं। जब हम मानव के बाह्य व्यक्तित्व को देखते हैं तो मानव अनेक रूप दिखलाई पड़ते हैं। सभी के शरीर भिन्न हैं, मानसिक क्षमताएं भिन्न-भिन्न हैं, अत: सभी भिन्न हैं, अनेक हैं। परन्तु हम मानव के आन्तरिक व्यक्तित्व (आत्मरूप) को देखते हैं तो सभी का व्यक्तित्व विराट, विभु रूप दिखलाई देता है। यही अव्यक्त आत्मा की एकता है। एक अव्यक्त आत्मा विश्वात्मा है और विश्वात्मा एक है। इस प्रकार जब तक मानव को जड़ शरीर मानते हैं, मानव अनेक है। जब हम मानव को चैतन्य रूप मान लेते हैं तो सभी चेतन एक है। इसे स्वामी विवेकानन्द सागर और लहर की उपमा से स्पष्ट करते हैं। लहरें सागर में उठती हैं, एक के बाद एक दिखलाई देती हैं। लहरों की दृष्टि से अनेकता है। परन्तु सभी लहरों का अधिष्ठान सागर ही है। अत: अधिष्ठान या आन्तरिक दृष्टि से एकता ही है। इसीलिए स्वामीजी कहते हैं कि आत्मा एक अनन्त और अपरिणामी है। जो भी परिणाम या परिवर्तन संसार में दृष्टिगोचर होता है वह अपरिगामी में परिणामों की प्रतीति मात्र है।[1] तत्त्वत: या यथार्थ में, न परिणाम है और न परिवर्तन। ये तो मात्र प्रतीति है, जैसे सागर में अगणित लहरों की प्रतीति। जब हम प्रतीति से ऊपर उठकर परमार्थ या तत्त्व की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें शुद्ध, शान्त सागर ही दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार एक अद्वैत अनन्त आत्मा जिसे विश्वात्मा या परमात्मा कहते हैं, यही परम तत्त्व है। परन्तु इस अद्वैत आत्मा का बोध हमें तत्त्व की दृष्टि से विचार करने पर होता है। इसके साथ ही एक और प्रश्न प्रमाण सम्बन्धी जुड़ा है। मानव देह नहीं है, देव है, इसमें प्रमाण क्या है? इसके लिए आगम या शास्त्रीय प्रमाणों की कमीं नहीं, परन्तु स्वामी विवेकानन्द इसके लिए एक व्यावहारिक और धार्मिक प्रमाण बतलाते हैं। प्राय: धर्म में किसी सर्वातीत तत्त्व की भावना व्याप्त रहती है। हमारे सभी आदर्श और आचरण किसी 'परम्' की ओर उन्मुख हैं। हम शरीर से ऊपर उठना चाहते हैं। शरीर जड़ या अचेतन है। हमारी आत्मा चेतन है, यही हमारा देवत्व है। हम संसार तथा शरीर में सीमित होने के कारण, असीम को नहीं पहचान पाते। परन्तु इस असीम की ओर उन्मुख होने का प्रयास

---

1. One Atman, one self, eternally pure, perfect,unchangeable. All these various changes in the universe are but appearances in that oneself. Janana Yoga P. 350.

सतत् करते हैं। हमारा यह सतत् प्रयास ही बतलाता है कि असीम (आत्मा) की सत्ता है, जिसकी ओर हम उन्मुख हैं। हमारा प्रयास यह सिद्ध करता है कि हम किसी को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यही हमारा तात्त्विक विश्वात्म या परमात्म स्वरूप है। यही पूर्णता है जिसे प्राप्त करने का हम सतत् प्रयास करते हैं। हमारा यह प्रयास ही सिद्ध करता है कि हम केवल पाँच भौतिक शरीर नहीं हैं। यह तो हमारा सीमित स्वरूप है। इसके परे हमारा असीम रूप (आत्मा या परमात्मा रूप है) जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं।

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म और जीव अभिन्न हैं। इस सन्दर्भ मे मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि से निकली हुई विभिन्न चिनगारियाँ अग्नि से अभिन्न हैं उसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न है। जीव न आत्मा से भिन्न है न आत्मा का अंश है न आत्मा का विकार है, बल्कि स्वतः आत्मा है। यदि जीव को ब्रह्म या आत्मा से भिन्न माना जाय तब जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता है, क्योंकि दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्म्यता की सम्भावना नहीं सोची जा सकती है। इसमें अंशाशि भाव है।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए शंकर ने उपमाओं का प्रयोग किया है जिससे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का निरूपण होता है। आचार्य शंकर प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की भिन्न-भिन्न सतहों पर पड़ता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दिख पड़ता है उसी प्रकार एक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार-प्रकार का दीख पड़ता है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल

की विभिन्न सतहों पर पड़ने से वह अनेक चन्द्रमा के रूप में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या-रूपी दर्पण पर पड़ने से वह अनेक दीख पड़ता है। प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियाँ उपस्थित की गई हैं। आलोचकों का कथन है कि जब ब्रह्म और अविद्या आकृतिहीन हैं तब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या पर कैसे पड़ सकता है? फिर यदि यह मान लिया जाय कि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तब यह मानना पड़ेगा कि जीव ब्रह्म से भिन्न है तथा असत्य है। शंकर प्रतिबिम्बवाद की कठिनाइयों से अवगत होकर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए दूसरे सिद्धान्त का सहारा लेते हैं। जिस प्रकार एक ही आकाश, जो सर्वव्यापी है, उपाधिभेद से घटाकाश (घट के बीच का आकाश) मठाकाश रूप में परिलक्षित होता है उसी प्रकार एक ही सर्वव्यापी ब्रह्म अविद्या के कारण उपाधिभेद से अनेक जीवों के रूप में आभासित होता है। इस सिद्धान्त को अवच्छेदवाद (The theory of limitation) कहा जाता है। यह सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद (The theory of Reflection) की अपेक्षा अधिक संगत है। इस सिद्धान्त के द्वारा बतलाया गया है कि जीव सीमित होने के बावजूद ब्रह्म से अभिन्न है। जो लोग दोनों सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो पाते हैं उन्हें शंकर यह कहते हैं कि जीव अपरिवर्तनशील ब्रह्म है जो अपने स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ रहता है।

अनुभूत सम्पन्न होने के कारण उपनिषद् के ऋषियों ने जो बाते कहीं वही परमहंसदेव जी भी कहते हैं। वे कहते है कि ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। जब ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, तो इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि उसके अतिरिक्त जो वस्तुएँ होंगी वे निश्चित रूप से असत् होंगी। इसी तर्क के अनुसार श्री परमहंस देव ने जीव को जो ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, असत् कहा। जीव आकाश-कुसुम या वंध्या-पुत्र की तरह असत् नहीं है वरन् भ्रम की भाँति असत् है। जीव के भ्रम कहने का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में श्रीरामकृष्णदेव ने कहा कि जीव कपूर के समान है। जिस प्रकार कपूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर जीव का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। जीव भ्रम की भाँति अदृश्य हो जाता है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में श्री परमहंसदेव ने इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है। जब तक

नमक जल से पृथक् होता है, उसका पृथक् अस्तित्त्व बना रहता है, पर जल के भीतर समाहित होने पर उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने पर जीव का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[1]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह यह है कि यदि ब्रह्म और आत्मा ज्ञान-स्वरूप हैं और एक मात्र तत्त्व हैं तो आत्मा में भ्रम की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इस भ्रम का अधिष्ठान क्या है? यह तो निश्चित है कि अधिष्ठान स्वयं ब्रह्म है, जैसे रज्जु सर्प का अधिष्ठान, रज्जु ही होती है। यह अवश्य है कि इस भ्रम का आदि बिन्दु नहीं बतलाया जा सकता। यही कारण है कि भारतीय दर्शन अविद्या, अज्ञान या भ्रम को अनादि स्वीकार करता है। ए० एन० ह्वाइटहेड का कहना है कि "भ्रम में रहते हुए हम भ्रम के मूल कारण को नहीं जान सकते। पर ब्रह्म साक्षात्कार के कारण भ्रम का निवारण होते ही जीव का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में भ्रम और अभ्रम, तथ्य और कल्पना सम्बन्धित सभी प्रश्न भी अप्रासंगिक हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रम के मूल से सम्बद्ध सभी प्रश्न अमान्य हैं।[2]

जब तक हमारा पृथक् व्यक्तित्व बना रहेगा, हम द्वैत से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। बद्ध अवस्था में निरपेक्ष तत्त्व के विषय में हमारी सारी कल्पनाएँ सापेक्ष रूप की ही होंगी।

जीव और ब्रह्म की एकता के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि "पारे के सरोवर में यदि एक शीशे का टुकड़ा छोड़ दिया जाय तो वह भी पारा बन जाता है। उसी प्रकार, ब्रह्मसागर में मग्न होकर जीव अपने सीमित अस्तित्व को खोकर ब्रह्म-रूप हो जाता है।"[3] बद्ध अवस्था का कारण अज्ञान अथवा अविद्या है। इसी अविद्या के कारण ब्रह्म और जीव में भेद प्रतीत होता है, किन्तु श्रीरामकृष्ण देव ब्रह्म और जीव में अभेद सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जैसे बहते पानी में लाठी या तख्ता डालने से जल विभक्त सा हो जाता है, वैसे ही माया रूपी उपाधि के

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनुवाद, पृ० 263।
2. "Philosophy is concerned not with the causes but with the coherence of our knowledge.
—A. N. Whitehead.
3 अमृतवाणी, पृ० 8।

कारण अखण्ड परमात्मा का जीवात्मा से भेद हुआ है।"[1]

"जैसे पानी और बुलबुला वस्तुतः एक ही हैं। बुलबुला पानी में ही उत्पन्न होता है, पानी में ही रहता है और अन्त में पानी में समा जाता है—वैसे ही 'ब्रह्म और जीव अभिन्न' हैं।"[2] यहां पर आधाराधेय सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी श्रीरामकृष्ण देव ने ब्रह्म और जीव में अभेद ही स्वीकार किया है। अतः आधाराधेय भाव एवं अभेद सम्बन्ध, दोनों में विरोध का अवकाश नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द भी आत्मा और परमात्मा में अभेद सम्बन्ध मानते थे। उपनिषदों में इसे एक सुन्दर रूपक द्वारा समझाने की चेष्टा की गई है। ऋषि ने दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के भेद को समझाया है। किसी वृक्ष की उच्चतम डाली पर एक सुनहरा पक्षी बैठा है जो बिल्कुल शांत, सुस्थिर, तेजस्वी और यशस्वी है। उसके नीचे एक अन्य पक्षी बैठा है जो एक डाली से दूसरा डाली तक फुदकता रहता है। वृक्ष के कुछ फल मधुर हैं पर अन्य तिक्त हैं। नीचे वाला पक्षी कभी मधुर फल का आस्वाद लेता है और सुखी हो जाता है तथा कभी तिक्त फल खाता है और दुःखी हो जाता है। कभी किसी तिक्त फल को खाकर वह इतना दुःखी हो जाता है कि फल खाना ही छोड़ देता है और अपने से ऊपर वाले पक्षी की ओर ध्यान से देखने लगता है जो न मधुर फल खाता है और न तिक्त फल ही और इसी कारण वह न सुखी होता है और न दुःखी ही। ऊपर वाले पक्षी की शांत व सुस्थिर अवस्था को देखकर वह उसी को अपना आदर्श मान लेता है, पर थोड़े समय के बाद उसे पुनः फल खाने की इच्छा सताने लगती है। फिर ज्यों ही वह किसी तिक्त फल को खाता है उसे एक झटका लगता है और पुनः वह ऊपर वाले पक्षी की ओर आकर्षित होता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि उस पक्षी का भ्रम पूर्ण रूप से दूर नहीं हो जाता। भ्रम दूर होने पर नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी के समीप पहुँचता है। उसके सान्निध्य और प्रकाश से वह इस प्रकार प्रभावित हो जाता है कि उसके शरीर में पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। अब उसे पूर्ण ज्ञान होता है कि वह वास्तव में स्वयं सुनहरा पक्षी था तथा उसके द्वारा

1. परमहंस चरित—स्वामी विज्ञानानन्द ।
2. टीचिंग्स आफ रामकृष्ण, पृ० 13।

मधुर व तिक्त फलों का खाया जाना और उसके परिणामस्वरूप सुख और दु:ख का अनुभव होना एक प्रकार का स्वप्न ही था।[1]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द जीव को ब्रह्म का आभास (Reflection) मानते हैं। पहले भी हम देख चुके हैं कि उनके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति (Manifestation) है। अद्वैत वेदान्त, रामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द सभी की दृष्टि में जीव और ब्रह्म का भेद स्थायी और व्यावहारिक है उनका नितान्त एकत्त्व ही वास्तविकता है।

ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं है; वह अखण्ड है, वह क्षुद्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में व्याप्त है; उसके बिना किसी का अस्तित्व संभव नहीं और जो कुछ भी सत्य है; वह ब्रह्म ही है।

स्वामीजी के अनुसार 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है आदि महावाक्यों से जीवात्मा और परमात्मा में अभेद का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि दोनों सत्, चित् और आनन्द रूप हैं। एक आवश्यक प्रश्न यह है कि यदि दोनों में अभेद है तो हमें इस अभेद का सर्वदा अनुभव क्यों नहीं होता? स्वामीजी का उत्तर है कि हम सर्वदा अपने को ससीम तथा सांसारिक समझते हैं। हम अपने असीम और अनन्त रूप को नहीं जान पाते, क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के ऊपर नहीं उठ पाते। हम शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को ही अपना तात्त्विक रूप मान लेते हैं। ये सभी सीमित हैं। जब हम ससीम का अतिक्रमण कर लेते हैं तभी असीम को जान पाते हैं। वस्तुत: इन ससीम शक्तियों में भी हमें असीम की झलक मिलती है, परन्तु हमारी दृष्टि इतनी संकुचित तथा सीमित है कि असीम का बोध हमें नहीं हो पाता। हमें इसकी झलक तो मिलती है, परन्तु इसे समझ नहीं पाते। जब हम बौद्धिक ज्ञान के ऊपर उठते हैं तो हमें तत्त्व का बोध होता है। तभी हमें

1. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 19।

यह भी बोध होता है कि जीवात्मा नित्य, कूटस्थ, शुद्ध, बुद्ध, सत्, चित्, आनन्दरूप होने के कारण स्वयं परमात्मा ही है।

स्वामी विवेकानन्द जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार के किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने को तैयार नहीं जिससे जीव की निर्बलता और पराश्रयता को प्रश्रय मिले। "यदि जीव सुखी और दु:खी है तो केवल स्वयं के कर्मों के कारण ही है। जीव ही कार्य है और जीव ही कारण है। अत: जीव स्वतन्त्र है। मनुष्य की इच्छाशक्ति किसी घटना के अधीन नहीं है। मनुष्य की प्रबल, विराट्, अनन्त इच्छाशक्ति के सामने सभी शक्तियाँ, यहाँ तक कि प्राकृतिक शक्तियाँ भी सिर झुका सकती हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि ईश्वर की कृपा मनुष्य के प्रारब्ध के संस्कारों को क्षीण कर सकती है। ईश्वर प्रारब्ध या भाग्य और पुरुषार्थ का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए वे एक चरवाहा और उसकी गाय का सुन्दर दृष्टान्त देते हैं। इस दृष्टान्त में चरवाहा ईश्वर है, गाय जीव और रस्सी की लम्बाई प्रारब्ध। जीव को जो प्रारब्ध मिला है, उसमें वह कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। यदि वह पुरुषार्थ प्रकट करता है, तो अपनी मिली स्वतत्रता का सदुपयोग करता है और ईश्वर को पुकारता है, तो ईश्वर कृपा करके उसके स्वतन्त्रता के घेरे को बढ़ा देते हैं। एक दिन ऐसा भी होता है कि जब वे जीव की रस्सी खोलकर उसे बन्धनमुक्त भी कर देते हैं।[1] पर जो अपनी प्राप्त स्वतन्त्रता का सदुपयोग नहीं करता, उद्यम और पुरुषार्थ प्रकट नहीं करता, वह भले ही ईश्वर को पुकारे, पर ईश्वर सुनने वाले नहीं है। यह ईश्वर-कृपा, पुरुषार्थ और प्रारब्ध के परस्पर सम्बन्ध की अनुपम व्याख्या है।

आचार्य शंकर ने जीव की तीन अवस्थायें मानी हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में जीव स्थूल शरीर और इन्द्रियों से अपना तादात्म्य स्थापित करता है और उसे वैश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ कार्य नहीं करती, किन्तु मन अपना कार्य करता रहता है। जाग्रत्

---

1. गीतातत्त्व चिन्तन—स्वामी आत्मानन्द, पृ० 266।

अवस्था में मन पर जो संस्कार पड़ते हैं उनको लेकर वह काल्पनिक विषयों की रचना करता है। इस अवस्था में जीव सूक्ष्म शरीर से अपना तादात्म्य रखता है और उसे तैजस् कहते हैं। सुषुप्तावस्था में न मन कार्य करता है और न इन्द्रियाँ। इस समय अन्तःकरण अपने मूल अर्थात् अविद्या में वापस चला जाता है। अविद्या जीव का कारण शरीर है। इस अवस्था में जीव को प्राज्ञ कहते हैं।[1]

इस बिन्दु पर श्रीरामकृष्ण कुछ विशेष चर्चा न करते हुए कहते हैं कि यद्यपि सभी जीव वास्तव में परमात्मा रूप हैं फिर भी उनकी विभिन्न अवस्थायें होती हैं। उनके अनुसार मनुष्य मानों तकिए के गिलाफ हैं, ऊपर से देखने पर कोई गिलाफ लाल है, तो कोई काला, परन्तु सबके भीतर रूई ही विद्यमान है। उसी प्रकार देखने में कोई मनुष्य सुन्दर है तो कोई काला, कोई महात्मा है तो कोई दुराचारी, पर सबके भीतर वही परमात्मा विराजमान है।[2]

संसार में मुख्य रूप से दो प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य पाए जाते हैं। कुछ तो सूप की तरह स्वभाव वाले होते हैं और कुछ चलनी की तरह। जिस प्रकार सूप भूसी इत्यादि असार वस्तुओं का त्याग करके अनाज आदि सारयुक्त वस्तुओं को ग्रहण करता है, उसी प्रकार संसार में कुछ ऐसे भले मनुष्य हैं जो संसार की असार वस्तुओं (कंचन, कामिनी इत्यादि) को छोड़कर सारयुक्त वस्तु अर्थात् भगवान् को ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत जिस प्रकार चलनी सारयुक्त वस्तुओं का परित्याग कर असारयुक्त वस्तुओं को अपने में रख लेती है, इसी प्रकार संसार में कुछ ऐसे बुरे व्यक्ति हैं जो सारयुक्त वस्तु, ईश्वर का परित्याग कर असारयुक्त वस्तुओं, जैसे—कंचन, कामिनी इत्यादि को ग्रहण करते हैं।[3]

श्रीरामकृष्ण देव बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं कि पापी मनुष्यों का हृदय घुँघराले बाल की तरह होता है। जिस प्रकार घुँघराले बालों को सीधा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दुष्ट

---

1. शां० भा०, माण्डूक्यकारिका, 1 2।
2. श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० 16
3. वही, पृ० 17

व्यक्तियों के हृदय को भी शुद्ध व पवित्र नहीं किया जा सकता। पुनः विषयी मनुष्यों का मन गोबर के कीड़े की भाँति होता है। यह कीड़ा गोबर में ही अधिक रहना पसंद करता है। यदि उसे गोबर से हटाकर पद्म में रख दिय जाय तो वह छटपटाया करता है। विषयी मनुष्यों का मन भी इसी प्रकार विषय-वासना में लगा रहता है। यदि उन्हें ईश्वर की कथा सुनाई जाय तो वे उस स्थान को त्यागकर जहाँ विषय-वासना की बातें होती हैं,वहाँ चले जाते हैं।[1]

सांसारिक मनुष्य यदि कभी भक्ति की बातें भी करते हैं तो वह क्षणिक ही होता है। उनका धार्मिक अनुष्ठान भी किसी भौतिक लाभ के लिए ही होता है। पर ज्यों ही उनके ऊपर कोई आपत्ति-विपत्ति आती है, वे अपनी धार्मिकता का परित्याग कर अपने वास्तविक रूप में आ जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की उपमा उस तोते से दी गई है जो दिन-रात 'राधा-कृष्ण', 'राधा-कृष्ण' चिल्लाता रहता है, पर ज्यों ही कोई बिल्ली उसे पकड़ लेती है, वह 'राधा-कृष्ण' को भूलकर 'टें-टें' करने लगता है।[2] पुनः जो सांसारिक लाभ के लिए ईश्वर की आराधना करते हैं, उनकी हालत उस किसान की तरह होती है जो दिन भर गन्ने की खेत में सिंचाई करता है पर सारा पानी खेत में न जाकर चूहे के बिलों में चला जाता है।[3]

इस बिन्दु पर यद्यपि श्रीरामकृष्ण देव कुछ विशेष चर्चा नहीं किए हैं किन्तु स्वामीजी इस पर विचार किए हैं। आचार्य शङ्कर की भांति वे भी जीव की तीन अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति को स्वीकार करते हैं। हम सब अपने अनुभव से जानते हैं कि जागने और सोने की दो अवस्थाएं हैं। जागने पर हम बाह्य जगत् का अनुभव करते हैं और उसमें व्यवहार भी करते हैं। सोने पर हमारा सम्बन्ध इससे टूट जाता है। निद्रा की दो अवस्थाएं होती हैं—स्वप्नरहित अर्थात् सुषुप्ति और स्वप्न सहित। इस प्रकार चौबीस घण्टे में हम इन्हीं तीन अवस्थाओं में विचरण करते हैं। इन तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध हमारे तीन शरीरों से किस प्रकार है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 17।
2. वही, पृ० 45।
3. श्री रामकृष्ण उपदेश, अं० अनु० पृ० 83।

अशरीरी है किन्तु अविद्या के कारण इस तथ्य का ज्ञान नहीं होता है, मानो आत्मा अविधा रूपी कारण शरीर से आवृत्त हो गया। यह कारण शरीरधारी आत्मा जब सूक्ष्म और स्थूल शरीरों से तादात्म्य करता है तो वह तीनों शरीरों से युक्त होता है। 'जगत् में स्थित शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को हम श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और घ्राण से ग्रहण करते हैं। जिस समय यह व्यापार होता है उसे जागरित अवस्था कहते हैं।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वप्नावस्था क्या है? तो, उसका उत्तर यहै है कि निद्रा की एक अवस्था स्वप्न है। स्वप्न की रचना जीव की अपनी वासनाओं से होती है। ये वासनाएं जाग्रत अवस्था में बनती हैं। जब हम विषयों की आसक्ति में बंधकर उनका भोग करते हैं तो हमारे चित्त में उनका संस्कार बनता है। बीज रूप में वासना आत्मस्वरूप का आवरण बनती है और वही प्रपञ्च का विस्तार कर स्वप्नलोक रच देती है। स्वप्न की अवस्था में आत्मा का सम्बन्ध कारण और सूक्ष्म शरीरों से ही रह जाता है इस अवस्था में जीव की संज्ञा को 'तैजस' कहते हैं। स्वप्नलोक में सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता। वहाँ आत्मा के प्रकाश में ही सब कुछ दिखलाई देता है। ज्ञाता औरज्ञेय दोनों ही सूक्ष्म प्रकृति से निर्मित हैं। उसे आत्मा की चेतना उसी प्रकार प्रकाशित करने में समर्थ है जैसे हम अपनी बुद्धि को आत्मा से प्रकाशित करते हैं।[2]

स्वप्न के अतिरिक्त निद्रा की दूसरी अवस्था सुषुप्ति है। इस समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जागने पर स्मरण आता है कि मैं गहरी नींद में सुख से सोता रहा। यही स्मृति जीवात्मा को उस अवस्था के अनुभव का प्रमाण है। स्वप्न और जागरित का अनुभव न रह जाने के कारण उनका दुखद प्रभाव भी ज्ञात नहीं होता। इसलिए वह सुख की अवस्था है। सुषुप्ति का सुख जागरित और स्वप्न के सुख की अपेक्षा उच्च स्तर का है। जागते समय कोई व्यक्ति कितना ही धनी और सुखों से भरपूर हो किन्तु सुषुप्ति का सुख वह भी चाहता है, इसीलिए वह ऐसा बिस्तर बना कर सोता है जिससे उसकी नींद में बाधा न पड़े।

---

1. तत्त्वबोध, पृ० 19।
2. वही, पृ० 18

सुषुप्ति अवस्था में आत्मा का तादात्म्य एक ही शरीर से रहता है। यह एक शरीर अविद्या या वासना से निर्मित होने के कारण आत्मा को आवृत्त कर लेता है। अत: कारण शरीर का अभिमानी जीव न अपने आत्मस्वरूप को जानता है और न नामरूपात्मक जगत् को ही जानता है। दोनों प्रकार से प्रकर्ष अज्ञान होने के कारण इस अवस्था में जीव को प्राज्ञ कहते हैं। फिर भी इस अवस्था का अनुभव जीव को रहता है, तभी तो जागने पर वह उसका स्मरण करता है। यदि सुषुप्ति में इतना अधिक अज्ञान हो गया हो कि उसका स्मरण भी न रहे तो हमें उस अवस्था की जानकारी नहीं हो सकती। इस तर्क के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'प्रायेण अज्ञ:' होने के कारण उस समय जीव प्राज्ञ होता है।[1]

जीव की इन तीनों अवस्थाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा अशरीरी है। वह शरीर धारण कर जीव कहलाता है। जीव सुषुप्ति में अपने-पराये को नहीं जानता किन्तु स्वप्न और जागरित में नानात्व का अनुभव करता है। शुद्ध आत्मा इन तीनों का प्रकाशक और इनसे असंग है। इसलिए वह साक्षी द्रष्टा अथवा तुरीय कहलाता है।

जीव का बन्धन केवल उसकी कल्पना में ही है, वस्तुगत या सत्तागत नहीं है। अत: बन्धन और मोक्ष भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य हैं। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ पर बन्ध-मोक्ष, जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की संक्षेप में चर्चा की गई है।

यदि जीव का बन्धन मिथ्या है और केवल उसके मन में उसके भ्रम, अज्ञान, उपाधियों के साथ दोषपूर्ण तादात्म्य या अध्यास के कारण है तो स्पष्ट है कि उसका मोक्ष इस भ्रम, अज्ञान, अध्यास, दोषपूर्ण तादात्म्य इत्यादि के दूर होने में निहित है। रज्जु-सर्प भ्रम के दूर होने में अधिष्ठान रज्जु में कोई रूपान्तरण नहीं होता बल्कि उसका केवल वास्तविक ज्ञान या पुनर्मूल्यांकन ही होता है। तात्पर्य यह है कि अद्वैत के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने में जो परिवर्तन होता है वह बाह्य जगत्

---

1. तत्वबोध, पृ० 14।

में नहीं बल्कि वाह्य जगत् के प्रति हमारे दृष्टिकोण में अर्थात् मानसिक जगत् में होता है।

रामकृष्ण परमहंस देव कहते हैं कि जीव वास्तव में सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, किन्तु अहंभाव के कारण वह विभिन्न उपाधियों में उलझकर अपने यथार्थ स्वरूप को भूल बैठा है।[1] बड़े-बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहादानी रखकर उसमें लाही-मुरमुरे रख दिए जाते हैं। उसकी सोंधी-सोंधी महक से आकृष्ट हो चूहे गोदाम में रखे हुए कीमती चावल का स्वाद चखने की बात भूल जाते हैं और लाही खाने जाकर चूहादानी में फँसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि-कोटि विषय सुखों के घनीभूत समष्टिस्वरूप ब्रह्मानन्द के द्वारदेश पर अवस्थित होते हुए भी जीव उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न कर संसार के क्षुद्र विषयसुखों में लुब्ध हो मायापाश में फँसकर दुर्गति को प्राप्त होता है।[2] परमहंस देव पुन: कहते हैं कि उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक', बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत्।[3]

`वासना साधना की सबसे बडी अवरोधक वस्तु है। गीली मिट्टी से कोई भी वस्तु बनाई जा सकती है, परन्तु पकी हुई मिट्टी किसी भी वस्तु के निर्माण में काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का हृदय विषय की ज्वाला में पक गया है, उसमें पारमार्थिक भाव नहीं आ सकता।[4] कागज में यदि तेल लगा हो तो उस पर लिखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार जीव में जब कामिनी कंचन रूपी तेल लग जाता है तो उसके द्वारा साधना नहीं हो सकती; उसी कागज को जब त्याग रूपी खड़िये से घिसकर शुद्धकर दिया जाय तो साधना आसानी से की जा सकती है।[5] वासना

---

1. अमृतवाणी, पृ० 1
2. वही, पृ० 5।
3. अमृतवाणी, पृ० 4।
4. श्रीरामकृष्ण उपदेश पृ० 53।
5. वही, पृ० 54।

का चिह्न मात्र भी रह जाने पर भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते। धागे में यदि जरा भी गाँठ पड़ी हो तो सुई के छेद में नहीं डाला जा सकता। मन जब वासनारहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है।[1]

ज्ञान के द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। ज्ञान तीन प्रकार का होता है। प्रथम सांसारिक व्यक्तियों का ज्ञान है, जिसकी तुलना कमरे के लालटेन की रोशनी से की जा सकती है जो केवल कमरे को ही प्रकाशित कर सकती है, बाहर की वस्तुओं को नहीं। द्वितीय श्रेणी के भीतर भक्तों का ज्ञान आता है, जिसकी तुलना चन्द्रमा की रोशनी से की जा सकती है जो कमरे के भीतर और बाहर दोनों ओर वस्तुओं को प्रकाशित करती है। तीसरा ज्ञान अवतारी पुरुषों का ज्ञान है जिसकी तुलना सूर्य की रोशनी से की जा सकती है जो गहनतम अन्धकार को एक साथ दूर कर सकती है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि वह उच्चतर ज्ञान क्या है? तो उसका उत्तर यह है कि आत्म-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा का ज्ञान हो गया उसे जगत् और ईश्वर का भी ज्ञान हो गया। जिस प्रकार प्याज के भीतर सब छिलका ही छिलका होता है, उसके भीतर कोई सारतत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार अहं (Ego) में भी कोई वास्तविकता नहीं होती, सब छिलका ही छिलका होता है। अहं के दूर हो जाने पर भीतर और बाहर का भेद मिट जाता है और सर्वज्ञ ईश्वर ही दिखाई पड़ने लगते हैं।[2]

इस विषय को स्पष्ट करते हुए श्री रामकृष्ण देव जी एक लघु कथा कहते हैं। एक व्यक्ति को हुक्का पीने की आदत थी। वह आदमी हुक्का जलाने के लिए आधी रात को लालटेन लेकर सबके दरवाजे खटखटाता रहा। दरवाजा खोलने पर एक व्यक्ति ने कहा, 'भाई! तुम व्यर्थ सबका दरवाजा खटखटा रहे हो। तुम्हारे पास जो लालटेन है उसी से अग्नि पैदा कर अपने हुक्के को सुलगा सकते हो। इसी प्रकार भगवान् स्वयं हमारे पास विद्यमान हैं। इस बात को न जानकर हम

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 56।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनु० पृ० 225।

उन्हें दर-दर ढूँढ़ते हैं। ज्यों ही हमें इस बात की जानकारी हो जाती है कि भगवान् हृदयस्थ हैं हमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जो मोक्ष का कारण है।[1]

इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है, और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है। परन्तु जब यह दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है तो जीव यह अनुभव करता है कि वह तो अनादि काल से ब्रह्म ही था। अतः वह मुक्त ही था। इस प्रकार जीव का बन्धन केवल उसकी कल्पना में ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं है। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं है। इसलिए यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। रामकृष्ण-विवेकानन्द कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष दोनों का सम्प्रत्यय केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है।

जीव अनादि काल से ही ब्रह्म होने के कारण मुक्त है, परन्तु उसे यह ज्ञान केवल अज्ञान के दूर होने पर ही प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति को स्वामीजी गुमे हुए हार के गले पर ही प्राप्त हो जाने के दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। इस दृष्टान्त में हार ज्ञाता के गले पर ही था। परन्तु वह इस तथ्य को भूल गया और यह समझने लगा कि उसका हार गुम गया है। उसकी सर्वत्र खोज की गई। फिर किसी व्यक्ति ने (मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में, सद्गुरू ने) उसे बताया कि हार तो उसके गले में ही है। तब उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि जिस हार को वह ढूँढ रहा है वह तो वस्तुतः कभी गुमा ही नहीं था। अज्ञानवश ही वह ऐसा समझ रहा था। वेदान्त में अनेक बार इस विषय को इसी शैली से समझाया गया है। यह ग्रीवास्थ ग्रैवेथक कहलाता है। ठीक इसी प्रकार, जीव नित्य ब्रह्म ही

---

1. रामकृष्ण उपदेश, अं० अनु० पृ० 225।

है। अतः वह नित्य मुक्त है। परन्तु उसे इस सत्य का ज्ञान केवल तब होता है जब उसका अज्ञान दूर हो जाता है, जब वह शरीरादि उपाधियों से अपना तादात्म्य समाप्त कर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का अर्थ शरीर का नाश नहीं, बल्कि अज्ञान का नाश होता है। अतः वे जीवन्मुक्ति को मानते हैं। एक ही मुक्ति शरीर धारण करने की अवस्था में जीवन्मुक्ति कहलाती है। जीवन्मुक्त का अपने शरीर के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। वह नीर में नीरज के समान संसार में निर्लिप्त भाव से लोक-कँल्याण के कार्य करता है। सर्प के लिए जिस प्रकार पुरानी केंचुली का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, उसी प्रकार मुक्त पुरुष शरीर को अनासक्त भाव से धारण किए रहता है। श्रुति भी कहती है कि जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी गीला नहीं होता, उसी प्रकार मुक्त पुरुष कर्मों को करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता। अतः वह उनसे नहीं बँधता।

शंकराचार्य भी इस सिद्धान्त के कि मोक्ष शरीर रहते भी प्राप्त हो सकता है और उसका शरीर की उपस्थिति के साथ कोई विरोध नहीं है प्रबल समर्थक हैं। वे कहते हैं कि शरीर तो प्रारब्ध कर्मों का फल है। जब तक इनका फल समाप्त नहीं हो जाता, शरीर विद्यमान रहता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक, कुम्हार के द्वारा घुमाना बन्द कर दिये जाने पर वेग नामक संस्कार के कारण कुछ काल तक घूमता रहता है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद भी पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार शरीर कुछ काल तक जीवित रहता है।

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द जीवन्मुक्ति के समर्थक हैं। श्रीरामकृष्ण देव जीवन्मुक्ति के विषय में कहते हैं कि संसार में रहते हुए भी यदि कोई मनुष्य चाहे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। लोहे की तलवार को पारस से स्पर्श कराने से वह सोने की हो जाती है। उसकी आकृति तो वैसी ही रहती है, किन्तु उससे हिंसा का कार्य नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार भगवान् के पादपद्म स्पर्श करने

पर मनुष्य से कोई अन्याय नहीं हो सकता।[1] पुन: लोहा यदि एक बार पारस को छूकर सोना हो जाय तो उसे चाहे मिट्टी के भीतर दबाए रखिए, चाहे कूड़े में फेंक दीजिए, रहेगा वह सोना ही। जिन्होंने सच्चिदानन्द ब्रह्म का अनुभव कर लिया है, उनकी भी ऐसी ही अवस्था है। वे संसार में रहें या वन में रहें, उन्हें दोष स्पर्श नहीं कर सकता।[2]

अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि मुक्त पुरुष संसार में कैसे रहते हैं? तो, परमहंस देव जी कहते हैं कि पनडुब्बी चिड़िया के समान जो पानी में रहती तो है परन्तु उसके बदन पर पानी नहीं लगता। यदि कभी थोड़ा लगता भी है तो एक बार बदन झाड़ देने से तत्काल सारा पानी गिर पड़ता है।[3] इसी प्रकार मुक्त पुरुष की उपमा आँधी से उड़ी पत्तल से दी गई है। उसकी अपनी कोई इच्छा या अभिमान नहीं होता। हवा उसको उड़ाकर, जिस ओर ले जाती है, वह उसी ओर चली जाती है।[4]

स्वामी विवेकानन्द जीवन्मुक्ति के विषय में कहते हैं[5] कि जीवन्मुक्त व्यक्ति संसार में रहता है फिर भी संसार के द्वारा ठगा नहीं जाता है। वह संसार के कर्मों में भाग लेता है, फिर भी वह बन्धन-ग्रस्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसके कर्म अनासक्त भाव से किए जाते हैं। जो कर्म आसक्त भाव से किए जाते हैं उससे फल की प्राप्ति होती है।[5] परन्तु निष्काम कर्म या अनासक्त कर्म भुजे हुए बीज की तरह हैं जिनसे फल की प्राप्ति नहीं होती है। गीता के निष्काम कर्म को स्वामी जी मान्यता देते हैं। वे कहते हैं कि कर्म के फलों में आसक्ति रखने से मन की शक्ति नष्ट हो जाती है।[6] अत: मन, मस्तिष्क एवं इन्द्रियादि से कार्य तो करना चाहिए परन्तु उन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहिए। शनैः शनैः समस्त व्यक्तिगत एवं स्वार्थयुक्त कर्मों का त्याग

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि० अनु० पृ० 97।
2. वहीं, पृ० 97।
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 99
4. वही, पृ० 103।
5. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड तृतीय, पृ० 11
6. कर्मयोग, पृ० 15।

कर केवल परार्थ कर्म करना ही उचित है। परार्थ किया हुआ निःस्वार्थ कर्म कदापि बन्धनकारी नहीं हो सकता।[1] यही मुक्ति-लाभ का अर्थ है। कार्य-कारण में या देशकाल में सीमित होकर, क्षुद्र शरीर की कामनाओं की तृप्ति के लिए किया गया कर्म ही बन्धक होता है। जो कार्य स्वाधीन होकर अनन्त के लिए किया जाएगा वह न बन्धक होगा न सीमित। स्वामीजी ने कर्म-फलासक्ति को त्यागने का उपाय फलों को ईश्वरार्पित करना बतलाया है।[2] स्वामीजी सरल शैली में मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि शुभ या अशुभ कर्मों के बन्धन से रहित हो जाना ही मुक्ति है।[3] जीवन्मुक्ति विषयक शंका का समाधान करते हुए उन्होंने कहा है—सत्य की उपलब्धि हो जाने पर तुरन्त मृत्यु नहीं हो जाती है। जब आत्मा रूपी पहिया रुक जाता है तब आत्मा यह सोचना छोड़ देती है कि उसका आवागमन, जन्म-मृत्यु आदि सत्य हैं। परन्तु फिर भी शरीर और मनरूपी पहियों में पूर्व-कर्मों का वेग अवशिष्ट रहता है और जब तक वे नष्ट नहीं हो जाते तब तक शरीर और मन भी बने रहते हैं।[4]

जब जीवन्मुक्त व्यक्ति के सूक्ष्म और स्थूल शरीर का अन्त हो जाता है तब विदेह-मुक्ति की प्राप्ति होती है। विदेह-मुक्ति मृत्यु के उपरान्त उपलब्ध होती है। जिस प्रकार सागर से मिलने पर विभिन्न नदियाँ अपना नाम और रूप खो देती हैं और सागर के साथ एक होकर स्वयं सागर बन जाती हैं उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्म में अपने नाम और रूप खो देते हैं और ब्रह्म के साथ एक होकर स्वयं ब्रह्म रूप बन जाते हैं। मोक्ष में व्यवहारिक जीवन के सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मुक्त आत्मा सभी प्रकार के भयों से मुक्त होकर अभय हो जाती है। मुक्त पुरुष 'है' और 'चाहिए' के द्वैत से ऊपर उठ जाता है। 'है' और 'चाहिए' का द्वैत, जो कि नैतिक जीव के मूल में है, मनुष्य को केवल तभी तक चिन्तित करता है—जब तक कि ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता।

---

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड प्रथम, पृ० 86।
2. वही, प्रथमखण्ड, पृ० 100।
3. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 5, पृ० 317
4. वही, खण्ड 2, पृ० 280-1।

श्री रामकृष्ण परमहंस देव बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं कि सिद्ध पुरुष संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। धान बोने से अंकुर पैदा होता है, परन्तु उसी धान को सिद्ध करके (उबालकर) बोने से उससे अंकुर नहीं उगता। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध हो गए हैं, उन्हें इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।[1] हंस को दूध और पानी मिलाकर देने से जिस प्रकार वह दूध पीकर जल छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष संसार में सार-वस्तु सच्चिदानन्द को ग्रहण कर असार वस्तु संसार को त्याग देते हैं।[2]

पहले अज्ञान रहता है, उसके बाद ज्ञान होता है। अन्त में जब सच्चिदानन्द का लाभ होता है, तब सचिदानन्द तत्त्व की अनुभूति होती है। जैसे शरीर में कांटा चुभने पर कहीं से यत्न पूर्वक एक काँटा लाकर उस काँटे को निकालते हैं फिर दोनों काँटों को फेंक देते हैं। सिद्ध अवस्था द्वन्द्वातीत अवस्था है।[3] वह अद्वैत अवस्था है जो परमानन्द की अवस्था है।

स्वामी विवेकानन्द विदेह-मुक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं कि देह धारण की प्रक्रिया का सर्वदा तथा सर्वथा समाप्त हो जाना ही विदेहमुक्ति है। यह शरीर का अन्तिम मरण है। पुनः शरीर धारण नहीं होता, क्योंकि सभी कर्म और संस्कार सबीज नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था वर्तमान शरीर के समाप्त होने पर ही सम्भव है।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि 'जीव' और ब्रह्म के ऐक्य के ज्ञान से ही मोक्ष होता है तब इस अभेद-ज्ञान के साक्षात्कार का क्या साधन है? उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन ये तीन मार्ग बतलाए गए हैं। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:,श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय आत्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व

1. श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० 103।
2. वही, पृ० 104।
3. वही पृ०, 104।

विदितम्।[1] सर्वप्रथम जीव को गुरुमुख से ब्रह्म और आत्मा के अभेद-ज्ञान का श्रवण करना चाहिए। तदुपरान्त इस अभेद-ज्ञान के ऊपर तर्कपूर्वक मनन करना चाहिए। लेकिन 'श्रवण' एवं 'मनन' होने पर भी जीव में पूर्णज्ञान का अभाव हो सकता है क्योंकि केवल श्रवण और तर्क से ही उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होना दुष्कर है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मानुभूति की सम्प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव 'श्रवण' एवं 'मनन' के विषयभूत आत्माभेद-ज्ञान का बारंबार चिन्तन अथवा ध्यान करे—इस ध्यान को उपनिषदों में 'निदिध्यासन' कहा गया है।

शंकर ने मात्र एक ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है। वे कहते हैं कि वेदान्त दर्शन के सम्यक् अध्ययन से ही व्यक्ति सम्यक् ज्ञान (Right knowledge) प्राप्त कर सकता है। वेदान्त दर्शन के अध्ययन के लिए व्यक्ति को कई शर्तों का पालन करना पड़ता है। वे शर्तें 'साधन चतुष्टय' हैं। ईश्वर के निकट पहुँचने के लिए ज्ञान, कर्म एवं भक्ति इन तीनों के समन्वय का प्रयास भी श्री रामकृष्णदेव एवं स्वामी विवेकानन्द के विचारों में मिलता है। ज्ञान-योग एवं भक्ति-योग दोनों ही सत्य हैं। सभी मार्गों से ईश्वर के निकट पहुँचा जा सकता है।[2] इन तीनों मार्गों के विषय में अगले परिच्छेद में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। निष्काम कर्म से ईश्वर-प्राप्ति का सन्देश भी श्रीरामकृष्ण देव ने यदा-कदा दिया है।[3]

उपनिषदों तथा अद्वैत वेदान्त की परम्परा के अनुसार जीव साक्षात् ब्रह्म ही है। नानात्व अथवा बहुत्व अन्तःकरण उपहित चेतना के लिए व्यवहृत हुआ है। जीव-विषयक समस्त सिद्धान्तों की आलोचनायें इस व्यावहारिक जीव बहुत्व और जीवों की एकता और ब्रह्मरूपता के मध्य विसंगति से ही निकलती हैं। इस दृष्टि से जीव का यर्थाथ स्वरूप आत्मा एवं ब्रह्म में पूर्ण एकत्व है। यही परम सत्य है, किन्तु अज्ञानावस्था में जीवनानात्व का प्रतिपादन व्यावहारिक जगत् की विवशता है।

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/5।
2. रामकृष्णवचनामृत (द्वितीय भाग), पृ० 620।
3. रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 69।

आचार्य शंकर जहाँ मायोपहित ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं वहीं अविद्या की उपाधि से उपहित ब्रह्म को जीव कहते हैं। अन्तर यह है कि जहाँ ईश्वर मायाधीश है वहीं जीव मायाधीन है। इस सम्बन्ध में आचार्य शंकर व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि से भेद करते हुए जीव की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं।

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की जीव सम्बन्धी धारणा उनके भक्ति विषयक विभिन्न भावों से अनुपूरित है। दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि समस्त भावों में जीव की ईश्वर से पृथकता अपेक्षित है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी वेदान्त साधना के पश्चात् वे भी ब्रह्म और जीव के यथार्थ स्वरूप की परस्पर अभिन्नता पर अधिक बल देने लगे। इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि श्री ठाकुर आजन्म माँ काली के आराधक और कृपापात्र रहे, इसलिए जीव-ब्रह्म में तात्विक अभेद स्वीकार करते हुए भी वे अपने अद्वैत भाव को द्वैत की छाया से सर्वथा मुक्त नहीं रख सके हैं। विशेष रूप से अवतारवाद की चर्चा करते हुए वे ब्रह्म जीव के बीच शक्ति तारतम्य की ओर संकेत करते हैं, और इस तरह कभी-कभी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के निकट पहुँच जाते हैं। अवतारवाद के सन्दर्भ में वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार एक ही मिट्टी से एक चूहा और एक हाथी दोनों बने हैं तथापि उन दोनों में रूपाकार और शक्ति की दृष्टि से अन्तर तो है ही और इस तथ्य को स्वीकार करते हुए वे कहते भी हैं कि उक्त दृष्टान्त वेदान्त की दृष्टि से नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि सदैव जीव के यथार्थ स्वरूप अर्थात् सभी दुर्बलताओं और भय से मुक्त उसकी ब्रह्मरूपता में लगी रहीं। उनका जीव-विषयक सिद्धान्त दर्शनशास्त्र की परम्परागत रूढ़ मान्यताओं से कहीं अधिक मनुष्य निर्माण परक था। उनके अनुसार उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ हमें अभय का पाठ पढ़ाता है। अपने उद्बोधनों में वह बारम्बार उद्घोषणा करते हैं कि ''नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:।'' मनुष्य निर्माण ही उनका ध्येय था और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे जीव को समस्त कापुरुषता, दुर्बलता और बन्धनों से अलग कर उसकी अपनी महिमा में

प्रतिष्ठित करते हैं। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध उक्ति है कि "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। वाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरमलक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं।" इस व्यावहारिकता के अतिरिक्त वेदान्त की अन्य परम्परागत शास्त्रीय मान्यताओं की दृष्टि से शांकर मत का ही अनुसरण करते हैं।

———

पंचम परिच्छेद

सृष्टि चिन्तन

इस परिच्छेद के अन्तर्गत हम श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा में प्राप्त सृष्टि विषयक विचारों की समालोचना प्रस्तुत करेंगे। वेदान्त में सृष्टि को अनादि कहा गया है। इस मान्यता का एक तार्किक आधार है। यदि हम यह कहें कि एक समय ऐसा था जब यह समस्त व्यक्त सृष्टि नहीं थी तो यह प्रश्न उठता है कि क्या इसकी उत्पत्ति शून्य से हो गई? इस प्रश्न की मीमांसा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में करने का प्रयत्न ऋषियों ने किया था।

सृष्टि विषयक दार्शनिक मीमांसा का वह प्राचीनतम प्रयास है। आरण्यकों में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से कही गई है, किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आरण्यकों में ब्रह्म और आत्मतत्त्व का तादात्म्य प्राप्त नहीं होता। उपनिषदों में ही इस तादात्म्य का प्रतिपादन सर्वप्रथम हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में वह तत्त्व जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है उसे ब्रह्म कहा गया है और इस बात को 'तज्जलान्' पद से अभिव्यक्त किया गया है।

उपनिषदों के अनुसार जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म सृष्टि की रचना कर उसमें प्रविष्ट हो जाता है, 'तत्स्रष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। देश, काल, प्रकृति आदि ब्रह्म का आवरण है क्योंकि सभी में ब्रह्म व्याप्त है। सृष्टि की रचना उपनिषदों में उपमाओं के द्वारा की गई है। जैसे—प्रज्जवलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, सोने से गहने बन जाते हैं, मोती से चमक उत्पन्न होती है, और बाँसुरी से ध्वनि निकलती है वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है।

आचार्य शंकर ने जगत् को आभास रूप माना है। जैसे यथार्थ बोध न होने के कारण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है जिसकी निवृत्ति रज्जु को रज्जु रूप में जानने से ही होती है। उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान के अभाव में यह नाना रुपात्मक जड़ जगत् भासित होता है जिसकी निवृत्ति जगत् के वास्तविक स्वरुप अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति से होती है अर्थात् अविद्यावश मिथ्या जगत् भी सत्य प्रतीत होता है।

जगत् का आधार ब्रह्म है। जिस प्रकार रस्सी—में दिखाई देने वाला साँप का आधार रस्सी है। अतः ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान कारण है। इस विश्व में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है। अन्य सभी सत्ताएँ उसकी ही सत्ता का आभास अथवा अभिव्यक्ति है। निर्विशेष निराकार परब्रह्म ही माया रूप उपाधि से उपहित होकर ईश्वर का रूप धारण करता है और इस सृष्टि की रचना करता है। अपने चैतन्य की प्रधानता से ब्रह्म ही इस सृष्टि का निमित्त कारण और अपनी उपाधि की प्रधानता से सृष्टि का उपादान कारण है। इसलिए वेदान्त परम्परा ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण स्वीकार करती है। वेदान्त के अनुसार जीव और जड़ात्मक जगत् ब्रह्म का वास्तविक परिणाम नहीं है अपितु उसकी आभासरूप अभिव्यक्ति है। इस तरह वेदान्त दर्शन सृष्टि प्रक्रिया की दृष्टि से विवर्तवाद का पोषक है, परिणामवाद का नहीं। ब्रह्म अपरिवर्तनशील, अविकारी और असीम है, विश्व परिवर्तनशील विकारी और ससीम है। अतः यह परमसत्य नहीं हो सकता। यह परिवर्तनशील संसार ब्रह्म का आभास मात्र है। शास्त्र उसकी उपमा ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल से देते हैं। जिस प्रकार जादूगर जादू की प्रवीणता से एक सिक्के को अनेक सिक्कों के रूप में परिवर्तित करता है, बीज से वृक्ष उत्पन्न करता है, फल-फूल उगाता है, उसी प्रकार ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा विश्व की अभिव्यक्ति करता है। जिस प्रकार मायावी अपनी माया से स्वयं प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस जगत् से परिच्छिन्न नहीं होता। रामकृष्ण विवेकानन्द भी जगत् को पारमार्थिक दृष्टि से ही असत् कहते हैं एवं व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहते हैं। ब्रह्म जगत् का सामान्य अर्थों में कारण नहीं है। उसका कारणत्त्व और उस कारणत्त्व की विशिष्टता का विस्तृत विवेचन हम आगे करेगें।

पृष्ठभूमि के रूप में वेदान्त के सृष्टि सिद्धान्त के इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात् रामकृष्ण विवेकानन्द के सृष्टि सम्बन्धी विचारों का अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

श्रीरामकृष्ण देव सृष्टि के कर्त्ता-धर्त्ता हर्त्ता के रूप में आद्या शक्ति को मानते हैं। यह आद्या शक्ति अपने ही भीतर से, जगत् की रचना करती है अतः वह निमित्त के साथ-साथ उपादान कारण भी है। वह साधारण अर्थों में सृष्टि का कर्त्ता इसीलिए नहीं है क्योंकि सामान्यतः अन्य सन्दर्भों में कर्त्ता

उपादान हेतु स्वनिर्भर नहीं होता। दूसरा अन्तर यह है कि सामान्य कर्त्ता व्यष्टि तत्त्व का कर्त्ता होता है जबकि आद्या शक्ति समष्टि के कर्तृत्त्व से सम्बन्धित होता है। तीसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि सामान्य कर्त्ता कृत्यापन के अहंकार से युक्त होता है जिसके कारण वह मायाधीन कहलाता है। जबकि आद्याशक्ति के लिए यह सृष्टि उनकी क्रीड़ा स्थली है जिसके कारण वह मायाधीश की संज्ञा से भी अभिहित की जाती है। अतः इस सृष्टि रचना की तुलना कुम्हार से न करके ऊर्णनाभि से की जाएगी जिस उपमा का उल्लेख उपनिषदों में भी प्राप्त होता है।

अद्वैत वेदान्त में जगत् को मिथ्या कहा जाता है जिसका तात्पर्य है कि यह जगत् त्रिकालाबाधित सत्ता नहीं है। ब्रह्म ही त्रिकालाबाधित सत्ता है और चूंकि जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है जिसका लाक्षणिक अर्थ दोनों की अभिन्नता है। अत: ब्रह्म से पृथक् ऐसी कोई सृष्टि मिथ्या ही कही जाएगी। वह आकाश कुसुम की भाँति नितान्त असत् नहीं है क्योंकि वर्तमान में उसकी सत्ता प्रतीत होती है। अत: वह वर्तमान का सत्य है त्रिकाल का नहीं। किन्तु जिस प्रकार भ्रम के दूर हो जाने पर भ्रमजनित तत्त्व भी विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार अर्थात् त्रिकालाबाधित सत्य का ज्ञान हो जाने पर इस वर्तमान में उसकी सत्ता प्रतीत होती है अत: वह वर्तमान कालिक जगत् का अवशेष भी विद्यमान नहीं रहता। श्री रामकृष्णदेव ने इसी भ्रम के अर्थ में जगत् को असत् कहा है।

श्रीरामकृष्ण देव बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं कि सीढ़ियों से होकर छत पर जाने से ही यह ज्ञात हो पाता है कि जिन तत्त्वों से छत का निर्माण हुआ है, उन्हीं से सीढ़ियों का भी। उसके पूर्व दोनों में भिन्नता का ही बोध रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म को जानने के पश्चात् ही जगत् का यथार्थ रूप समझ में आता है। जब तक हमारा पृथक् व्यक्तित्व बना रहेगा, हम निरपेक्ष-सापेक्ष, द्रव्य-गुण, अपौरुषेय-पौरुषेय, एक-अनेक के द्वैत से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। बद्धावस्था में निरपेक्ष तत्त्व के विषय में हमारी सारी कल्पनाएँ सापेक्ष तत्त्व के विषय में ही होंगी।

स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्ती हैं और उनकी सृष्टि की अवधारणा भी अद्वैत मान्यताओं के अनुकूल ही है। परन्तु उनकी सृष्टि सम्बन्धी व्याख्या अद्वैत परम्परा से कुछ भिन्न भी है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। स्वामी

विवेकानन्द ब्रह्म को सत्य मानते हैं, उसे एक और अद्वितीय भी मानते हैं, परन्तु विवेकानन्द ब्रह्म तथा ईश्वर में जो सृष्टि कर्त्ता है, प्राय: भेद नहीं करते इसी प्रकार वे सृष्टि की आभासरूपता पर भी बारम्बार चर्चा नहीं करते। यदि सृष्टि (जगत्) का कर्त्ता सत्य है तो उसकी कृति सृष्टि भी सत्य है। यदि सृष्टि मिथ्या भी है तो वह एक विशेष अर्थ में। इसे भ्रम, माया या अविद्या की कृति मानकर मिथ्या नहीं माना जा सकता, वेदान्त में असत् और मिथ्या दो अलग-अलग शब्द हैं। असत् वह है जिसकी किसी काल में (अर्थात तीनों कालों में) सत्ता न हो जबकि मिथ्या की कम से कम व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्ता अवश्य होती है किन्तु पारमार्थिक सत्ता उसकी भी नहीं होती। अत: सृष्टि (जगत्) सृष्टिकर्त्ता (ईश्वर) की देन है और यह असत्य नहीं, सत्य है। इसे सत्य मानकर ही इसकी सही व्याख्या की जा सकती है। इसे असत्य मानना तो इसकी व्याख्या को भी असत्य बनाना है। इसकी सुसंगत व्याख्या इसे सत्य मानकर ही सम्भव है।

अद्वैत परम्परा का प्राय: निर्वाह करते हुए स्वामी जी सृष्टि की एक नयी व्याख्या किए हैं।[1] उन्होंने सृष्टि की व्याख्या के लिए एक रेखांकित चित्र इस प्रकार बनाया है—

(अ) ईश्वर (परम तत्त्व)

दिक

(ब) काल

कारणता

(स) विश्व-जगत्

विश्व में (अ) सृष्टिकर्ता (ईश्वर) है (स) उसकी सृष्टि जगत् है और (ब) दिक्, काल, कारणता आदि माध्यम है जिनके द्वारा सृष्टि व्यक्त होती है। इस रेखांकित चित्र में परम तत्त्व (ईश्वर) है। ईश्वर अज, अविनाशी और नित्य तत्त्व है। दिक्-काल और कारणता से वह पूर्णत: अप्रभावित तत्त्व है। वह विभु और विराट् है जो सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। अत: वह

1. The Absolute and Manifestations. A Lecture delivered in London, 1896.

स्थान या दिक् के परे है। वह नित्य और शाश्वत तत्त्व है। अत: भूत, भविष्य और वर्तमान सभी में एक समान विद्यमान रहता है। वह त्रिकालवर्ती है अत: काल के परे है। इसी प्रकार अज और अविनाशी को अकारण भी स्वीकार किया जाता है। कारण-जन्य तो सान्त होता है, अनन्त तो अकारण है। इसी कारण परमतत्त्व को अद्वैत परम्परा में 'दिक्कालाद्यनवच्छिन' कहा जाता है, क्योंकि दिक्, काल और कारणता से वह अवच्छिन्न नहीं होता। परन्तु स्वामी जी का ईश्वर अज होते हुए भी अकर्त्ता नहीं है। दिक् और काल के परे वह विभु, विराट और सर्वव्यापी तत्त्व है। परन्तु इतना होते हुए भी ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है। सृष्टि के लिए दिक् और काल की आवश्यकता है, निमित्त और उपादान कारणों की अपेक्षा है। सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सांख्य की भाँति वेदान्त भी सत्कार्यवाद स्वीकार करता है। श्री ईश्वर-कृष्ण ने सांख्यकारिका में सत्कार्यवाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥

अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य (कारण में) विद्यमान रहता है, क्योंकि (1) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती (2) (कार्य की उत्पत्ति के लिए) उसके उपादान कारण का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियत-रूप से सम्बन्ध होता है, (3) सभी कार्य सभी कारण से उत्पन्न नहीं होते, (4) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे सभी कार्य की उत्पत्ति होती है; और (5) कार्य कारणात्मक अर्थात् कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता है। सांख्य ने सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए पाँच युक्तियाँ दी है जो इस प्रकार है—

(क) असदकरणात—

यदि कार्य, उत्पत्ति के पूर्व, कारण में विद्यमान न हो, तो वह 'असत्' होगा; होने से वह शशशृंग के समान होगा और असत् की उत्पत्ति किसी प्रकार कभी नहीं हो सकती।

(ख) उपादान ग्रहणात—

प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण या समवायि कारण से सम्बद्ध रहता है और इसीलिए उससे उसकी उत्पत्ति होती है। सम्बन्ध दो सत् पदार्थो के बीच ही हो सकता है। उपादान कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है। मिट्टी के बिना मृण्मय घड़ा, तन्तुओं के बिना कपड़ा नहीं बन सकता है। इससे कार्य की उपादान कारण में विद्यमानता सिद्ध होती है।

(ग) सर्वसम्भवाऽभावात्—

कार्य को उत्पत्ति-पूर्व भी उपादान कारण में विद्यमान मानना पड़ेगा, अन्यथा किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति सम्भव माननी पड़ेगी और यह असम्भव है।

(घ) शक्तस्य शक्यकरणात्—

शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति सम्भव है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, उस कारण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। अत: सिद्ध है कि शक्त कारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति सम्भव है।

(ङ) सत्कार्यम्—

कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कारण कार्य की अव्यक्तावस्था है और कार्य कारण का व्यक्त रूप है। कारण का जो स्वभाव होता है वही स्वभाव कार्य का भी होता है। कार्य कारणात्मक होता है अर्थात् तात्विक रूप से कार्य कारण से अभिन्न होता है तथा दोनों का भेद व्यावहारिक है। अत: सत्कार्यवाद सिद्ध है।

इस सत्कार्यवाद के आधार पर सांख्य प्रकृति को जगत् का मूल कारण सिद्ध करता है वेदान्त में यह मूल कारण स्वयं परब्रह्म है। वही सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। यहाँ विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त सत्कारणवादी भी कहा जाता है। क्योंकि यह वास्तविक सत्ता

केवल ब्रह्म की ही मानता है। ब्रह्म सृष्टि का कारण है, और उसकी ही पारमार्थिक सत्ता है किन्तु यह विचारणीय है कि पारमार्थिक दृष्टि से तो ब्रह्म कारण है ही नहीं, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति वास्तविक न होकर आभासिक है। यद्यपि आचार्य शंकर ने सृष्टि की व्यावहारिक सत्ता को पर्याप्त प्राधान्य दिया है किन्तु हैं तो ये भी 'अजातिवाद' की परम्परा के। अत: जिस व्यावहारिक स्तर पर ब्रह्म की कारणता और सृष्टि की कार्यरूपता है, उस स्तर पर अद्वैत सिद्धान्त सत्कार्यवाद मानता है। ऐसा कहा जा सकता क्योंकि श्रुति यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते.........तथा तज्जलान् आदि वाक्यों से सृष्टि की उत्पत्ति और लय ब्रह्म में ही स्वीकार करती है। शारीरिक सूत्रों में भी, 'जन्माद्यस्ययत:' सूत्र से यही प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य शंकर के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है। चूँकि ब्रह्म अनन्त शक्ति सम्पन्न है। माया उसकी एक अद्‌भुत शक्ति है। उसकी (माया की) स्वतन्त्र सत्ता न होते हुए भी वह ब्रह्म के सत्यत्व से सत्यवत् भासित होती है और वैसे ही लक्षण वाले सृष्टि की रचना करती है किसी वस्तु की उत्पत्ति में कम से कम उपादान और निमित्त दो कारणों की आवश्यकता होती है। सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म है। स्वयं चेतन होने के कारण उसे किसी निमित्त कारण की अलग आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अपनी शक्ति से अपने आप से जगत् का विस्तार करता है। यह सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न होती हैऔर पुन: उसी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि का स्रष्टा, पालनकर्त्ता एवं संहर्त्ता है।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इस प्रसङ्ग में उपनिषद् 'लूता तन्तुवत्' कहकर मकड़ी और उसके जाले का उदाहरण देता है। जिस प्रकार 'लूता' अर्थात् मकड़ी अपनी शरीर की प्रधानता से जाले का उपादान कारण है और अपने चैतन्य की प्रधानता से जाले का निमित्त कारण है। उसी प्रकार मायोपाधि की प्रधानता से ब्रह्म सृष्टि का उपादन कारण और अपने स्वरूपभूत चैतन्य की प्रधानता से सृष्टि का निमित्त कारण है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से ये समस्त विश्व ब्रह्म पर उसी प्रकार अध्यस्थ है जिस प्रकार रज्जु पर सर्प अध्यस्थ होता है। इस दृष्टि से ब्रह्म ही जगत् का अधिष्ठान कारण भी है। तैत्तिरीयोपनिषद में स्पष्ट कहा गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति। स

तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥[1]

श्री रामकृष्ण देव भी ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्भकार। कुम्हार है इसलिए मिट्टी का यह रूपान्तर होता है। लेकिन यहाँ तो एक ईश्वर को छोड़ दूसरा कुछ नहीं है। ब्रह्म को छोड़ ऐसा कोई उपादान नहीं है, जिसे वह रुपान्तरित करेगा। ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो उसके द्वारा रचे गए इस जगत् के लिए उपादान का काम करेगी। इसीलिए श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि—उसी ने इस जगत् को रचा है, फिर इस जगत् में अवस्थान करता है तथा पुन: उसी में इस जगत् का लय हो जाएगा, परमतत्त्व की यहाँ पर जिस प्रकार व्याख्या की की गई है, उसमें वह उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं। इसलिए उसकी जगत्सृष्टि अन्य किसी भी साधारण सृष्टि के साथ तुलनीय नहीं हो सकती। केवल ऊर्णनाभि (मकड़ी) अथवा विस्फुलिंग के साथ उसकी आंशिक रूप से तुलना की जा सकती है—'यथातदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिङ्गा: सहस्रश: प्रभवन्ते सरुपा: तथाक्षराद् विविधा: सोम्य भावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥[2] ''

अर्थात जैसे अग्नि से हजारों अग्निस्फुलिंग निकलते हैं, बहुत कुछ इसी प्रकार।[3] यहाँ एक कठिनाई उत्पन्न होती है। ईश्वर सर्वथा निरपेक्ष तत्त्व है परन्तु सृष्टिकर्त्ता होने से वह दिक् काल और कारण सापेक्ष बन जाता है। अत: वह निरपेक्ष कैसे रहेगा? इसका उत्तर यह है कि दिक्, काल, कारणता आदि स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है अथवा इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। हम भूत, वर्त्तमान और भविष्य में काल का विभाजन करते हैं। किसी स्थिर बिन्दु की अपेक्षा से किसी को भूत और किसी को भविष्य की संज्ञा देते हैं, परन्तु अविभाज्य का विभाजन सम्भव नहीं। जो सर्वदा गतिशील

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् पृ० 391।
2. मुण्डक उपनिषद्, पृ० 51।
3. श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 96।

है, वह कभी स्थिर नहीं होता। परन्तु व्यावहारिक सुविधा के अनुसार हम भूत, भविष्य और वर्तमान में काल का विभाजन करते हैं। यह हमारी व्यावहारिक उपलब्धियों का साधन अवश्य है। इसी प्रकार हम निकट और दूर से दिक् का निर्देश करते हैं, परन्तु विभु और विश्वव्यापी तो सर्वत्र है। उसके लिए निकट और दूर कुछ भी नहीं। परन्तु व्यवहार में निकट और दूर की अवधारणाओं का आधार दिक् को ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार कारणता तो जन्य जनकत्त्व भाव है, जो अज या अजन्य है, वह कारणता के परे हैं परन्तु सांसारिक वस्तुओं को हम जन्य जनकत्व भाव अर्थात् कार्य-कारण भाव के बिना समझ नहीं सकते। इस प्रकार दिक्, काल और कारणता आदि की अवधारणाएँ पारमार्थिक नहीं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये हमारे सभी उपलब्धियों के साधन हैं। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि ये अवधारणाएँ पारमार्थिक या तात्त्विक नहीं; क्योंकि इनकी सत्ताएँ स्वतंत्र नहीं है। परन्तु ये अवधारणायें असत् भी नहीं है। यदि इन्हें असत् मान लिया जाए तो हमें सांसारिक या व्यावहारिक वस्तुओं की उपलब्धि असम्भव हो जाएगी। इसीलिए स्वामी जी इन्हें व्यावहारिक उपलब्धियों का माध्यम या साधन स्वीकार करते हैं, परन्तु ये तात्त्विक नहीं। सृष्टिकर्त्ता ईश्वर सत् है तो उसकी सृष्टि असत् नहीं। इसके साथ ही सृष्टि के माध्यम (देश, काल, कारणता) भी सत् है। ये उपलब्धि के साधन हैं, अतः सृष्टि की उपलब्धि हमें इन्हीं माध्यमों से होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी सागर और लहरों की उपमा देते हैं। सागर में लहरें उठती हैं। अतः सागर लहरों का अधिष्ठान है। जब लहरें शान्त हो जाती हैं तो सागर का अस्तित्व बना रहता है। अतः लहरें सागर नहीं हैं, परन्तु सागर से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। लहरों के बिना हमें लहराते सागर की उपलब्धि नहीं हो सकती। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि स्वामी जी देश, काल, कारणता आदि का महत्त्व सृष्टि के माध्यम रूप में स्वीकार करते हैं। यदि सृष्टि व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है तो दिक्, काल, कारणता आदि भी इसके महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि सृष्टि या जगत् असत नहीं है। इसकी सत्ता है, अतः यह सत् है, क्योंकि सत् सृष्टिकर्त्ता की अभिव्यक्ति है। कृति के असत् होने से कर्त्ता भी असत् ही होगा, क्योंकि असत् कार्य का कोई कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता। इस तर्क के विपरीत स्वामीजी सत् कर्त्ता (ईश्वर) से सत् कार्य (संसार) को स्वीकार

करते हैं। परन्तु वे अद्वैत-परम्परा के समर्थक हैं, अत: वे कारण से कार्य की उत्पत्ति के स्थान पर कारण से कार्य की अभिव्यक्ति मानते हैं और इस अभिव्यक्ति का माध्यम देश, काल और कारणता है। इससे स्पष्ट है कि जो ईश्वर देश, काल और कारणता के परे हैं वह भी देशगत, कालगत और कारणगत सृष्टि का कर्त्ता है।

सृष्टि (जगत्) के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी है कि सृष्टि कैसे होती है, इसकी प्रक्रिया क्या है? स्वामी जी का कहना है कि सृष्टि सूक्ष्म से स्थूल रूप में विकसित होती है। तात्पर्य यह है कि जगत् का मूल रूप सूक्ष्म होता है। सर्वप्रथम ईश्वर से सूक्ष्म तत्त्व ही आविर्भूत होते हैं, परन्तु इनसे स्थूल तत्त्वों का विकास होता है। इस प्रकार स्वामी जी सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सृष्टिवाद और विकासवाद दोनों को स्वीकार करते हैं। सृष्टि की वस्तुओं का वर्तमान स्वरूप तो सदियों के विकास का परिणाम है, परन्तु इनका प्रारम्भिक या मौलिक रूप सूक्ष्म है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल वस्तुओं का विकास वे स्वीकार करते हैं। उनकी विशेषता यह है कि वह संसार सम्बन्धी सृष्टिवाद और विकासवाद दो विरोधी सिद्धान्तों का भी अद्वैत परम्परा के साथ सफल समन्वय कर देते हैं।

सृष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्म की कारणता का एक विशेष अर्थ है। क्योंकि प्रथम तो यह कि ब्रह्म निष्क्रिय, कूटस्थ, अचल, अकर्त्ता है एवं दूसरे यह कि कारण-कार्य का नियम देश-काल की परिधि में ही कार्य करता है जबकि ब्रह्म देशकालातीत है। अत: निर्विकल्प ब्रह्म की कारणता का भव्य अर्थ अधिष्ठान रूप होना है। यह निर्विकल्प ब्रह्म ही जब मायोपहित होकर सविशेष या सविकल्प ब्रह्म बनता है तो यही सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भी बन जाता है।

कार्य एक घटना है जो अकारण नहीं घटती। इसके साथ ही यदि कारण है तो कार्य अवश्य घटित होगा। इस आधार पर यदि सृष्टि हो तो इसका स्रष्टा (ईश्वर) भी होगा। इसी आधार पर अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि सृष्टि की व्याख्या ईश्वर के बिना नहीं हो सकती। यदि संसार है तो इसका कर्त्ता ईश्वर भी है, अन्यथा कार्य अकारण हो जाएगा। इस तर्क को ही ध्यान में रखकर

स्वामी जी कहते हैं—एक पत्थर गिरता है और हम पूछते हैं, क्यों? इस क्यों के प्रश्न में एक मान्यता यह है कि कोई घटना अकारण नहीं घटती। इसका अर्थ है कि संसार की सभी वस्तुएं या घटनाएँ कार्य-कारण नियम से आबद्ध हैं। प्रत्येक घटना अपने पूर्ववर्ती घटना (कारण) का कार्य है तथा अपने उत्तरवर्ती घटना (कार्य) का कारण है। इस प्रकार संसार श्रृंखला में प्रत्येक कड़ी अपने पूर्ववर्ती कड़ी से जन्य है तथा उत्तरवर्ती कड़ी का जनक है। यह कार्य-कारण नियम (जन्य-जनकत्व भाव) हमारे चिन्तन का अनिवार्य उपकरण है।[1] इस कार्य-कारण नियम के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सृष्टि अकारण नहीं तथा स्रष्टा बिना सृष्टि का नहीं। संक्षेप में, सृष्टि यदि सत्य है तो इसका स्रष्टा (ईश्वर) भी सत्य है अन्यथा कार्य कारण नियम का उल्लघन होगा। परन्तु कार्य-कारण नियम की भी सीमा है। यह नियम भी बुद्धि की देन है। जो बुद्धि के सभी विकल्पों के परे हैं। उस पर बौद्धिक नियम नहीं लागू किया जा सकता। अतीन्द्रिय विषय बौद्धिक नियमों के परे हैं। इसी दृष्टि से स्वामी जी कहते हैं कि परमतत्त्व या ईश्वर तो स्वयंभू है। वह सबका कारण है, परन्तु स्वयं अकारण है। 'ईश्वर स्वयंभू है, अत: अपने अस्तित्त्व का कारण स्वयं है। वह पूर्णत: स्वतन्त्र है। यदि स्वतंत्र को भी कारण जन्य माने तो वह स्वतन्त्र नहीं परतन्त्र होगा, स्वाधीन नहीं पराधीन होगा।[2] इस प्रकार स्वतंत्र और स्वंभू ईश्वर अकारण है।

तदापि, यह जगत् शशश्रृंगवत् पूर्णत: असत् नहीं है। जिस प्रकार अन्धकार में वृक्ष भूत प्रतीत होने लगता है एवं जितने समय तक उसकी प्रतीति होती है उतने समय तक वह 'सत्' ही रहता है, इसी प्रकार सृष्टि (जगत्) की भी व्यावहारिक सत्ता है।[3] व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही माया के समान सृष्टि को भी अनिर्वचनीय कह सकते हैं।

---

1. A stone falls and we ask why? This question is possible only on the supposition that nothing happens without a cause. It means that everything in the universe is by turn a cause and an effect. It is the cause of certain things which come after it, and is itself the effect of something else which has preceded it. This is the law of causation and is a necessary condition of all our thinking.

—Swami Vivekananda . Jnanayoga, P. 119-20.

2 That which exists by itself alone cannot have a cause, that which is free cannot have a cause, it would not be free but bound.

—Swami Vivekananda : Jnanayoga, P. 121.

3. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 5, पृ० 204-5।

आचार्य शंकर जब सृष्टि की तुलना ब्रह्म से करते हैं तो ब्रह्म की तुलना में सृष्टि मिथ्या सिद्ध होता है क्योंकि ब्रह्म निरपेक्ष सत् है, निर्विकार, शाश्वत, कूटस्थ और अनन्त है। इसलिए शंकर ब्रह्म को पारमार्थिक सत् कहते हैं। "एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म"[1] अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ सत्य है।

इस प्रकार सृष्टि न आकाशकुसुम के समान अनृत, न स्वप्न के समान किसी व्यक्ति विशेष की वैयक्तिक रचना और भ्रान्ति है किन्तु यह नित्य सत् भी नहीं है। यह सत् और असत् से पृथक् किसी विशेष प्रकार की है। सत् और असत् दोनों विरोधी पद होने के कारण इसे "सदसत्" कहना भी उचित नहीं है। इसलिए अद्वैत वेदान्ती इसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि की रचना ईश्वर ने क्यों की? सृष्टि के मूल में ईश्वर का क्या प्रयोजन हो सकता है? तो, इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म स्वयं व्यक्तित्वहीन एवं निर्गुण होने के कारण कोई प्रयोजन नहीं रखता। जब ब्रह्म को सृष्टि (जगत्) के दृष्टिकोण से देखा जाता है, तब यह ईश्वर बन जाता है। यह ईश्वर सगुण ब्रह्म है। यह सृष्टि की उत्पत्ति करता है। ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए करता है? उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि सृष्टि ईश्वर के लिए आवश्यक है। यह सृष्टि द्वारा ही अपनी अभिव्यक्ति करता है। ईश्वर एक महान मायावी है, जो सृष्टि की रचना करता है। यह सृष्टि उसी महान मायावी (अर्थात् ईश्वर) की लीला है।

श्रीरामकृष्ण देव सृष्टि के विषय में एक गूढ़ रहस्य की बात कह रहे हैं। वह रहस्य यह है कि सृष्टि नित्य नहीं है। अब जो नित्य नहीं है, उसका एक दिन नाश होगा ही, एवं नाश होने के उपरान्त पुनः सृष्टि कहां से होगी? यदि यह कहा जाये कि ब्रह्म के भीतर से ही सृष्टि होगी अर्थात् वह कार्य और कारण दोनों है, तब प्रश्न उठेगा कि तब तो उसके भीतर वैचित्र्य को, अनेकता को स्वीकार कर लेना हुआ! अब इस वैचित्र्य को यदि स्वीकार करते हैं, तो अद्वैत हानि होती है, और

---

1 तैत्तिरीय उपनिषद्, शां० भा० 2.6, पृ० 171।

यदि अस्वीकार करते हैं, तो सृष्टि असम्भव हो जाती है। इसीलिए तन्त्र में तथा वेदान्त में भी यह कहा जाता है, जब समस्त जगत् लय को प्राप्त है, तब ईश्वर सृष्टि के बीजों को अपने भीतर संग्रह करके रखता है और चूँकि यह बीज उसके स्वरूप से भिन्न नहीं है, इसलिए वहाँ द्वैतापत्ति नहीं होती।

श्री परमहंसदेव जी का कहना है कि जिसके भीतर से इस जगत् की सृष्टि होती है, जिसमें यह जगत् अवस्थित रहता है तथा अन्त में इस जगत् का जिसमें लय होता है, उसी को हम 'ब्रह्म' कहते हैं, 'ईश्वर' कहते हैं। लेकिन ईश्वर की यह सृष्टि कुम्हार की कुम्भसृष्टि के समान नहीं है। कुम्हार जब घड़ा तैयार करता है तब वह उसे अपने भीतर से तैयार नहीं करता, वह बाहर के किसी उपादान से उसे बनाता है। कुम्हार यदि न भी रहे तो इससे घड़े की न तो कोई क्षति होगी, न वृद्धि। पर जगत् की सृष्टि इस प्रकार नहीं है—इस बात को समझाने के लिए ही उपनिषद् कहता है कि जिससे इस जगत् की उत्पत्ति होती है, जिसमें यह जगत् स्थित है तथा जिसमें इस जगत् का लय होगा, वही ईश्वर है, ब्रह्म है।[1]

स्वामी जी कहते हैं कि विश्व में अनेकता या विविधता दिखलायी पड़ती है। परन्तु इसका आन्तरिक स्वरूप एकता है, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि एक स्रष्टा (ईश्वर) की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार स्वर्ण से निर्मित विभिन्न आभूषण तत्त्वतः स्वर्ण ही है, क्योंकि सभी स्वर्ण के ही विकार है। उसी प्रकार जड़-चेतन आदि विविधताओं भरी हुई सृष्टि तत्त्वतः एक ईश्वर की सृष्टि है। इस प्रकार वाह्य विविधता में आन्तरिक एकता है, क्योंकि सभी विविधताओं का कारण ईश्वर एक है। जिस प्रकार नदी के प्रवाहों में विविधता दिखलाई पड़ती है, परन्तु नदी की आन्तरिक एकता ही विभिन्न प्रवाहों में प्रवाहित दिखलाई देती है। इसी दृष्टि से स्वामी जी कहते हैं कि वाह्य विविधता की दृष्टि से व्यक्तियों में, वर्णों में, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, देवता-मनुष्य, पशु आदि का भेद अवश्य दिखलायी देता है, परन्तु आन्तरिक (तात्त्विक) एकता की दृष्टि से सभी में अभेद है, क्योंकि एक

---

1. श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसंग, पृ० 95।

ही के अनेक स्पन्दन हैं।[1]

उपनिषदों में सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित अनेक विचार मिलते हैं। किन्तु उनमें कोई एक विशिष्ट क्रम सर्वमान्य नहीं है। भिन्न-भिन्न उपनिषदों में भिन्न-भिन्न क्रमों का निर्देश मिलता है। सृष्टि सम्बन्धी सभी आख्यायिकाओं एवं व्याख्यानों में केवल इसी बात के निश्चय का प्रयास है कि 'ब्रह्म' की सत्ता से ही नामरूपात्मक सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के व्याकृत होने से पूर्व यह सब 'सत्' ही था। जिन उपनिषदों में सृष्टि के पहले 'असत्' का वर्णन पाया जाता है वहाँ 'असत्' का अर्थ शून्य नहीं वरन् अव्याकृत-सत्य है। इसी अव्याकृत-सत्य से नामरूप तथा सविशेष एवं सविषयक संसार की, सृष्टि होती है।' यह व्याकृत तत्त्व परब्रह्म या परमसत्य है और इसी से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय की प्राप्ति होती है।

अद्वैत वेदान्त में पंचमहाभूतों की उत्पत्ति पञ्चीकरण के द्वारा होती है जिसका एक निश्चित क्रम है। जो इस प्रकार है—ब्रह्म पर आश्रित रहने वाली माया सत्त्व, रज् और तम गुण वाली है। ये गुण आपस में मिलकर सूक्ष्म पंचभूतों की रचना करते हैं। वे पञ्चभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी है। उनकी तन्मात्राएँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इन पंचतत्त्वों मे से आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। वायु के सात्त्विक अंश से त्वक् इन्द्रिय, अग्नि के सात्विक अंश से नेत्र इन्द्रिय उत्पन्न हुई। एवं जल के सात्त्विक अंश से स्वादेन्द्रिय, पृथ्वी के सात्त्विक अंश से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई।

इन सभी पञ्चतत्त्वों के सम्मिलित सत्त्व अंश से मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त का अन्तः करण उत्पन्न हुआ। इन पाँच तत्त्वों में से आकाश के राजस अंश से वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। वायु के राजस अंश से हाथ इन्द्रिय, अग्नि से पैर इन्द्रिय जल से उपस्थ इन्द्रिय एवं पृथिवी से गुदा इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। इन पञ्च तत्त्वों के तामस अंश से पंचीकरण कृत पंचतत्त्व उत्पन्न हुए। इन पंचमहाभूतों के तामस अंशों को एक-एक के दो भाग करने पर, उनमें से प्रत्येक आधे भाग के

---

1. It you go below the surface, you will find that unity between man and man, between races and races, high and low, rich and poor......men and animals......all will be seen as only vibrations
—Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. I, P. 123.

चार-चार भाग करने पर और अपने आधे भाग में अन्य आधों के एक-एक चतुर्थांश को मिलाने का कार्य करने पर पंचीकरण होता है। रामकृष्ण-विवेकानन्द धारा में इस विषय पर कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती है।

इस सृष्टि क्रम के विपरीत क्रम से सृष्टि का लय होता है। प्रलय काल में सर्वप्रथम पृथ्वी का लय जल में होता है। तत्पश्चात् जल का लय अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में तथा आकाश का आत्मा में लय होता है। यही उपनिषदों के आधार पर सृष्टि एवं लय की प्रक्रिया है।

श्रीरामकृष्णदेव जी कहते हैं कि जब हम अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जगत् रचना की बात सुनते हैं, तब रचना का क्रम इस प्रकार देखते हैं—सबसे पहले हिरण्यगर्भ के रूप में ब्रह्म का आविर्भाव होता है। हिरण्यगर्भ मानव जगत् स्रष्टा है—जगत् की सृष्टि करने के उद्देश्य से ब्रह्म मानों एक व्यक्ति के रूप में आविर्भूत होता है। उसके पश्चात् उसके ही भीतर से प्रथम सृष्टि आरम्भ होती है। पहले उसके भीतर से वेद का अविर्भाव होता है। वेद माने समस्त ज्ञान का सूक्ष्म रूप, जो उसके भीतर पहले भाव रूप मे आविर्भूत होता है। इसके पश्चात् वह, उसे स्थूल रूप देता है, तथा स्थूल रूप का भी क्रम है।[1] कहा गया है—

तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः।

आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।

अर्थात् उस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी और उसके पश्चात् पंचभूतात्मक विभिन्न प्रकृति उसके भीतर अव्यक्त रूप से जो सृष्टि थी, उसे ही मानव सृष्टि का बीज संग्रह कर रखना कह रहे हैं। आद्याशक्ति इस सृष्टि को ईश्वर के भीतर से बाहर लाती है, और पुनः उसी में रख भी देती है। परमहंसदेव जी मकड़ी

1. श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसंग, पृष्ठ 94-5।

के जाल रचने से इसकी उपमा देते हैं। मुण्डक उपनिषद् के शुरू में कहा गया है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥[1]

अर्थात् जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाले का विस्तार करती है तथा पुनः उस जाले को अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने भीतर से इस जगत् को प्रकाशित करता है और पुनः अपने भीतर ही उसे समेट लेता है। श्रीरामकृष्ण देव भी लूता-तन्तु से ही ब्रह्म को सृष्टि का कारण बतलाते हैं।

कुछ विद्वान आपत्ति उठाते हैं कि यदि ईश्वर सृष्टि का रचयिता है, तो फिर सृष्टि भी ईश्वर की भाँति क्यों नहीं दीख पड़ती? दोनों के स्वरूपों में अन्तर क्यों पाया जाता है? इसका उत्तर यह है कि—जिस प्रकार अचेतन वस्तु को चेतन वस्तु का यथा—गोमय से वृश्चिक और चेतन वस्तु से अचेतन वस्तु, यथा-मनुष्य से नख, केश आदि का विकास होता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर से सृष्टि की रचना होती है। आध्यात्मिक सत्ता (ईश्वर) से भौतिक सत्ता (सृष्टि) की उत्पत्ति को अद्वैत वेदान्ती अनुचित एवं अस्वाभाविक नहीं मानते। ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है।[2] वह मूलतः निष्क्रिय रहता है, किन्तु माया के कारण क्रियाशील प्रतीत हो जाता है।

जब तक हम अविद्या और भ्रम से ग्रस्त रहेंगे, हमारा पृथक् अस्तित्व बना रहेगा और बाह्य जगत् हमारे लिए एक वास्तविक तथ्य के रूप में ही सामने आएगा। भ्रम में रहते हुए हम भ्रम के मूल कारण को नहीं जान सकते। पर ब्रह्म साक्षात्कार के कारण भ्रम का निवारण होते ही सृष्टि का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। ऐसी स्थिति में भ्रम और अभ्रम, तथ्य और कल्पना सम्बन्धित सभी प्रश्न अप्रासंगिक हो जाते हैं।

---

1. मुण्डक उपनिषद्, पृ० 84।
2. शारीरक भाष्य, 1/1/2।

स्वामीजी के अनुसार ईश्वर और सृष्टि में वही सम्बन्ध है जो हमारी आत्मा और शरीर में है। ईश्वर सृष्टि का सूक्ष्म व विभु रूप है तथा सृष्टि ईश्वर का स्थूल रूप है। प्रारम्भ में चैतन्य अव्यक्त अवस्था में रहता है और क्रमश: वही व्यक्त रूप में प्रकट होता है। अत: विश्व में पाए जाने वाले समस्त चैतन्यों की समष्टि ही वह अव्यक्त विश्वचैतन्य है, जो उन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रहा है जिसे शास्त्रों में ईश्वर की संज्ञा दी गई है।

तत्व एक ही है और वह ब्रह्म है। वही ब्रह्म जब देश काल-निमित्त (कारण) के आवरण में दिखाई पड़ता है, तब उसे सृष्टि कहतेहैं। देश-काल और निमित्त कोई स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं हैं, वे मन के परिवर्तन मात्र हैं। देश बाहर की दो वस्तुओं पर निर्भर रहता है तथा काल बाहर की दो घटनाओं पर निर्भर रहता है और निमित्त या कार्य-कारण-भाव की धारणा इन्हीं देश और काल पर निर्भर रहती है। अत: हम देखते हैं कि देश-काल-निमित्त कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उनका कोई अस्तित्व है ही नहीं क्योंकि उन्हीं के माध्यम से ब्रह्म नाना रूपात्मक सृष्टि (जगत्) में प्रकाशित हो रहा है। जिस प्रकार समुद्र और उसकी तरंगों में अभिन्न सम्बन्ध है। उसी प्रकार ब्रह्म और सृष्टि में भी अभिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार तरंगों को हम उनके नाम-रूप भेद के कारण ही समुद्र से पृथक् जानते हैं, उसी प्रकार नाम-रूप भेद के कारण ही ब्रह्म सृष्टि रूप में भासित होता है। तरंगों का समुद्र के साथ भेद और अभेद दोनों सम्बन्ध है। उसी प्रकार सृष्टि का ब्रह्म के साथ भेद और अभेद दोनों सम्बन्ध है। ये देश-काल-निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहते हैं। ज्यों ही तरंगे चली जाती हैं, ये भी अन्तर्निहित हो जाते हैं।

प्रकृति ससीम है और आत्मा असीम है। अत: प्रकृति के ऊपर आत्मा की विजय सुनिश्चत है। आत्मा में निहित अजेय शक्ति को विकसित कर हम प्रकृति पर आसानी से विजय-लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

स्वामी जी ने सृष्टि की उत्पत्ति के जिस क्रम को स्वीकार किया है वह सांख्यदर्शन के अधिक समीप है। समस्त जड़ पदार्थों का मूल उपादान कारण आकाश तत्व है और समस्त

शक्तियों का मूल स्रोत प्राण है। परन्तु आकश और प्राण की उत्पत्ति महत् तत्त्व से हुई है।[1] मन जड़ तत्त्व है। अत: अन्तिम तत्त्व चैतन्य ही है।[2] कुछ स्थलों पर स्वामी जी ने जड़ को शक्ति रूप माना है। "हम जिसे जड़ कहकर पुकारते हैं उसके लिए यह प्रमाणित करना सम्भव है कि उसका अस्तित्त्व नहीं है। वह केवल शक्ति की ही विशेष अवस्था है। रुक्षता आदि जड़ात्मक गुण भी चैतन्य की ही विभिन्न स्तरों के स्पन्दन मात्र है।"[3] स्वामी जी मनस्तत्त्व और जड़ में आनुपातिक भेद ही मानते हैं। मन का स्थूल रूप जड़ है और जड़ का सूक्ष्म रूप मन है।[4] जड़ द्रव्य के विषय में स्वामी जी की यह धारणा प्राचीन मान्यताओं से तो भिन्न है परन्तु विज्ञान सम्मत प्रतीत होती है।

उपनिषदों की भाँति आचार्य शंकर भी एक ही परमसत्ता में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है। आचार्य शंकर सृष्टि को असत् या अवास्तविक मानते हैं। अब प्रश्न है—यदि सृष्टि असत् है, तो सत् या वास्तविक क्यों दीख पड़ता है। शंकर इसका उत्तर स्वप्न की उपमा के आधार पर देते हैं। स्वप्न की घटनाएँ अवास्तविक हैं; किन्तु ये तब तक सत् दीख पड़ती है, जब तक व्यक्ति निद्रा में स्वप्न देखता रहता है। ज्यों ही नींद टूटती है त्यों ही ये घटनाएँ असत् सिद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार जब तक व्यक्ति अज्ञान (Ignorance) के वशीभूत रहता है, तब तक वह विश्व की वास्तविकता में विश्वास रखता है, किन्तु अज्ञान के प्रभाव से मुक्त होते ही उसे मूलसत्ता का ज्ञान होता है और वह विश्व की वास्तविकता से भी परिचित हो जाता है। ज्ञानी के लिए यह विश्व मिथ्या या अवास्तविक है और ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविकता है ('ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या')।[5]

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि असत् सृष्टि सत् या वास्तविक क्यों दीख पड़ती है? इसका उत्तर यह है कि अज्ञानवश व्यक्ति एक ब्रह्म को सृष्टि के रूप में परिणत होता देखकर उसे

---

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द खण्ड-3, पृ० 400-1।
2. वही, खण्ड-2 , पृ० 209।
3. ज्ञानयोग, पृ० 50।
4. **Matter and mind are one and the same substance, the only difference is in the degree of Vibration—Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. VI, P-32.**
5. भारतीय दर्शन, पृ० 158।

भी ब्रह्म की भाँति सत् या वास्तविक मान लेता है। किन्तु, वास्तव में ब्रह्म सृष्टि में परिणत नहीं होता। सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक रूपान्तर नहीं है। यह तो ब्रह्म का एक आभासमात्र है। जिस प्रकार, जादूगर की चाल समझने वाला व्यक्ति उसके चक्कर में नहीं आता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी भी सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त मात्र मानकर इसे अवास्तविक समझ लेता है।

सृष्टि की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए यहाँ पर एक भ्रम का उदाहरण दिया गया है। सृष्टि रस्सी में दिखाई पड़ने वाले सर्प के समान है। सर्प का आधार रस्सी है और सृष्टि का आधार ब्रह्म है। जिस प्रकार सर्प रस्सी के वास्तविक रूप को ढँक देता है, उसी प्रकार सृष्टि भी वास्तविक रूप को छिपा देता है। जिस प्रकार, रस्सी में दीख पड़ने वाला सर्प वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म के रूप में दीख पड़ने वाला सृष्टि वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

आचार्य शंकर तीन प्रकार की सत्ता मानते हैं—(1) प्रातिभासिक सत्ता (2) व्यावहारिक सत्ता और (3) पारमार्थिक सत्ता। प्रातिभासिक सत्ता क्षणिक है। इसका खण्डन जागरित अनुभव द्वारा हो जाता है। व्यावहारिक सत्ता व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है। इसके अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं को जागरितावस्था में भी सत्य माना जाता है, किन्तु तार्किक युक्तियों द्वारा इनका खण्डन संभव है। पारमार्थिक सत्ता हर दृष्टिकोण से सत्य है। इसका खण्डन किसी प्रकार संभव नहीं है। यह विशुद्ध सत्ता है। ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता का उदाहरण है।[1]

उपर्युक्त तीनों प्रकार की सत्ताओं में सृष्टि को व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा गया है। सृष्टि न तो स्वप्न या भ्रम की भाँति असत्य है और न ब्रह्म की भाँति सत्य। इसकी स्थिति इन दोनों के मध्य की है। यह स्वप्न या भ्रम से अधिक सत्य है और ब्रह्म से कम सत्य है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से सृष्टि की सत्यता में विश्वास आवश्यक है। इससे हमें दैनिक जीवन में सफलता मिलती है। किन्तु, पारमार्थिक दृष्टिकोण से सृष्टि असत्य कहा जाता है।

---

1. भारतीय दर्शन, पृ० 158।

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव कहते हैं कि "जब तक ईश्वर का ज्ञान नहीं होता तब तक यह संसार सत्य दिखलाई पड़ता है तब तक मनुष्य उन्हें भूलकर 'मैं-मेरा' करते हुए माया में बद्ध होकर, कामिनी, कांचन के मोह में मुग्ध होकर ससार में और भी डूबता जाता है। माया के कारण मनुष्य इतना अन्धा हो जाता है कि जाल में से भागने का रास्ता रहने पर भी नहीं भाग पाता। संसार इस क्षण है तो दूसरे ही क्षण नहीं! यह अनित्य है। जिन्हें तुम इतना 'मेरा मेरा' कह रहे हो, तुम्हारे आँखें बन्द करते ही वे कोई नहीं रहेंगे। संसार में कोई नहीं है, फिर भी इतनी आसक्ति कि नाती के लिए काशी यात्रा नहीं हो पाती। कहते हैं—'मेरे बेटे हरि का क्या होगा?' जाल में से निकलने की राह खुली है, फिर भी मछली भाग नहीं सकती। रेशम का कीड़ा अपनी ही लार से कोश बनाकर उसमें फंसकर जान गँवा देता है। संसार इस प्रकार मिथ्या है, अनित्य है।"[1]

ठाकुर के अनुसार ब्रह्मज्ञान होने पर ही सृष्टि का मिथ्यात्व समझ मे आता है। सृष्टि की भावभूमि पर खड़े होकर उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। परम हंस देव कहते हैं कि जो 'जगत् को मिथ्या' कहता है, वह क्या जगत् के अन्तर्गत नहीं है? यदि वह जगत् के अन्तर्गत है, तो वह भी मिथ्या है। और यदि वह मिथ्या है, तो उसकी सब बाते भी मिथ्या हैं। अत: उसका यह कहना कि 'जगत् मिथ्या है' यह बात भी मिथ्या हुई। लेकिन 'जगत् मिथ्या' यह बात तो मिथ्या नहीं है। अत: 'जगत् मिथ्या' यह बात उस प्रकार से नहीं कही जा सकती। तथापि वेदान्त जो 'जगत् मिथ्या' कहता है, उसका कारण यह है कि एक उच्चतर भूमि पर आरुढ़ होकर निम्न भूमि को मिथ्या कहा जाता है। जब तक मैं रज्जु में सर्प देखता हूँ, रस्सी को सर्प समझता हूँ, तब तक सचमुच के सर्प को देखने से जो अनुभव होता है, ठीक वैसा ही अनुभव होता है। साँप को देखकर जैसा भय होता है तब वैसा ही भय होता है। अत: इस अवस्था में साँप मिथ्या नहीं होता। साँप यदि मिथ्या होता तो भय नहीं होता। लेकिन यहाँ पर तो खासा भय हो रहा है। देखते ही हम डर के मारे भागते हैं, हृदय धड़कने लगता है। अत: इस अवस्था में साँप नितान्त सत्य है। इस सत्य को हम मिथ्या कहकर झुठला नहीं सकते। पर जब हमें रज्जु का ज्ञान होता है, जब हम रस्सी को जान लेते हैं, तब हम

---

1. अमृतवाणी, पृ० 117।

कहते हैं कि वह साँप नहीं, रस्सी है। इसलिए जब तक सर्प का ज्ञान नहीं होगा, तब तक यह सर्प मिथ्या नहीं है। अर्थात् जब तक ब्रह्म को न जान लिया जाय, तब तक जगत् मिथ्या नहीं होता।

जब तक इस संसार में हम रहते हैं, व्यवहार करते हैं, समस्त इन्द्रियों के द्वारा उसे ग्रहण करते हैं,—तथा साधारण लोगों के ही समान आग्रह-पूर्वक ग्रहण करते हैं, तब तक इस जगत् को मिथ्या कहना एक प्रवंचना मात्र है। ऐसा कहने पर वचन और कर्म में बिल्कुल मेल नहीं बैठता। इस जगत् को हम तभी मिथ्या कह सकते हैं, जब उसके प्रति रंचमात्र भी आकर्षण न रहे। जब तक हमें ब्रह्मानुभूति नहीं हो जाती, तब तक यह जगत् हमारे लिए सत्य ही प्रतीत होगा। इस सत्य को हम 'व्यावहारिक सत्य' कहकर पुकारते हैं। जब तक हम इस व्यवहार के राज्य में है, इस द्वैत के राज्य में हैं या जब तक हमारा 'मैं' बना हुआ है तब तक जगत् है। अत: उस अवस्था में 'जगत् मिथ्या' कहने का अधिकार हमें नहीं है। यदि मैं कभी अपनी व्यावहारिक सत्ता को लांघकर पारमार्थिक सत्ता में पहुँच सका, केवल तभी यह जगत् मेरे लिए मिथ्या होगा, इससे पहले नहीं।[1]

वस्तुत: सृष्टि आकाश कुसुम या बंध्या पुत्र की तरह मिथ्या नहीं है। वरन् भ्रम की भाँति असत् है। यहाँ पर भ्रम कहने का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में श्री रामकृष्णदेव ने कहा कि सृष्टि कपूर के समान है। जिस प्रकार कपूर के जलने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार होने पर सृष्टि (जगत्) का भी अवशेष विद्यमान नहीं रहता। सृष्टि भ्रम की भांति अदृश्य हो जाती है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में श्री परमहंसदेव ने इस प्रकार समझाने की चेष्टा की है। जब तक नमक जल से पृथक् होता है, उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है, पर जल के भीतर समाहित होने पर उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने पर सृष्टि का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

आचार्य शंकर के समान स्वामी विवेकानन्द भी सत्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि जो देश, काल और कार्य-कारण से अनवच्छिन्न हो वही सत्य है।[2] इस दृष्टि से जगत् की गणना

1. श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 177-78।
2. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड -3, पृ० 13।

सत्य-कोटि में नहीं की जा सकती; क्योंकि देश कालादि का समूह ही तो जगत् है। जगत् के मिथ्यात्व के विषय में एक युक्ति देते हुए स्वामी जी कहते हैं कि सत्य कभी भी विषयीभूत नहीं हो सकता। जो भी इन्द्रियादि से गृहीत हो रहा है वह सत्य नहीं है।[1] सापेक्ष होने के कारण जगत् भी 'सत्' नहीं है। 'जगत् असत् है' इसका तात्पर्य यह है कि जगत् निरपेक्ष अस्तित्व-युक्त नहीं है। यह 'तुम्हारे' 'मेरे' और प्रत्येक के मन पर आश्रित है।[2] यह अपने अस्तित्व के लिए सत् की अपेक्षा रखता है। जगत् अज्ञेय है, इसलिए भी असत् है।[3] जगत् का वास्तविक रूप सदैव अज्ञात है। मूल तत्त्व को कभी किसी ने नहीं देखा।[4] हम केवल स्वयं का ही अनुभव कर सकते हैं। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसने स्वयं के बाहर मूलतत्त्व का अनुभव किया हो।[5] हम वस्तुओं की सत्ता मान लेते हैं इसीलिए हम उन्हें सत् कहते हैं। परन्तु केवल मान लेने से उस वस्तु की गणना 'सत्' कोटि में नहीं की जा सकती। जगत् मस्तिष्क का भ्रम मात्र हो सकता है। कोई भी यह नहीं सिद्ध कर सकता है कि यह स्वप्न नहीं है हम सब स्वप्न में विचरण कर रहे हैं; अर्धनिद्रित, अर्धजाग्रत, जीवन भर एक पहेली में आबद्ध। सारे इन्द्रिय-ज्ञान की बस यही दशा है।[6] माया-जाल से मुक्त होकर वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् यह समस्त जगत् अपने इस स्वरूप से बाधित हो जाता है।[7] अतः स्वरूप से व्यभिचरित होने वाला पदार्थ सत् नहीं कहा जा सकता। ये परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विवरण दो भिन्न दृष्टिकोण से दिए गए हैं। जिनका स्पष्टीकरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार स्वामी जी ने अद्वैत वेदान्त के समान ही जगत् के मिथ्यात्व के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत की।

आचार्य गौडपाद अजातिवाद के समर्थक हैं। अजाति का अर्थ है अनुत्पत्ति। जाति या

---

1. The reality is never seen and hence that which is seen is unreal. Complete works of Swami Vivekananda, VI, P 58.
2 कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द खण्ड-2, पृ० 91।
3 वही, खण्ड-6, पृ० 58।
4. Nobody has ever seen what matter is. Ibid, Vol. II, 197.
5 I never knew a man who could feel matter outside of himself. Complete works of Swami Vivekananda, Vol II, P. 197.
6. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-2, पृ० 111-2।
7. वही, खण्ड -3, पृ० 10।

उत्पत्ति वस्तुतः असंभव है। गौडपाद जी कहते हैं कि सृष्टि वास्तविक नहीं है, प्रातीतिक है, मायाजनित भ्रान्ति है।[1] भेद असत् है, अभेद सत् है। द्वैत माया है, अद्वैत परमार्थ है। स्वप्न पदार्थ और लौकिक पदार्थ अपने अपने स्तर पर सत्य प्रतीत होते हैं और अपने से उच्च स्तर से उनका बाध हो जाता है। आचार्य के अनुसार समस्त भेद-प्रपञ्च, जिसके अन्तर्गत स्वप्न पदार्थ भ्रम-पदार्थ, और जागातिक पदार्थ आते हैं, मायिक अतः मिथ्या है। जीव की न उत्पत्ति होती है, न विनाश; न जन्म है न मृत्यु; न बन्धन है, न मोक्ष। ये सब माया के कारण प्रतीत होते हैं। अतः अजाति ही परम सत्य है। आचार्य शङ्कर भी अजातिवाद के सिद्धान्त के ही समर्थक हैं, किन्तु उन्होंने सृष्टि की उस व्यावहारिक सत्ता पर पर्याप्त बल दिया है। जिसकी गौडपादाचार्य ने लगभग उपेक्षा ही कर दी है। स्वामी विवेकानन्द ने सृष्टि की इस व्यावहारिक सत्यता को और भी अधिक रेखांकित किया है, क्योंकि सामान्य सांसारिक व्यक्ति के लिये बारम्बार सृष्टिमिथ्यात्व का प्रतिपादन अनुत्साह और अकर्मण्यता उत्पन्न कर सकता था।

उपनिषदों में सृष्टि सम्बन्धी परस्पर विरोधी विवेचन प्राप्त होते हैं। किन्तु जगत् को कहीं भी भ्रमजाल नहीं कहा गया है। आचार्य शंकर ने सत्ता का त्रिविध विभाग करते हुए जगत् को व्यावहारिक दृष्टि से सत् और पारमार्थिक दृष्टि से असत् कहा है। जगत् प्रपंच की व्याख्या करते हुए वे ऐन्द्रिजालिक और उसके इन्द्रजाल की उपमा देते हैं किन्तु महत्वपूर्ण यह है कि ऐन्द्रिजालिक की माया वस्तुनिष्ठ सत्य नहीं है अतः जगत् को मायावी की माया कहना उसे उसकी यथार्थता से वंचित कर देना होगा, किन्तु सत्ता के त्रिविध स्तरों के सिद्धान्त से इस समस्या का समाधान मिल जाता है।

श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन में जगत् के ईश्वर की लीला होने पर अधिक बल दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। किन्तु श्री रामकृष्णदेव यह भी कहते हैं कि ईश्वर केवल सृष्टि तक ही सीमित नहीं है, वह इसका अतिक्रमण कर स्थित है।

---

1. गौडपादकारिका 1, 7 9 देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा?

स्वामी विवेकानन्द जहाँ एक ओर सृष्टि को सत् कहते हैं वहीं दूसरी ओर उस असत् की संज्ञा भी प्रदान करते हैं। ऊपर से विरोधी दिखने वाली ये बातें वस्तुत: भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों में कही गई है अत: ये परस्पर व्याघाती नहीं है। जगत् को सत्य कहने का सन्दर्भ जगत् और उसकी स्थिति को उसके वर्तमान स्वरूप में स्वीकार कर कर्म में प्रवृत्त होने से है। इसी कारण जन सामान्य को सम्बोधित करते हुए वे जगत् को सत् कहते हैं। उनका यह कथन तब और भी गहरा और प्रभावी हो जाता है जब वे अपने देश और उसके समस्त निवासियों को अगले पचास वर्षो के लिए एकमात्र जागृत देवता कहकर उसकी उपासना करने को कहते हैं। मिथ्यात्व की स्थिति में भौतिक उन्नति आदि का स्थान गौण हो जाता है किन्तु दूसरी ओर जब वे जगत् को असत् कहते हैं तो वहाँ उनका विशुद्ध दर्शनशास्त्रीय आशय है जिसमें एकमात्र परमसत्—ब्रह्म-की दृष्टि से अन्य सभी मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं किन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि यह पारमार्थिक दृष्टि है जो अवस्थात्रय से परे जाकर विशुद्ध अद्वैतानुभूति की स्थिति में ही सम्भव है। जब तक इस जगत् के शुभ-अशुभ, दु:ख-दैन्य आदि की सीमाओ से हम बँधे हुए हैं तब तक यह जगत् हमारे लिए मिथ्या नहीं हो सकता।

———

षष्ठ परिच्छेद

बन्ध और मोक्ष

अद्वैत वेदान्तियों के मतानुसार आत्मा का शरीर और मन में अपनेपन का सम्बन्ध होना बन्धन है। आत्मा का शरीर के साथ आसक्त हो जाना ही बन्धन है। आत्मा शरीर से भिन्न है फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को निजी अनुभूतियां समझने लगती है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मुक्ति की अवस्था आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है अर्थात् उसका निजी स्वरूप है। पूर्णत्व स्वयं आत्मा में निहित है। अविद्या को नष्ट करने वाला ज्ञान आत्मा के स्वरूप लाभ में सहायक होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष का अर्थ ईश्वर का सम्पर्क अथवा ईश्वर के आनन्द में आनन्दित होना नहीं है।

अद्वैत वेदान्त में चूँकि आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न माना गया है। अत: मोक्ष को आत्मा का स्वरूप लाभ कहना उतना ही उपयुक्त है जितना उसे ब्रह्म लाभ अथवा ब्रह्म साक्षात्कार कहना। अद्वैत वेदान्त में मुक्ति के कई पर्याय हैं—आत्मज्ञान, आत्मलाभ अथवा ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मसाक्षात्कार आदि। सच्चिदानन्द आत्मा अविद्या वश अपने को सुप्त, दु:ख या भोक्तृ समझने लगता है यही आत्मा में अनात्मा का अध्यास है। इस अध्यास का निराकरण ही मोक्ष है। इसलिए अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। वही ब्रह्म प्राप्ति है। शंकर के अनुसार आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है, ब्रह्मज्ञान है ('स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष:', 'ब्रह्मभावस्य मोक्ष:') मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है।

अद्वैत वेदान्ती इस बात से सहमत है कि मोक्षावस्था पूर्ण ज्ञान की अवस्था है रामकृष्ण-विवेकानन्द के अद्वैतवाद में आत्मज्ञान ही मोक्ष है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति'। शंकर के अनुसार जीव का ब्रह्मरूप होना ही मोक्ष है। सांख्य की भाँति अद्वैत वेदान्ती भी आत्मा के बन्धन को वास्तविक न मानकर आभासी मानते हैं इसलिए मोक्ष आत्मा का नित्य स्वरूप है अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष उत्पाद्य नहीं है क्योंकि उत्पन्न होने वाली वस्तु दूषित व अनित्य होती है जबकि मोक्ष विशुद्ध चैतन्य स्वरूप शाश्वत सत्य की चिरन्तन अनुभूति है। नित्य होने के कारण आत्मा या ब्रह्म में विकार की सम्भावना नहीं होती। अत: मोक्ष अविकार्य है वह संस्कार्य भी नहीं है क्योंकि आत्मा आप्तकाम, शुद्ध-बुद्ध एवं नित्य मुक्त स्वभाव है। अत: इसे

भला किस प्रकार संस्कार की आवश्यकता है। मोक्ष प्राप्य नहीं है क्योंकि वह किसी भावान्तर की प्राप्ति नहीं है। शंकर ने अपने शरीरक भाष्य में मोक्ष के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किए हैं—

"इदमं तु पारमार्थिकं कूटस्थ नित्यं तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्"।

उपनिषदों में कहा गया है कि अविद्या के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही जीवों को बन्धनग्रस्त कर देता है। इसके प्रभाव में जीव इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अथवा शरीर से तादात्म्य करने लगता है। बन्धन की अवस्था में जीव को ब्रह्म, आत्मा, जगत् के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह अवास्तविक एवं क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है।

विद्या से ही मोक्ष संभव है क्योंकि अहंकार का विनाश विद्या से ही संभव है। विद्या के विकास के लिए उपनिषद् में नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है। जीव और ब्रह्म की अद्वैतता ही मोक्ष है। जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है। इस प्रकार मुक्ति ऐक्य का ज्ञान है।

आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा मूलतः नित्य, मुक्त, विशुद्ध चैतन्य एवं अनश्वर है। जब यह अपने को शरीर, मन या इन्द्रिय से एकाकार कर लेती है, तब यह बन्धन-ग्रस्त हो जाती है। आत्मा न तो शरीर है, न मन है, न ज्ञानेन्द्रिय है, न कर्मेन्द्रिय। अज्ञानवश व्यक्ति जब अपनी आत्मा को इनसे अभिन्न समझने लगता है तब वह बन्धन में जकड़ जाता है। वह शरीर, मन एवं इन्द्रियों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर सदैव व्याकुल रहा करता है।

अब प्रश्न है—यदि आत्मतत्त्व सचमुच शरीर, मन और इन्द्रिय से भिन्न है, तो फिर यह शरीर, मन एवं इन्द्रियों के दुःख से स्वयं क्यों दुःखी हो जाता है? तो, इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार कोई पिता अपनी संतानों के सुख-दुःख को मोहवश अपना सुखःदुःख समझ लेता है, ठीक

उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान वश शरीर, मन और इन्द्रियों के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुख मान लेता है। यही बन्धन का कारण है।

अज्ञान के वशीभूत जीव अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है और मोहवश शरीरेन्द्रियादि तथा उनके धर्मों से तादात्म्य स्वीकार कर उनके धर्मों को स्वयं पर आरोपित कर लेता है तथा सुखी दुःखी होता है। वेदान्त के अनुसार न तो आत्मा का जीव भाव वास्तविक है न ही उसका कर्तृत्व भोक्तृत्व। भ्रमवश वह प्रकृति या माया के कर्तृत्व को स्वयं पर आरोपित कर लेता है तथा स्वयं को कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता समझने लगता है। इस आरोपित भोक्तृत्व के कारण जीव को पुण्यपापात्मक कर्मों के भोग के लिए विभिन्न योनियों में संसरण करना पड़ता है। जन्म और फिर मृत्यु —इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है, तब तक जब तक आत्मलाभ अर्थात् आत्म स्वरूप का ज्ञान न हो जाए। यह जन्म-मरण का चक्र ही संसार है, बन्धन है।

कर्मबन्धन ही संसरण का मूल है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं, संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित वे कर्म हैं जिनका फलभोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है, प्रारब्ध वे कर्म हैं जिन्होंने फल देना प्रारम्भ कर दिया है तथा क्रियमाण वे कर्म हैं जो वर्तमान में सम्पन्न हो रहे हैं तथा आगे चलकर जिनका फल मिलेगा। इनमें से क्रियमाण और संचित ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध का नाश भोग द्वारा ही होता है। जीव इन्हीं कर्मों के पाश में बँधकर नाना प्रकार के कष्ट झेलता रहता है। यही बन्धन है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अविद्या ही बन्धन का मूल कारण है और ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इस बात की विस्तृत व्याख्या आगे इसी परिच्छेद में की जायेगी। रामकृष्ण परमहंस जब बन्धन और मुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं तो वे कहते हैं कि बन्धन और मुक्ति इन दोनों के कर्त्ता वे (ईश्वर) ही हैं। अब इस बात पर विचार करने से हमारे मन में प्रश्न उठता है कि उन्होंने फिर दोष की सृष्टि क्यों की? बन्धन की सृष्टि वे नहीं भी तो कर सकते थे। इसके उत्तर में परमहंस देव कहते हैं कि ऐसा होने से 'ढाई' का खेल नहीं चलता। उसका खेल चलता रहे

इसके लिए अच्छे के साथ बुरे को भी रखना पड़ेगा। वे कहते हैं—सभी यदि ढाई को छूकर बैठ जाएँ, तो खेल चले कैसे? पर हाँ, यदि कोई खेलते-खेलते थक जाए, तो ढाई स्वयं अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा देती है। ईसप की कहानियों में मेढ़कों ने लड़कों से कहा था—तुम्हारे लिए तो यह खेल है, पर हम तो मरे जा रहे हैं। इसके उत्तर में परमहंस देव 'वचनामृत' में अनेक स्थानों में कह चुके हैं कि तुम लोग जो 'हम लोग मरे जा रहे हैं' कहते हो, वह 'हम लोग' कौन हैं? ईश्वर को छोड़कर क्या और कोई है? यदि वे स्वयं कभी अपनी आँखों में पट्टी बाँधकर, तो कभी आँखों को खोलकर चक्कर लगाते रहें, तो इससे भला दूसरे पर क्या अत्याचार करना हुआ? परमहंसदेव कहते हैं कि 'हे राम, तुमने अपनी दुर्दशा स्वयं की है।' जहाँ वे बन्धन में रहते हैं, वहाँ वे स्वयं कष्ट भोग रहे हैं।[1]

यहाँ प्रश्न उठता है कि इस प्रकार अपने लिए कष्ट को स्वयं बुला लाना तो मूर्ख भी नहीं करता। इसका उत्तर यह है कि मूर्ख की भी बुद्धि क्या उन्हीं की नहीं है! वे उस बुद्धि का प्रयोग नहीं करते। उनकी जो बुद्धि है, वह हमारी बुद्धि के लिए अगोचर है। न समझ सकने के कारण कहते हैं—यह उनकी लीला है, तथा इस लीला के साथ छोटे-छोटे लड़के-लड़कियों के खेल की तुलना करते हुए कहते हैं—'लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्'। जैसे छोटे छोटे लड़के-लड़कियाँ खेलने के लिए घर बनाते हैं, बिगाड़ते हैं और पुनः बनाते हैं, ठीक इसी प्रकार वे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं। असल बात यह है कि उन्हें छोड़कर और दूसरा कोई नहीं है। 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'—इस जगत् में मैं अकेला हूँ; मुझे छोड़ और दूसरा कौन है? अतः उन्हें छोड़कर जब और कोई नहीं है, तब किसी को तो वे बद्ध कर रहे हैं और किसी को मुक्त—ऐसा तो नहीं होता।[2]

अब यहां पर प्रश्न यह उठता है कि इस बन्धन से मुक्ति का उपाय क्या हो सकता है? तो, इसके उत्तर में परमहंस देव जी कहते हैं कि बन्धन यदि हमें पसन्द न हो, तो उसका भी उपाय है।

---

1. श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 98।
2. वही, पृ० 98।

यदि हम हृदय से कातर होकर प्रार्थना करें, तो वे हमें इस बन्धन से मुक्त कर देते हैं। किन्तु उन्होंने ऐसी विविधता की रचना क्यों की है, इस प्रश्न के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। क्यों की है, यह तो हम नहीं जानते। हम तो इतना ही सोच सकते हैं कि इस सृष्टि में तुम्हारा खेल जैसा भी हो, तुम हमें रिहाई दो। ऐसा होने से हो सकता है, वे मुक्ति देने में संकोच न करें; लेकिन उनसे यह प्रश्न करना नहीं बनता कि क्यों उन्होंने ऐसी सृष्टि रची है। यह उनकी मौज है। इसीलिए उनको कहा गया है—'इच्छामयी', 'मौजी'। उनकी जैसी इच्छा होगी, वे वैसा ही करेंगी, हमारे सिद्धान्तों के लिए नहीं रुकेंगी। हमें यदि बन्धन असह्य हो रहा हो, तो उससे मुक्ति का उपाय खोजना होगा। उस उपाय के सम्बन्ध में भी उन्होंने ही व्यवस्था कर रखी है। किन्तु क्या हम उस उपाय को लेना चाहते हैं? यहाँ पर कहा गया है कि इस संसार की सृष्टि करने के पश्चात् वे कह रही है, "जाओ बेटे, अब जाकर खेलो।" अब हमें खेल पसन्द है तो हर्ज क्या है? जब खिलौना अच्छा नहीं लगता, तब बालक कहता है, 'माँ के पास जाऊँगा।' तब और कोई खिलौना उसे पकड़कर नहीं रख सकता। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या यह खेल ये सब खिलौने हमारे लिए असह्य हो गए हैं? यदि हो गए हैं, तो उसकी व्यवस्था है और वह व्यवस्था उन्होंने ही कर रखी है। परमहंस देव जी कहते हैं—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् अर्थात् भगवान् ने समस्त इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर रचा है, इसलिए ये इन्द्रियाँ केवल बाहर की वस्तुओं को ही देखती और अनुभव करती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देखतीं, उस ओर उनकी नजर नहीं है। लेकिन इन लोगों में कोई विरला ही व्यक्ति 'आवृत्तचक्षु' होता है, जो बाहर की ओर से आँखें फेरकर अन्तरात्मा को देखता है। अतः दोनों ही हैं। माँ ने एक ओर जैसे मन से कह दिया है कि 'जा, तू विषयों का भोग कर; वैसे ही दूसरी ओर वे उसके लिए भी हाथ बढ़ा देती है जो माँ के लिए व्याकुल हो जाता है।[1]

अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या वैसी व्याकुलता हममें है? हम क्या फिर से उनकी गोद में लौट जाना चाहते हैं? अनेक बार हम सोचते हैं कि हम यह चाहेंगे कैसे? उन्होंने क्या हमें उस अमृत का स्वाद दिया है? उस स्वाद से वंचित कर रखा है इसीलिए तो हम विषय के प्रति

1. श्रीरामकृष्ण वचनामृतप्रसङ्ग, पृ० 99।

आकर्षण का अनुभव करते हैं। विषय के प्रति इतना आकर्षण है तभी तो उनके प्रेम का स्वाद हम नहीं पाते। हम सोचते हैं कि हमारे लिए करने को कुछ नहीं है, जो करना हो वह वे ही करें। 'देवीसूक्त' में है—यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्'—मैं जिसे चाहती हूँ उसे बड़ा करती हूँ, फिर जिसे चाहती हूँ अधोगामी बना देती हूँ। शास्त्र कहते हैं—'तमेव साधु कर्म कारयति यम् ऊर्ध्वं निनीषति'—जिसे वे (ईश्वर) ऊँचा उठाएँगे, उससे शुभ कर्म कराते हैं, और 'तमेव असाधु कर्म कारयति यम् अधोनिनीषति'—जिसे अधोगामी बनाएगें उससे अशुभ कर्म कराते हैं। परमहंस देव जी कहते हैं कि अब यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म वे ही कराते हैं, तो उसमें हमारा क्या दोष? कोई दोष नहीं है, केवल एक बात को छोड़कर, और वह यह कि हम यह न सोचें कि मैं कर रहा हूँ। कर्त्तृत्व का परित्याग ही मोक्ष की साधना है क्योंकि कर्त्तृत्व के परित्याग से भोक्तृत्त्व स्वयं घट जाता है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्त्व छूटने से संसरण समाप्त हो जाता है।

स्वामी विवेकानन्द की मोक्ष सम्बन्धी धारणा में अद्वैत वेदान्त से सर्वथा अनुकूलता है। आचार्य शंकर के समान वे भी मोक्ष को न तो संस्कार्य मानते हैं और न ही प्राप्य। कोई भी बाहरी कार्य मोक्ष को प्रभावित नहीं कर सकता। आत्मा पर किसी भी पदार्थ की प्रतिक्रिया से तात्पर्य यह होगा कि आत्मा मुक्तस्वरूप नहीं है।[1] यदि आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो इसका तात्पर्य है कि आत्मा मुक्तस्वरूप है[2] जो आत्मा कार्य-कारण से परे है उस पर किसी कार्य का प्रभाव कैसे पड़ सकता है?[3] मोक्ष आत्मा का गुण भी नहीं है, जैसे चकमक पत्थर में रहने वाली अग्नि उसका स्वभाव है, गुण नहीं।[4] गुण उपार्जित किया जाता है और नष्ट हो जाता है पर आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है। आत्मा को बद्ध करने वाला कोई पदार्थ नहीं है।[5] यदि ऐसा सम्भव हो सके तो आत्मा

---

1 श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 100।
2. वही, पृ० 196।
3. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-2, पृ० 196।
4. वही, पृ० 193।
5. वही, पृ० 196।

का स्वातंत्र्य कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार मोक्ष को प्राप्य[1] भी नहीं कह सकते। जिसने कभी स्वराज्य को खोया ही नहीं, उसे पुन: उसको प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है? यह जो बद्धावस्था प्रतीत हो रही है—यह भ्रान्ति है,[2] सत्य नहीं। परमार्थत: आत्मा शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त-स्वभाव है।[3]

स्वामी जी कहते हैं कि आत्मा शरीर नहीं, शरीर का स्वामी या शरीरी है, इन्द्रिय नहीं इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यह देह नहीं, देह में स्थित देव है। यह जड़ नहीं चेतन है। यह भौतिक नहीं, अभौतिक तत्त्व है। शरीर इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा यह ससीम और सान्त दृष्टिगोचर होता है, परन्तु तत्त्वत: यह असीम और अनन्त है। शरीर से संयोग ही आत्मा का बन्धन है और शरीर से वियोग ही इस बन्धन का विनाश या अमरत्व की उपलब्धि है। इस उपलब्धि को ही अन्तिम उद्देश्य कहा गया है। अमरत्व को प्राप्त करने के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। अत: अमरत्व ही अन्तिम लाभ, परम प्राप्य, अशेष लाभ माना जाता है।

स्वामी जी के अनुसार अमरत्व के दो अर्थ हैं—अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक अर्थ में अमरत्व मृत्यु का अभाव है और भावात्मक अर्थ में अमरत्व स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। साधारणत: हम समझते हैं कि मृत्यु हमारे जीवन का अन्त है। जब हमारी मृत्यु होती है तो जीवन समाप्त हो जाता है, परन्तु मृत्यु से जीवन सर्वदा समाप्त नहीं होता। जीवन-मृत्यु तो एक ही सत्य के दो स्वरूप हैं, अविच्छिन्न अंग हैं। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती है तथा जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी अवश्य होता है। अत: जन्म और मृत्यु में किसी एक को अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए इन्हें एक ही सत्य के दो पार्श्वों के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। हम जन्म लेते हैं मरने के लिए और मरते हैं जन्म लेने के लिए। परन्तु जिस समय हमारी मृत्यु होती है, उस समय हम समझते हैं कि हमारा जीवन समाप्त हो गया अर्थात् मरण जीवन का अन्त प्रतीत होता है। वस्तुत: यह अन्त नये जन्म का आरम्भ है। इस प्रकार जन्म और मरण अनवरत चक्र

---

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-2, पृ० 195।
2. वही, पृ० 197।
3. वही, खण्ड-6, पृ० 33।

चलता रहता है। हम मरकर पुनः जन्म लेते है। यही पुनर्जन्म है। इसे बन्धन कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मा का शरीर के साथ पुनः पुनः संयोग स्थापित हो जाता है। यह आत्मा शरीर संयोग ही बन्धन है। इस बन्धन का विच्छेद ही अमरता है। इस प्रकार अभावात्मक अर्थ में अमरता मृत्यु का अभाव, पुनर्जन्म का अभाव है। संक्षेप में यह जन्म-मरण के अनवरत चक्र का अभाव है।

यहाँ पर प्रश्न यह है कि यह बन्धन क्यों और कैसे होता है? उत्तर है, बन्धन कर्मजन्य है। हम कर्म करते हैं, फल भोगते हैं। कर्म और फल की अनवरत धारा चलती रहती है। कर्म एक ओर कारण है तो दूसरी ओर कार्य। यह बीज और वृक्ष दोनों है। हमारे कर्म का एक पूर्व क्षण है जिसे कारण कहते हैं तथा इसका उत्तर क्षण है जिसे कार्य कहते हैं। बीज और वृक्ष के समान कारण और कार्य सदा एक साथ रहते हैं। अकारण कोई कार्य नहीं होता अर्थात् सर्वदा सकारण ही होता है तथा कारण निष्फल नहीं होता अर्थात् कारण सर्वदा सफल होता है। उस प्रकार कर्म में सकारणता और सफलता दोनों समाहित है। कर्म का इस प्रकार सकारण और सफल होना भूत, वर्तमान और भविष्य का नियामक नियम है। भूत में कर्म के कारण हमें वर्तमान शरीर (कार्य) प्राप्त हुआ है और वर्तमान में कर्म के कारण पुनर्जन्म होगा। इस कर्म पुनर्जन्म का विनाश ही अमरत्व की अनुभूति है। जब आवागमन का चक्र अवरुद्ध हो जाता है तो सभी क्लेश शान्त हो जाते हैं। यही अमृतत्व की प्राप्ति या अमरत्व की अनुभूति है। इस अमृतत्व को प्राप्त करने वाले के लिए कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। अतः यह अशेष लाभ या परम लाभ है।

अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष ब्रह्म साक्षात्कार की चरम् अवस्था है। इस प्रशान्त स्थिति का ईशावास्योपनिषद् की पदावली में सुन्दर चित्रण किया गया है—"तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुपश्यति" अर्थात् मोक्ष में कैसा मोह, कैसा शोक तात्पर्य यह है कि मोक्ष में सारे भेद, सारे द्वैत समाप्त हो जाते हैं। जीव अपने शुद्ध साक्षी रूप में स्थित हो जाता है—"साक्षी चेत केवलो निर्गुणश्च।"

अद्वैत वेदान्त ब्रह्मैक्य पर बल देता है। उसका कहना है कि अपनेपन को त्याग कर ईश्वर

में विलीन हो जाने में ही मनुष्य की पूर्ण आध्यात्मिक तुष्टि की अभिव्यक्ति होती है। रामकृष्ण-विवेकानन्द के अद्वैतवाद में भी मोक्ष की यही चरम स्थिति है। स्वामी जी की बन्ध मोक्ष धारणा तो शत प्रतिशत अद्वैत परम्परा का ही अनुसरण करती है किन्तु ठाकुर अवश्य भक्तयनुप्रणित अद्वैत की बात करते हैं—अर्थात् ऐसा अद्वैत जिसमें इतना द्वैत बना रहे कि भक्त और भगवान की धारणा के लिए अवकाश हो सके। मोक्षावस्था में श्रीरामकृष्ण देव ब्रह्म-तादात्म्य की अपेक्षा ब्रह्मानन्द रसास्वादन को अधिक महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि "मैं चीनी नहीं बन जाना चाहता। मुझे चीनी खाना ही अच्छा जान पड़ता है। मेरी यह इच्छा कभी नहीं होती कि मैं कहूँ—मैं ब्रह्म हूँ। मैं तो कहता हूँ कि तुम भगवान हो और मैं तुम्हारा दास हूँ।[1]

स्वतन्त्रता और बन्धन दोनों विरोधी सत्य हैं। इनमें एक को यदि सत्य स्वीकार किया जाय तो दूसरे को अवश्य असत्य स्वीकार करना होगा। स्वतन्त्र होने का अर्थ है बन्धन विनाश अथवा बन्धन से मुक्ति। इसी प्रकार बन्धन का अर्थ परतन्त्र होना है, स्वतन्त्र नहीं। परतन्त्रता एक बन्धन है जो स्वतन्त्रता का विरोधी है।

परन्तु स्वामी विवेकानन्द की विशेषता यह है कि वे दोनों का समन्वय करते हैं, दोनों में सामंजस्य स्वीकार करते हैं। अतः स्वामी जी के अनुसार विरोध नहीं, एक की सत्यता से दूसरे की असत्यता सिद्ध नहीं होती। स्वामी जी मानव को पूर्णतः स्वतन्त्र मानते हैं। तात्त्विक दृष्टि से मानव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। परन्तु मानव का जीवन कर्मवाद के नियमों से संचालित होता है। कर्मवाद का नियम बतलाता है कि कर्म करने पर उसका फल निश्चित होता है अर्थात् कर्म सफल है। इसके साथ ही फल बिना कर्म किए नहीं मिल सकता। कर्म अकारण नहीं, यदि कारण है तो उसका कार्य या फल अवश्य मिलेगा। कर्मवाद के इन्हीं नियमों से हमारा सम्पूर्ण जीवन संचालित होता है। हम जैसा कर्म करते हैं, वैसा फल भी भोगते हैं। हमारे वर्तमान जीवन की सभी उपलब्धियाँ हमारे भूत कर्मों के परिणाम या फल हैं। अतः वर्तमान भूतजन्य है। परन्तु यह भविष्य का जनक भी है। हम वर्तमान जीवन में जैसा भी कर्म कर रहे हैं, वैसा ही फल हमें भविष्य में मिलेगा। इस प्रकार

---

1. श्रीरामकृष्णवचनामृत, प्रसङ्ग, पृ० 185।

भूत, वर्तमान और भविष्य सभी एक ही शृंखला में आबद्ध हैं। यह शृंखला ही कर्म-बन्धन है। हमारा जीवन इस नियम से बँधा है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह है कि यदि हमारा जीवन किसी नियम के बन्धन में अर्थात् कर्म-नियम से आबद्ध है तो हम स्वतन्त्र कैसे? इसके उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि कर्मवाद का उपरोक्त नियम सत्य है। जीवन तथा जगत् की सभी घटनाएँ सकारण हैं अकारण नहीं तथा भविष्य का जीवन भी अकारण नहीं। कर्मवाद का यह नियम प्रमाणित करता है कि हम अपनी नियति के नियामक है। हम अपने कर्मों के अनुसार अपने भविष्य को बना या बिगाड़ सकते हैं। हम अपने भाग्य के स्वयं निर्माता हैं। किया गया कर्म संस्कार के रूप में भविष्य का जनक होता है। अतः अपने भविष्य निर्माण में हम स्वतन्त्र हैं। हम किसी के अधीन नहीं, हम स्वाधीन हैं। हम जैसा चाहें कर्म कर सकते हैं और तदनुसार फल भी भोग सकते हैं। इस प्रकार कर्म का नियम तो अचेतन है। यह नियम यन्त्रवत् चलता रहता है, इसमें कोई व्यवधान नहीं होता। परन्तु इस नियम के अनुसार कार्य करने में चेतन मानव स्वतन्त्र है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह कैसा कर्म करे और फल पाये। मानव के ऊपर कोई दबाव नहीं। वह स्वतन्त्र होकर इस नियम के अनुसार कार्य करता है। कर्म का बन्धन तो पूर्व और उत्तर क्षणों का बन्धन है। इससे यही सिद्ध होता है कि दो क्षणों में एक को दूसरे की अपेक्षा है। परन्तु इस सापेक्षता को स्वीकार करने में मानव स्वतन्त्र है। इससे स्पष्ट है कि कर्म के नियम में भूत और वर्तमान का बन्धन अवश्य है। परन्तु इस नियम के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता, मानव को अपने भविष्य को बनाने या बिगाड़ने में वह स्वतंत्र है। इसमें अपने को असहाय, पराश्रित, पराधीन मानने की आवश्यकता नहीं। वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है। इस प्रकार स्वतन्त्र भविष्य निर्माण में कर्मवाद मानव का साधक है, बाधक नहीं।

जहां तक बन्धन का कारण और उसे दूर करने का प्रश्न है तो, इसके विषय में उपनिषदों का कहना है कि बन्धन का मूल कारण यह है कि आत्मा को अपने स्वरूप के विषय में कि वह

ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अज्ञान है। कहा भी गया है कि जो यहाँ भेद को देखता है, वह जीवन-मरण के चक्र में पड़ता है[1]

यदि बन्धन का कारण अज्ञान है, तो यह बन्धन केवल तब दूर हो सकता है जब कि यह अज्ञान दूर हो जाए। उपनिषदों में यह दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि स्वयं के अज्ञान को दूर करने, या ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का और कोई रास्ता नहीं है।

शंकराचार्य कहते हैं कि बन्धन का मूल कारण जीव का स्वयं के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है। और स्वयं को मन, शरीर इन्द्रियाँ इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है, और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है परन्तु जब यह दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है तो जीव यह अनुभव करता है कि वह तो अनादि काल से ब्रह्म ही था। अत: वह मुक्त ही था। इस प्रकार जीव का बन्धन केवल उसकी कल्पना में ही है। कहने का तात्पर्य यह कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं है। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं है। इसलिए यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकर कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष दोनों ही सम्प्रत्यय केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य हैं।

रामकृष्ण परमहंस जी कहते हैं कि ईश्वर को हटाकर यह जो स्वयं का कर्तृत्वबोध है, यही विपत्ति का मूल है। यदि हम इस बात को सदा स्मरण रख सकते कि सब कुछ वे ही कर रहे हैं, तब तो और कोई चिन्ता ही नहीं थी, तब तो हम जीवन्मुक्त हो जाते। लेकिन जो अच्छा है उसमें तो हम अपना कर्तृत्व देखते हैं और जो बुरा है उसके लिए यदि कहें कि 'वे करा रहे हें' तब तो यह मन के साथ छल करना है। यहाँ पर ठाकुर एक बड़े सुन्दर दृष्टान्त से अपनी बात स्पष्ट करते हैं वे कहते हैं कि—एक ब्राह्मण ने बहुत सुन्दर बाग लगाया। उस बाग में एक दिन एक गाय

---

1. क० उ०, 2.1.10।

घुसकर सुन्दर-सुन्दर फूलों के पौधों को चर गई। यह देखकर क्रोध से ब्राह्मण आग-बबूला हो गया और उसने गाय को इतना मारा कि वह मर गई। तब गोहत्या का पाप ब्राह्मण के ऊपर चढ़ने आया। यह देखकर उसने कहा, "ठहरो, यह पाप मैंने नहीं किया है। हाथ के देवता इन्द्र हैं। अतएव गोहत्या इन्द्र ने ही की है, हाथ तो एक यन्त्र मात्र है।" तब गोहत्या का पाप इन्द्र के पास गया। इन्द्र ने सब सुनकर उस पाप को कुछ देर रुकने के लिए कहा और वे स्वयं एक बूढ़े ब्राह्मण के वेश में उस बगीचे में गए। बगीचे में जाकर वे बागवान की बड़ी प्रशंसा करने लगे। यह सुनकर ब्राह्मण बड़ा खुश हो गया। वह छद्मवेशी इन्द्र को घुमा घुमाकर सब दिखाने लगा और बताने लगा कि कैसे उसने स्वयं यह सारा बाग लगाया है। वह उसका सारा श्रेय स्वयं लेने लगा। घूमते-घूमते वे दोनों अकस्मात् मरी हुई गाय के पास जा पहुँचे। चौंककर छद्मवेशी इन्द्र ने पूछा, "अरे, यह गोहत्या किसने की है?" तब ब्राह्मण निरुत्तर हो गया। अब तक तो वह 'मैंने किया है, मैंने किया है' कह रहा था, अतः अब कैसे कहे कि 'यह इन्द्र ने किया है!' इसीलिए वह चुप रह गया। तब इन्द्र ने अपना रूप धारण कर लिया और कहा, "वाह रे पाखण्डी! जितना अच्छा काम है, वह सब करने वाला तू और गोहत्या करने वाला इन्द्र?"

हमारी अवस्था भी ठीक इसी प्रकार है। हम यदि पूरी तरह कर्तृत्वहीन होवें, तो शुभ और अशुभ किसी भी प्रकार के कर्म के फल के लिए हम उत्तरदायी नहीं होंगे। लेकिन जब अपने में हमें कर्त्तापन का, भोक्तापन का बोध होता है, तब अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के फल भी हमें भोगने पड़ते हैं। अतः या तो यह सारा दायित्व हम पूरी तरह से अपने ऊपर लें या फिर सब कुछ उनके हाथ में छोड़ दें। बीच का कोई रास्ता नहीं है। सब जगह तो हम कर्त्ता बने रहें, और जहाँ असुविधा होती है वहाँ यह कहें कि भगवान् करते हैं—यह नहीं हो सकता। परमहंस देव जी कहते हैं कि हम कई बार सुनते हैं कि 'थोड़ा भगवान् का नाम लेना चाहिए; पर वह भी यदि वे कराएँगें तो होगा।' पर खाने के समय तो कोई नहीं कहता कि वे खिलाएँगे तो खाएँगे! तब तो हमारी चेष्टा बनी रहती है। खाने के समय तो हम प्राणपण से चेष्टा करते है और भगवान् का स्मरण करने के समय कहते हैं कि 'वे कराएँगे तो होगा।' यही हमाारा आलस्य है; अपने मन के

साथ छल है। यह छल न कर यदि हम सम्पूर्ण रूप से उन पर निर्भर हो सकें, तो हमारा विश्वास कभी धोखा नहीं खाएगा। वे ही सब प्रकार के अमंगल से हमारी रक्षा करेंगे। किन्तु इसके पहले नहीं और यदि खेल हमें उतना अरुचिकर न हो तो खेल चलता रहे। वे देखेंगे, और देखेंगे ही नहीं बल्कि दो-एक पतंग कट जाए तो वे आनन्द से ताली बजा उठेंगे। यह कभी नहीं कहेंगे कि "अरे, यहाँ तो मेरा खेल ही बन्द हो गया!"[1]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भी मानव बन्धन का कारण निज स्वरूप का अज्ञान है। बन्धन अज्ञान में ही निहित है। पुरुष या जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। यही उसका बन्धन है। मोक्ष केवल इस अज्ञान से दूर होने और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में निहित है। दूसरे, पुरुष या जीव नित्यमुक्त है; परन्तु उसे वह ज्ञान तब प्राप्त होता है जब उसका अज्ञान दूर हो जाता है। चूँकि बन्धन का कारण केवल हमारा अज्ञान है, और अज्ञान का निवास हमारे मन में है कहीं वाह्य जगत् में नहीं है; अतः बन्धन की भी सत्ता केवल हमारे मन में ही है, कहीं वाह्य जगत् में नहीं है। अतः बन्धन को दूर करने और मोक्ष को प्राप्त करने में होने वाला परिवर्तन केवल ज्ञानगत है। अतः स्वामी जी के अनुसार बन्धन का दूर होना और मोक्ष की प्राप्ति व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव और पुरुष नित्य मुक्त ही है। अतः उनके बन्धन और पुनः मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता।

आचार्य शंकर के अनुसार जिस प्रकार रज्जुसर्प भ्रम को ज्ञान से, और केवल ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है, और कर्म हमें इस भ्रम को दूर करने में किंचित मात्र भी सहायक नहीं होता; उसी प्रकार मोक्ष भी, जो कि ब्रह्म जगत् भ्रम का दूर होना ही है, ज्ञान से, और केवल ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि "वे (माँ) लीलामयी हैं, यह संसार उनकी लीला है। वे इच्छामयी हैं। वे आनन्दमयी लाखों में से किसी एक को मुक्ति देती हैं।"[2] प्रश्न होता है कि वे तो

1. श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 101।
2. श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 101।

सभी को मुक्ति दे सकती हैं, फिर क्यों नहीं देतीं? इसके उत्तर में परमहंस जी कहते हैं कि यह उनकी इच्छा है कि खेल चलता रहे। फिर जब खेल बन्द होगा, तब वह भी तो उन्हीं के करने से होगा।

यहाँ पर एक मार्मिक प्रश्न यह है कि सब कुछ त्यागे बिना क्या ईश्वर को नहीं पाया जा सकता? क्या वे हमारी पकड़ से बाहर ही रहेंगे? तो इसके उत्तर में रामकृष्ण देव कहते हैं कि "तुम्हें भला सब त्याग क्यों करना होगा? तुम रस में डूबे हुए ठीक ही हो। दानेदार भी और सिरका भी।" गुड़ की भेलियाँ होती हैं, किसी-किसी भेली में कुछ दानेदार गुड़ भी होता है, फिर कुछ सिरका गुड़ भी। उसी प्रकार तुम्हारा हाल है।[1] वे कहते हैं कि "मैं सच कहता हूँ, तुम लोग संसार करते हो इसमें दोष नहीं है।[2] पर ईश्वर में मन रखना होगा, इस सम्बन्ध में रामकृष्ण कोई समझौता नहीं करते। वे पुनः कहते हैं कि संसार करने में दोष नहीं है, दोष है संसार के प्रति आसक्ति रखने में, भगवान् को भूलकर संसार में डूबे रहने में।

यहाँ पर यह प्रश्न पुनः उठता है कि क्या सभी लोग भगवान् के दर्शन पा सकेंगे? तो इसके उत्तर में परमहंस देव जी कहते हैं कि "किसी को भी दिन भर भूखा नहीं रहना पड़ता। किसी को सबेरे नौ बजे, किसी को दोपहर के दो बजे, तो किसी को शाम के वक्त भोजन मिल जाता है। उसी प्रकार, जन्म-जन्मान्तर में किसी न किसी समय, इसी जन्म में या अनेक जन्मों के बाद, सभी को भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे।"[3] छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे-बैठे खिलौने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। किन्तु जैसे ही उसकी माँ वहाँ आ जाती है वैसे ही वह सारे खिलौने छोड़कर 'माँ, माँ' कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। पर यदि तुम एक बार भी उस आनन्दमयी माँ को देख पाओ तो फिर

1. श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 102।
2. श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रसङ्ग, पृ० 102।
3. अमृतवाणी, पृ० 5-6।

तुम्हें धन-मान-यश नहीं भाएँगे, तब तुम सब फेंककर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।"[1]

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए व्याकुलता, विश्वास, अनुराग एवं प्रपत्ति की भावना पर भी जोर दिया। "जितनी व्याकुलता मनुष्य को जल में डुबो देने पर होती है उतनी व्याकुलता मानव-मन में ईश्वर के दर्शन के लिए यदि होने लगे तब जानना चाहिए कि 'उषः काल' समीप है।"[2] विश्वास के महत्त्व को उन्होंने एक प्राचीन कथानक द्वारा व्यक्त किया है—"किसी मनुष्य को समुद्र पार कर लंका जाना था। विभीषण ने कोई वस्तु प्रदान कर कहा, 'इसे कपड़े के छोर में बाँध लो पर खोल कर मत देखना।' आधा मार्ग पार कर लेने पर उसने उस वस्तु को खोलकर देख लिया। देखने पर ज्ञात हुआ कि उस पर केवल 'राम' शब्द ही लिखा है। वह मन में कहने लगा—'अरे, बस यही उसका मन्त्र था?' यह कहते ही व्यक्ति डूब गया।[3] "गाय जब चुन-चुन कर घास-पत्ते खाती है तो कम दूध देती है। इसी प्रकार ईश्वर-विषयक सभी बातों पर विश्वास करने से शीघ्र ही प्रगति होगी।"[4] ईश्वर के प्रति अनुराग कैसा होना चाहिए, इस विषय में उनका यह कथन है—"माता का जो स्नेह पुत्र के प्रति होता है, पति-पत्नी का जो आकर्षण परस्पर होता है एवं विषयी का जो अनुराग विषय में होता है, यह तीनों स्नेह, अनुराग और आकर्षण का सम्मिश्रण जब ईश्वर के प्रति हो तभी वह दर्शन देगा।"[5]

श्रीरामकृष्ण ने यज्ञादि शास्त्र-विहित अनुष्ठानों की आजीवन अनिवार्यता स्वीकार नहीं की। उनके मत से तभी तक पंखा चलाने की आवश्यकता है जब तक वायु नहीं चलती। इसी प्रकार यदि ईश्वर पर प्रीति उत्पन्न हो जाए तो इन कर्मों की भी आवश्यकता नहीं रह जाएगी।[6] उन्होंने मूर्तिपूजा की सार्थकता इस तर्क के साथ प्रस्तुत की है कि साधक को सदैव स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना चाहिए। जिस प्रकार कोई बाण चलाने की अभ्यास कुशलता पाने के लिए पहले

---

1. अमृतवाणी, पृ० 6।
2. रामकृष्णवचनामृत (द्वितीय भाग), पृ० 620।
3. वही, (प्रथम भाग), पृ० 66।
4. वही, (प्रथम भाग), 429।
5. वही, पृ० 133-4।
6. वही, पृ० 69।

वक्ष पर निशान साधता है, इसके पश्चात् दीपक, पक्षी आदि पर लक्ष्य भेद करने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार ईश्वर की प्राप्ति में पहले साकार-उपासना और तत्पश्चात् निराकार-चिन्तन होना चाहिए।[1] भक्त ईश्वर की कृपा के बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर की कृपा तो उस प्रकाशमय सूर्य के समान है जो वर्षों अन्धकार में पड़े जीवन को भी ज्योतिर्मय कर सकती है।[2]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि आत्मा का अन्तिम उद्देश्य अमरत्व की अनुभूति या मोक्ष की प्राप्ति है। वस्तुत: यह अनुभूति किसी वस्तु या विषय का अनुभव नहीं, किसी वस्तु को प्राप्त करने का सुख नहीं है। यह तो अपने स्वरूप ज्ञान का सच्चा आनन्द है। जब व्यक्ति अपने यथार्थ शाश्वत रूप को जान लेता है तो उसे अमृत्व या अमरत्व की अनुभूति का आनन्द होता है। इसमें न तो कुछ पाना है और न खोना है। यह तो केवल अपने आप को जानना है। अत: अमरत्व की अनुभूति तो आत्मोपलब्धि है, आत्मा के अमृत स्वरूप का ज्ञान है। इसे स्वामी विवेकानन्द एक उपमा से स्पष्ट करते हैं। कोई व्यक्ति अपने गले में पड़े हुए स्वर्ण-हार को ईधर-उधर खोजता है। विचार करने पर पता चलता है कि उसके प्राप्त करने के सभी प्रयास व्यर्थ है। स्वर्णहार तो उमके गले में ही लटक रहा है। इसे भूल जाने के कारण ही वह हैरान और परेशान है। इसी प्रकार जब हम आत्मा के नित्यानन्द, शाश्वत सुखरूप का अनुभव करने लगते हैं। यही आत्मोपलब्धि का आनन्द है, जिसे अमरत्व की अनुभूति कहते हैं। यदि विचार से देखा जाय तो मृत्यु से बढ़कर कोई दु:ख नहीं है। संसार में भूख, प्यास, अभाव आदि से जन्य जितने दु:ख हैं, सभी दु:ख अन्तिम दु:ख अर्थात् मरण-दु:ख से कम ही है। मृत्यु तो जीवन का अन्त है। अत: मरण का दु:ख तो अन्तिम दु:-ख है जो सबसे बढ़-चढ़कर है। मनुष्य को अपने कर्म के कारण भविष्य का शरीर या भविष्य जीवन (कर्म) प्राप्त होगा। भूत, वर्तमान और भविष्य का नियामक कर्म सिद्धांत ही है।

आत्मा सुखरूप तथा पूर्णत: स्वतन्त्र है। जन्म और पुनर्जन्म से कारण बारम्बार आत्मा को शरीर के साथ संयोग और वियोग का दु:ख सहना पड़ता है। परन्तु संयोग-वियोग जन्य आत्मा का

1. रामकृष्णवचनामृत (द्वितीय भाग), पृ० 210।
2. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 158, 188।

यह अनवरत दु:ख केवल प्रतीति है, परमार्थ नहीं, भ्रान्ति है सत्य नहीं। तत्वत: आत्मा अपरिणामी और नित्य है। जन्म और मरण तो शरीर के परिणाम हैं, अपरिणामी आत्मा के धर्म नहीं। अपरिणामी की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। यह अनुत्पाद्य और अविनाशी ही नित्य तत्त्व आत्मा है। नित्य तत्त्व में किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता। दु:खादि की अनुभूति तो शरीर के विकार हैं, अविकारी आत्मा के ये धर्म नहीं हो सकते। हमें दु:ख की अनुभूति होती है, क्योंकि हम अपने को शरीर और इन्द्रियों तक सीमित मानते हैं। असीम आत्मा तो अशरीरी तथा अतीन्द्रिय है। अत: यह दु:ख के अनुभव से नितान्त असम्बद्ध है। तत्वत: यह शाश्वत तत्त्व सुखरूप है। यह सुख किसी को प्राप्त करने का सुख नहीं है। निष्काम आत्मा तो नित्यतृप्त है। यह सुख, शांति का लाभ है। इसे परम शान्ति या परमानन्द की अवस्था कहते हैं। यदि सच्चे स्वरूप का पता लग जाय कि वह कभी मरता ही नहीं तो वह किसी प्रकार के दु:ख से भयभीत नहीं होगा। मनुष्य का पूर्णत: अभय होना ही अमरत्व की अनुभूति है जिसे मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं। इसे दूसरे प्रकार से भी समझ सकते हैं। साधारणत: हम विनाश के भय से भयभीत रहते हैं। जब हम समझ जाते हैं कि हम अविनाशी हैं, अर्थात् हमारा विनाश कदापि और कथमपि नहीं हो सकता तो हमें अभय होने का आनन्द प्राप्त होता है। यही आत्मा की शाश्वत सुखरूपता है, जिसे अमरत्व की अनुभूति कहते हैं। इस शाश्वत सुखरूपता के साथ ही हमें स्वतन्त्रता का भी सुख होता है। हमारी परतन्त्रता या पराधीनता तो शरीर और इन्द्रियों के कारण है। जब हम इस भ्रान्ति से ऊपर उठ जाते हैं तो अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की भी अनुभूति होती है। अत: अमरत्व की अनुभूति पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति है।

हमें अद्वैत वेदान्तियों की, साधक को दिए गए उनके इस साहसपूर्ण वचन के लिए सराहना करनी चाहिए कि मोक्ष इसी जीवन में, इसी शरीर के रहते सम्भव है, और उसकी प्राप्ति के लिए हमें शरीर के पतन होने तक रुके रहने की आवश्यकता नहीं है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए हमें केवल अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। हमें सर्वत्र ब्रह्म को ही देखना है। ऐसा कर पाना इस शरीर के रहते भी सम्भव है।

अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि मोक्ष इस जीवन में भी मिल सकता है और इस जीवन

के बाद भी अर्थात् वे जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को मानते हैं। मुक्ति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त में एक प्रमुख विवाद यह है कि मुक्ति तात्कालिक होती है या क्रमिक।सद्योमुक्ति वह है जो ज्ञान के साथ ही प्राप्त हो जाती है इसे ही अद्वैत वेदान्ती वास्तविक मुक्ति कहते हैं। उनके अनुसार जिस क्षण ज्ञान मिलता है उसी क्षण जीव मुक्ति पा जाता है। 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' क्रमिक मुक्ति देवयान मार्ग पर चलने वाले मनुष्य जिस ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, उसे कहते हैं।

जीवन्मुक्ति या सदेह मुक्ति के सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई गई है कि जब मोक्ष अविद्या निवृत्ति है और शरीर अविद्या जनित है तो फिर जीवन्मुक्ति कैसे संभव है? इस समस्या का समाधान अद्वैत वेदान्ती 'अविद्यालेश सिद्धान्त' से करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार तत्त्वज्ञान से संचीयमान कर्म का निवारण हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों का कुछ अंश उसी प्रकार बचा रहता है जिस प्रकार हींग के डिब्बे में धोने के बाद भी महक रहती है प्रारब्ध कर्मों का उपभोग करने के बाद मुक्त जीव शरीर का परित्याग उसी प्रकार अनुराग रहित होकर कर देता है जिस प्रकार साँप केंचुल का। तत्त्वज्ञान के पश्चात् मुक्त जीव को उसका शरीर उसी प्रकार प्रभावित नहीं करता, जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान हो जाने पर रज्जु सर्प जानने वाले को भयभीत नहीं करता।

उपनिषदों में ऐसे अनेक वचन उपलब्ध है जो यह स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि मोक्ष यहाँ और इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है और शरीर की उपस्थिति के साथ उसकी कोई असंगति नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान यहीं सम्भव है। "हम इस शरीर में रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गए और यदि उसे यहाँ नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं; किन्तु दूसरे लोग तो दुःख को ही प्राप्त होते हैं।[1]

जीवन्मुक्त को अपने शरीर के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। वह नीर में नीरज के समान संसार में अलिप्त भाव से लोक-कल्याण के कार्य करता है। सर्प के लिए जिस प्रकार पुरानी

---

1. बृ० उ०, 4.14.14।

केंचुली का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, उसी प्रकार मुक्त पुरुष शरीर को अनासक्त भाव से धारण किए रहता है।

शंकराचार्य जीवन्मुक्ति के, अर्थात् इस सिद्धान्त के कि मोक्ष शरीर रहते भी प्राप्त हो सकता है और उसका शरीर की उपस्थिति के साथ कोई विरोध नहीं है, समर्थक हैं। यहाँ मोक्षप्राप्ति के बाद तुरन्त शरीर नष्ट नहीं होता। शरीर का निर्माण प्रारब्ध कर्मों के फल से होता है। जब तक इन कर्मों का फल भोग नहीं लिया जाता, तब तक शरीर विद्यमान रहता है। इस कथन को एक उपमा द्वारा समझा जा सकता है। दण्ड के द्वारा चाक में शक्ति भर दी जाती है और इसी के फलस्वरूप चाक चलता रहता है। दण्ड के हटा देने पर भी चाक तब तक चलता रहता है, जब तक दण्ड द्वारा दी गई शक्ति उससे पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाती। इसी प्रकार मृत्यु के बाद भी शरीर तब तक विद्यमान रहता है, जब तक प्रारब्ध कर्मों का फल पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता। यही जीवन्मुक्ति है।

जीवन्मुक्त कर्मों से सन्यास नहीं लेता। वह निष्क्रिय जीवन नहीं व्यतीत करता। सदेह मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी वह एक पल के लिए भी कर्महीन नहीं रहता। उसके सभी कार्य लोकहित की भावना से प्रेरित होते हैं। इन कार्यों के मूल में उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं रहता। स्वयं रामकृष्ण-विवेकानन्द का जीवन सामाजिक हित एवं लोककल्याण की भावना से प्रेरित कर्मों से ओत-प्रोत रहा। निष्काम कर्मों में स्वार्थपरता का लेश नहीं रहता। ये कर्म व्यक्ति को बन्धन में नहीं डालते। इस प्रकार जीवन्मुक्त का जीवन सक्रिय रहता है।

अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष स्वयं का ब्रह्म से अभेद ज्ञान है। आवश्यक नहीं कि ऐसा ज्ञान शरीर-त्याग करने के पश्चात् ही प्राप्त हो। आत्मज्ञान के स्वरूप में ऐसी कोई बात नहीं है कि उसका शरीर की उपस्थिति के साथ किसी प्रकार का विरोध हो। अद्वैत वेदान्तियों का तर्क यह है कि यदि जीवन्मुक्त न होते, अर्थात् संसार में पूर्ण ज्ञानी लोग न होते तो संसार का पथ-प्रदर्शन कौन करता? दूसरे, कोई अन्य व्यक्ति जीवन्मुक्ति के सम्प्रत्ययन का खण्डन कर भी कैसे सकता है?

श्रीरामकृष्ण देव जीवन्मुक्ति में विश्वास करते थे। वे कहते हैं कि संसार में रहते हुए भी यदि कोई मनुष्य चाहे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। लोहे की तलवार को पारस से स्पर्श कराने से वह सोने की हो जाती है। उसकी आकृति तो वैसी ही रहती है, किन्तु उससे हिंसा का कार्य नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार भगवान् के पादपद्म स्पर्श करने पर मनुष्य से फिर कोई अन्याय नहीं हो सकता।[1] पुनः लोहा यदि एक बार पारस को छूकर सोना हो जाय तो उसे चाहे मिट्टी के भीतर दबाए रखिए, चाहे कूड़े में फेंक दीजिए, रहेगा वह सोना ही। जिन्होंने अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनकी भी ऐसी ही अवस्था है। वे संसार में रहें या बन में रहें, उन्हें दोष स्पर्श नहीं कर सकता।[2]

परमहंस देव कहते हैं कि संसार में पाँच प्रकार के सिद्ध पुरुष पाये जाते हैं: स्वप्न-सिद्ध, मन्त्र-सिद्ध, हठात्-सिद्ध, कृपा-सिद्ध और नित्य-सिद्ध।

(1) स्वप्न-सिद्ध—

स्वप्न में कोई व्यक्ति इष्ट मन्त्र पाकर उसी को जपकर सिद्ध हो जाते हैं।

(2) मन्त्र-सिद्ध—

कुछ व्यक्ति किसी सद्गुरु से मन्त्र ग्रहण कर अपनी साधना द्वारा सिद्ध हो जाते हैं।

(3) हठात्-सिद्ध—

दैवयोग से किसी महापुरुष की कृपा लाभ कर जो सिद्ध होता है, उसे हठात् सिद्ध या दैव सिद्ध कहते हैं।

(4) कृपा-सिद्ध—

कृपा सिद्ध पुरुष वे हैं जो ईश्वरीय कृपा द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं।

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हिन्दी अनु०, पृ० 97।
2. वही, पृ० 97।

(5) नित्य-सिद्ध—

वे पुरुष हैं जिनकी बचपन से ही धर्म में गति होती है।

जिसकी जैसी भावना होती है, उसे सिद्धि भी वैसी ही मिलती है। ऐसा कहा जाता है कि चपड़ा नील भ्रमर का चिन्तन करते-करते स्वयं भी नील भ्रमर बन जाता है। इसी प्रकार जो सच्चिदानन्द का चिन्तन करता है, वह स्वयं आनन्दमय हो जाता है।

स्वामी विवेकानन्द भी जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं।[1] वे कहते है कि यदि जीव अपने को मुक्त समझ सके तो वह इसी क्षण मुक्त हो जाएगा। जीवन्मुक्ति की अवस्था को उन्हीं आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया जिन्होंने मुक्ति को सालोक्य, सारूप आदि रूपों से युक्त माना। परन्तु अद्वैत वेदान्त इस प्रकार की किसी भी मुक्ति के स्वरूप को स्वीकार नहीं करता। स्वामी जी सरल शैली में मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि शुभ या अशुभ कर्मों के बन्धन से रहित हो जाना ही मुक्ति है।[2] जीवन्मुक्ति विषयक शंका का समाधान करते हुए उन्होंने कहा है—सत्य की उपलब्धि हो जाने पर तुरन्त मृत्यु नहीं हो जाती है। जब आत्मा रूपी पहिया रुक जाता है तब आत्मा यह सोचना छोड़ देती है कि उसका आवागमन, जन्म-मृत्यु आदि सत्य है। परन्तु फिर भी शरीर और मन रूपी पहियों में पूर्व कर्मों का वेग बचा रहता है और जब तक वे नष्ट नहीं हो जाते तब तक शरीर और मन भी बने रहते हैं।[3]

जिसने आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान, या मोक्ष प्राप्त कर लिया है उसका फिर जन्म नहीं होता। जन्म ग्रहण करने का मूल कारण भव-तृष्णा या सांसारिक भोगों को भोगने की अतृप्त इच्छा है। जिस प्रकार सागर से मिलने पर विभिन्न नदियाँ अपना नाम और रूप खो देती हैं और सागर के साथ एक होकर स्वयं सागर बन जाती है, उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्म में अपने नाम और रूप खो देता है और ब्रह्म के साथ एक होकर स्वयं ब्रह्म बन जाता है। मोक्ष में व्यावहारिक जीवन के सभी

---

1. Complete works of Swami Vivekananda, Vol. III, P. 11.
2. Ibid, Vol. V, P. 317.
3. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-2, पृ० 280-1।

भेद समाप्त हो जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मुक्त पुरुष सभी प्रकार के भयों से मुक्त होकर अभय हो जाता है। मुक्त पुरुष 'है' और 'चाहिए' के द्वैत से ऊपर उठ जाता है। 'है' और 'चाहिए' का द्वैत, जो कि नैतिक जीवन के मूल में है, मनुष्य को केवल तभी तक चिन्तित करता है—जब तक कि ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता।

शंकराचार्य के अनुसार विदेह मुक्ति उसे कहते हैं जब व्यक्ति दोनों प्रकार के शरीरों स्थूल एवं सूक्ष्म से मुक्ति पा लेता है। ज्ञान से जीवात्मा की सारी वासनाएँ नष्ट हो जाती है, संचित और क्रियमाण कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्मो का भोग करना ही अवशिष्ट रह जाता है। ज्ञानी की वर्तमान देह भी प्रारब्ध जन्य होती है, यह देह बचे हुए प्रारब्ध कर्मो के भोग के लिए आवश्यक होती है, अतः जब तक भोग समाप्त नही होता ज्ञानी को भी देह धारण करनी पड़ती है। एक बार भोग समाप्त हो जाने पर उसे पुनः शरीर धारण करने और जन्म-मरण के चक्र में पड़ने की बाध्यता नहीं रहती। आत्मा का जीव भाव नष्ट हो जाता है तथा वह स्थूल सूक्ष्म और अज्ञानरूप कारण शरीर से भी मुक्त हो जाता है। यही विदेह मुक्ति है। इस अवस्था में व्यक्ति असीम आनन्द का अनुभव करता है और अपने ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

श्री रामकृष्ण देव भी विदेह मुक्ति को स्वीकार करते हैं। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि मुक्त पुरुष संसार में रहते कैसे हैं? उत्तर में परमहंस देव जी कहते हैं कि पनडुब्बी चिड़िया के समान जो पानी में रहती तो है परन्तु उसके बदन पर पानी नहीं लगता। यदि कभी थोड़ा लगता भी है तो एक बार बदन झाड़ देने से तत्काल सारा पानी गिर पड़ता है।[1] इसी प्रकार मुक्त पुरुष की उपमा आँधी से उड़ी पत्तल से दी गई है। उसकी अपनी कोई इच्छा या अभिमान नहीं होता। हवा उसको उड़ाकर जिस ओर ले जाती है वह उसी ओर चली जाती है।[2] सिद्ध पुरुष संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं। धान बोने से अंकुर पैदा होता है, परन्तु उसी धान को सिद्ध करके (उबालकर) बोने से उससे अंकुर नहीं उगता। इसी प्रकार जो लोग सिद्ध हो गए हैं, उन्हें इस संसार

---

1. श्री रामकृष्ण उपदेश : हि० अनुवाद, पृ० 99।
2. वही, पृ० 103।

में जन्म नहीं लेना पड़ता।[1] हंस को दूध और पानी मिलाकर देने से जिस प्रकार वह दूध पीकर जल छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष संसार में सार वस्तु सच्चिदानन्द को ग्रहण कर असार वस्तु संसार को त्याग देते हैं।[2]

पहले अज्ञान रहता है, उसके बाद ज्ञान होता है। अन्त में जब सच्चिदानन्द का लाभ होता है, तब साधक ज्ञान और अज्ञान दोनों के पार चला जाता है। कैसे? जैसे शरीर में काँटा चुभने पर कहीं से यत्नपूर्वक एक काँटा लाकर उस काँटे को निकालते हैं फिर दोनों काँटों को फेंक देते हैं। सिद्ध अवस्था द्वन्द्वातीत अवस्था है।[3] यह अद्वैत अवस्था है जो परमानन्द की स्थिति है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि देह धारण की प्रक्रिया का सर्वदा तथा सर्वथा समाप्त हो जाना ही विदेह मुक्ति है। यह शरीर का अन्तिम मरण है। पुनः शरीर धारण नहीं होता, क्योंकि सभी कर्म और संस्कार सबीज नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था वर्तमान शरीर के समाप्त होने पर ही सम्भव है। यहां यह ज्ञातव्य है कि जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दो प्रकार की मुक्तियाँ नहीं है। मोक्ष में प्रकार भेद नहीं होता। शरीर के होने और न होने के आधार पर ही इन दो भेदों का कथन किया गया है। जिस मुक्त पुरुष का प्रारब्धभोग शेष नहीं हुआ है और तदर्थ वह शरीर धारण किये हुए है वह जीवन्मुक्त है। जब यह भोग समाप्त हो जाता है और शरीरपात हो जाता है तो वही विदेहमुक्त कहलाने लगता है।

सारांशतः श्री रामकृष्ण देव के अनुसार बन्धन और मुक्ति, दोनों के कर्त्ता ईश्वर ही है। किन्तु तब, प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने बन्धन की सृष्टि ही क्यों की? रामकृष्ण देव के अनुसार ऐसा न होने पर ईश्वर की क्रीड़ा नहीं हो पाती। उसकी क्रीड़ा के सुचारू रूप से चलने के लिए अच्छे के साथ बुरे, और मुक्ति के साथ बंधन का रहना आवश्यक है। पुनः उनका कहना है कि इस 'क्यों' का वास्तविक अर्थों में कोई उत्तर नहीं है क्योंकि यह प्रश्न ही असंगत है। हम तो इतना ही सोच

---

1. श्री रामकृष्ण उपदेश : हि० अनुवाद, पृ० 103।
2. वही, पृ० 104।
3. वही, पृ० 104।

सकते हैं कि इस सृष्टि में उनका खेल जैसा भी हो, वे हमें रिहाई दें। इस रिहाई के लिए आवश्यक है कि वह खेल और उस खेल के खिलौने हमारे लिए असह्य हो जाय। ईश्वर ने एक ओर जैसे मन से कह दिया है कि 'जा, तू विषयों का भोग कर' वैसे ही दूसरी ओर वे उनके लिए भी हाथ बढ़ा देते हैं जो स्वयं उन्हीं के लिए व्याकुल हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म, वे ही कराते हैं, तो उसमें हमारा क्या दोष? दोष तो कोई नहीं है, किन्तु तब जब हम यह न सोंचे कि कर्ता मैं स्वयं हूँ, अर्थात् कर्त्ता और भोक्ताभाव की समाप्ति पर ही यह स्थिति हो सकती है। कर्त्ता और भोक्ता भाव की समाप्ति हेतु व्याकुल होकर प्रार्थना करनी होगी, और प्रार्थना में व्याकुलता हेतु हृदय, मस्तिष्क और हाथों को क्रमशः उनके लिए ही भावना, चिंतना और कर्म करना होगा, तभी मन और मुख एक होगा जो मुक्ति का द्वार है। मुक्तावस्था में रामकृष्ण ब्रह्म तादात्म्य की अपेक्षा ब्रह्मानन्द रसास्वादन को अधिक महत्व देते हैं। वह जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति, दोनों को स्वीकार करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द की मोक्ष-सम्बन्धी धारणा अद्वैत वेदांत के ही अनुकूल है। अतः शंकर के समान वे भी मोक्ष को न तो संस्कार्य मानते हैं और न ही प्राप्य। यह जो बद्धावस्था प्रतीत हो रही है, वह भ्रान्ति है, सत्य नहीं। परमार्थतः आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। शरीर, इंद्रिय, मन आदि के द्वारा यह ससीम और सान्त दृष्टिगोचर होता है। परन्तु तत्त्वतः यह असीम और अनन्त है। बन्धन कर्मजन्य है। भूत में कर्म के कारण हमें वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है, और वर्तमान में कर्म के कारण पुनर्जन्म होगा। इस कर्म-पुनर्जन्म का विनाश ही अमरत्व की अनुभूति है। स्वामी जी के अनुसार अमरत्व के दो अर्थ हैं—अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक अर्थ में अमरत्व मृत्यु का अभाव है, और भावात्मक अर्थ में यह स्वतंत्रता की प्राप्ति है। स्वतंत्रता का अर्थ है बंधन से मुक्ति। मोक्ष का तात्पर्य इस अज्ञान को दूर करना और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। चूंकि बन्धन का कारण हमारा अज्ञान है और अज्ञान का निवास हमारे मन में है, कहीं वाह्य जगत में नहीं है, अतः बन्धन की सत्ता भी केवल हमारे मन में ही है, वाह्य जगत में नहीं। अतः बन्धन को दूर करने और मोक्ष को प्राप्त करने में होने वाला परिवर्तन केवल ज्ञानगत है।

अत: बन्धन का दूर होना और मोक्ष की प्राप्ति व्यवहारिक दृष्टि से ही सत्य है, पारमार्थिक दृष्टि से तो जीव और पुरुष नित्य मुक्त ही हैं, अत: उनके बन्धन और पुन: मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। स्वामी विवेकानन्द भी जीवन्-मुक्ति और विदेह-मुक्ति, दोनों को ही स्वीकार करते हैं।

रामकृष्ण के बन्धन-मोक्ष की अवधारणा में ईश्वर-भाव की प्रधानता है, क्योंकि, इन दोनों को ईश्वर की ही लीला उन्होंने कहा है। मुक्ति का तात्पर्य अपने अहम् को त्याग कर, कर्त्ता और भोक्ता भाव से शून्य हो कर, उस क्रीड़ा में सहभागी होना है। यही कारण है कि वह मुक्ति के संदर्भ में कहते हैं कि वे चीनी खाना चाहते हैं, स्वयं चीनी हो जाना नहीं चाहते। विवेकानन्द के बन्ध-मोक्ष विचार की विशिष्टता व्यक्तिगत मुक्ति के साथ जगत्-हित है। यही कारण है कि उन्होंने सर्वत्यागी सन्यासियों के संघ की स्थापना की और उसका ध्येय-वाक्य रखा, "आत्मनो मोक्षार्थम् जगद्धिताय च" तथा कर्म में त्याग पर बल दिया, कर्मत्याग पर नहीं। यद्यपि रामकृष्ण व विवेकानन्द, दोनों ही जीवन्-मुक्ति और विदेह-मुक्ति दोनों को स्वीकार करते हैं, तथापि जीवन्-मुक्ति और विदेह-मुक्ति में मौलिकता का भेद करना निरर्थक है,क्योंकि यदि मुक्ति में भी वास्तव में कोई भेद होता तो वह बन्धन ही कहा जाएगा, मुक्ति नहीं। मुक्ति तो भेदों से मुक्त होकर स्वयं में लौट आना है, यही मानव जीवन का उच्चतम आदर्श व उच्चतम लक्ष्य है, जिसका तार्किक एवं सन्तोषप्रद विवेचन अद्वैत वेदान्त करता है।

सप्तम परिच्छेद

का

अद्वैत वेदान्ती मोक्ष को ज्ञान साध्य मानते हैं। उनके अनुसार अविद्या रूपी अन्धकार को दूर करने का उपाय ज्ञान रूपी प्रकाश है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। परमतत्त्व का साक्षात्कार तर्क और बुद्धि से नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष का अभिप्राय जीव द्वारा स्वयं को समझ लेना है जो कि सदैव उसका सहज स्वाभाविक रूप रहा है और जिसे वह अविद्या की उपाधिवश कुछ समय के लिए भूल गया है। ठीक उसी प्रकार जैसे कोई स्त्री अपने गले में पड़े हुए हार को भूलकर इधर-उधर ढूँढ़ती रहती है। मोक्ष के लिए व्यक्ति को 'सो अहम् ब्रह्मः', 'अहम् ब्रह्मास्मिः', 'एको अयम् आत्मा' आदि औपनिषदिक महावाक्यों को समझने की आवश्यकता है।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि 'जीव' और 'ब्रह्म' के ऐक्य के ज्ञान से ही मोक्ष होता है तब इस अभेद-ज्ञान के साक्षात्कार का क्या साधन है? उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन ये तीन मार्ग बतलाए गए हैं। ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यों निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्।''[1] सर्व प्रथम जीव को गुरुमुख से ब्रह्म और आत्मा के अभेद-ज्ञान का श्रवण करना चाहिए। तदुपरान्त इस अभेद-ज्ञान के ऊपर तर्कपूर्वक मनन करना चाहिए। लेकिन 'श्रवण' एवं 'मनन' होने पर भी जीव में पूर्णज्ञान का अभाव हो सकता है क्योंकि केवल श्रवण और तर्क से ही उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होना दुष्कर है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मानुभूति की सम्प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव 'श्रवण' एवं 'मनन' के विषयभूत आत्मा भेद-ज्ञान का बारम्बार चिन्तन अथवा ध्यान करे—इस ध्यान को उपनिषदों में 'निदिध्यासन' कहा गया है।

शंकर ने मात्र एक ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है। ज्ञान की प्राप्ति वेदान्त दर्शन के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु वेदान्त दर्शन का अध्ययन करने के लिए साधक को साधना की आवश्यकता होती है उसे भिन्न-भिन्न शर्तों का पालन करना पड़ता है, तभी वह वेदान्त

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4/5।

का सच्चा अधिकारी बनता है। ये 'साधन-चतुष्टय' इस प्रकार हैं—

(1) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक:—

साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिए।

(2) इहामुत्रार्थ-भोग विराग—

साधक को लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए।

(3) शमदमादि-साधन-सम्पत्—

साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छ: साधनों को अपनाना चाहिए। 'शम' का मतलब है 'मन का संयम'। दम का तात्पर्य है 'इन्द्रियों का नियन्त्रण'। शास्त्र के प्रति निष्ठा का होना श्रद्धा कहा जाता है। समाधान, चित्त को ज्ञान के साधन में लगाने को कहा जाता है। उपरति विक्षेपकारी कार्यों से विरत होने को कहा जाता है। सर्दी, गर्मी सहन करने के अभ्यास को तितिक्षा कहा जाता है।

(4) मुमुक्षुत्वं—

साधन को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए।

जो साधक इन चार साधनों से युक्त होता है उसे वेदान्त की शिक्षा लेने के लिए एक ऐसे गुरु के चरणों में उपस्थित होना चाहिए जिन्हें ब्रह्म-ज्ञान की अनुभूति प्राप्त हो गई हो। गुरु के साथ साधक को श्रवण-मनन और निदिध्यासन की प्रणाली का सहारा लेना पड़ता है। गुरु के उपदेशों को सुनने को श्रवण कहा जाता है। उपदेशों पर तार्किक दृष्टि से विचार करने को मनन कहा जाता है। सत्य पर निरन्तर ध्यान रखना निदिध्यासन कहलाता है।

इन प्रणालियों से गुजरने के बाद पूर्वसंचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं। जिसके फलस्वरूप

ब्रह्म की सत्यता में उसे अटल विश्वास हो जाता है। तब साधक का गुरु 'तत्त्वमसि' (तू ही ब्रह्म है) की दीक्षा देते हैं। जब साधक इस तथ्य की अनुभूति करने लगता है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है जिसके फलस्वरूप वह कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि'। जीव और ब्रह्म का भेद हट जाता है, बन्धन का अन्त हो जाता है तथा मोक्ष की अनुभूति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जिस प्रकार वर्षा की बूँद समुद्र में मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

साधनों के क्रम में यद्यपि श्री रामकृष्ण देव ने किसी नवीन मार्ग का उपदेश नहीं किया परन्तु जैसे किसी भी एक कार्य के लिए परिस्थिति एवं समयानुसार विशिष्ट निर्देशन और निषेध हो सकते हैं, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण ने भी पूर्वप्रतिपादित साधन-क्रम में ही समन्वय कर, साधन विशेष पर न्यूनाधिक बल देते हुए साधक को ईश्वर के प्रति उत्प्रेरित किया है। यदि कोई कठोर पिता दिल्ली से कलकत्ता जाने वाले पुत्र के मार्ग को नियंत्रक आदेशों में (जैसे मार्ग में इधर-उधर न देखना, रास्ते में कहीं न उतरना आदि) बाँध दे तो पुत्र को गन्तव्य मार्ग सामान्य की अपेक्षा अधिक दुर्गम एवं अरुचिकर जान पड़ेगा। प्राचीन वेदान्ती आचार्यों का साधन-विधान इसी प्रकार का है। आधुनिक विचारकों ने तार्किक और सैद्धांन्तिक संगति की अपेक्षा तथ्यगत संगति पर ही अधिक जोर दिया है। मार्ग को सर्वग्राही बनाने के लिए ऐसा उचित भी है। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने, जो मार्ग को सर्वसुलभ बनाने वालों में सर्वप्रथम थे,वाह्य नियमों की कठोरता का परित्याग कर 'कलकत्ते' का ही ध्यान रखा है। "मनुष्य सन्यासी है या गृहस्थ ईश्वर प्राप्ति में इसका कोई महत्त्व नहीं है।"[1] ईश्वर तो सदैव मानसिक व्याकुलता और आकर्षण को देखते हैं।[2] अपने मन को सदैव उस कछुए की भाँति ईश्वर पर ही केन्द्रित किए रहना चाहिए जो कि रहता तो जल में है परन्तु जिसका ध्यान सदा अपने अण्डों की ओर रहता है।[3] इन शब्दों के साथ श्रीरामकृष्ण परमहंस ने जनमानस में परम्परा से चली आ रही ईश्वर-दर्शन की आशक्तता का भाव दूर कर दिया। उन्होंने

---

1. Teachings of Ramkrishna, P. 98.
2. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 3291।
3. वही, पृ० 19।

सर्वसन्यास द्वारा ही ईश्वर-दर्शन संभव है, इस धारणा का मूलोच्छेद किया और प्रवृत्तिवाद की स्थापना की।

प्रवृत्तिवादी होते हुए भी श्रीरामकृष्ण ने मन की वासना के क्षय के लिए एकान्त-सेवन निवृत्तिवाद के महत्त्व को भी स्वीकार किया। "मानव मन उस दुग्ध के समान है जो संसार रूप जल में रहेगा तो अशुद्ध हो जाएगा। अतः एकान्त में उसका दधि बनाकर नवनीत को प्राप्त कर लेना चाहिए, तभी भय-मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।"[1] "निर्जन अवस्था में मन को एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए।" पौधे को यदि चारो तरफ से सुरक्षित नहीं किया जाएगा तो भेड़, बकरी आदि पशुओं से उनकी सुरक्षा कैसे हो सकेगी?[2] सन्निपात-ज्वर-युक्त व्यक्ति के आवास स्थल में जैसे जलादि शीत पदार्थ नहीं रखे जाते उसी प्रकार ईश्वर भक्ति में निमग्न व्यक्ति को विषय-वासना से बचकर एकान्त सेवन करना चाहिए।[3] विषय-वासना से युक्त मन ईश्वर-भजन के लिए उसी प्रकार अनुपयुक्त हैं जैसे तैलयुक्त कागज लिखने के अयोग्य होता है।[4]

श्री श्रीरामकृष्णदेव बड़े ही सरल शब्दों में कहते हैं कि सभी लोग साधना के अधिकारी नहीं हो सकते। जिन लोगों का हृदय सांसारिक विषय-वासनाओं में रमा हुआ है, उन्हें ईश्वर व धर्म की भावनाएँ ग्राह्य नहीं हो सकती। आम, अमरूद इत्यादि केवल साबूत फल ही भगवान् के भोग में लग सकते हैं, कौए आदि के द्वारा काटा हुआ दागी फल न तो देव-पूजा के काम आ सकता है और न ब्राह्मण ही अपने काम ला सकता है। इसी प्रकार पवित्र हृदय वाले बालकों या युवा पुरुषों, जिनका हृदय सांसारिकता से दूषित नहीं हुआ है, को ही साधना-पथ का अधिकारी माना जा सकता है।[5]

तोते के गले में कंठी निकल जाने पर उसे फिर और नहीं पढ़ाया जा सकता, केवल बच्चा

---

1. रामकृष्णवपचनामृत (तृतीय भाग), पृ० 370।
2. वही (प्रथम भाग), पृ० 8।
3. टीचिंग्स आफ रामकृष्ण, पृ० 104।
4 वही, पृ० 127।
5. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 44।

रहने तक ही उसे सिखाया-पढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार बूढ़े का मन सहज ही ईश्वर की ओर नहीं जाता, पर बाल्यावस्था में थोड़ी-सी चेष्टा से ही मन ईश्वर में स्थिर किया जा सकता है।[1] श्रीरामकृष्ण ने मन व हृदय की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। इस प्रश्न के उत्तर मे कि पवित्र या वासनाशून्य हृदय कैसा होता है, उन्होंने कहा कि वासनाशून्य हृदय दियासलाई के समान होता है। सूखी दियासलाई एक बार घिसने से ही तुरन्त जल जाती है, पर यदि वह गीली हो तो वह घिसते-घिसते टूट जाती है, किन्तु जलती नहीं। इसी प्रकार सरल, सत्यनिष्ठ और निर्मल स्वभाव वालों को एक बार उपदेश देने से ही उनका मन ईश्वर के पादपद्मों में लीन हो जाता है। विषयासक्त लोगों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता।[2]

संसार में दो प्रकार के साधक दिखलाई देते हैं—एक बन्दर के बच्चे के समान (मर्कट न्याय) और दूसरे बिल्ली के बच्चे के समान (मार्जार न्याय)। बन्दर का बच्चा पहले अपनी माँ को पकड़ता है फिर माँ उसको अपने साथ लेकर यत्र-तत्र घूमती है। बिल्ली का बच्चा केवल एक स्थान पर रहकर म्याऊँ-म्याऊँ करता रहता है। उसकी माँ उसकी गर्दन पकड़कर इधर-उधर जहाँ चाहती है उसे ले जाती है। इसी प्रकार ज्ञानमार्गी और कर्ममार्गी साधक अपनी चेष्टा द्वारा ईश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। पर भक्तिमार्गी ईश्वर को ही अपना कर्त्ता धर्त्ता समझकर, उन्हीं के चरणों में भरोसा किए हुए बिल्ली के बच्चे की भाँति निश्चिंत होकर उनका नाम जपा करते हैं।[3]

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति का पिता, किसी का ताऊ, किसी का चाचा, किसी का मौसा, किसी का लड़का, किसा का दामाद और किसी का श्वसुर होता है; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न साधक एक ही सच्चिदानन्द की शांत, दास्य, वात्सल्य, मधुर इत्यादि नाना भावों द्वारा उपासना करते रहते हैं।[4]

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 45।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश पृ०, 47।
3. वही, पृ० 50।
4. वही, पृ० 51।

योगी दो प्रकार के होते हैं: गुप्त योगी और व्यक्त होगी। जो गुप्त योगी हैं, वे गुप्त रूप से ईश्वर-भजन में संलग्न रहते हैं। बाहरी लोगों को तनिक भी पता नहीं लगने पाता। पर जो व्यक्त योगी हैं, वे योग, दण्डादि वाह्य चिह्न धारण करके लोगों के साथ योग की ही बातचीत किया करते हैं।

पुन: सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक तीन प्रकार के आराधक होते हैं। सात्विक आराधक वे हैं, जो विशुद्ध हृदय से निरहंकार होकर ईश्वर की आराधना करते हैं। राजसिक आराधक वे हैं जो नृत्य, गान एवं वाह्याडम्बर द्वारा ईश्वर की आराधना करने में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत तामसिक आराधक वे हैं जो सैकड़ो निरपराध बकरे-बकरियों की बलि देकर देवी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। सात्त्विक साधक सर्वोत्तम प्रकार के साधक हैं।[1]

श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार संसार मे रहकर भी ईश्वर-साधना की जा सकती है। मनुष्य संसार में रह सकता है, पर संसार को मनुष्य के भीतर नहीं रहना चाहिए। पानी में नाव रही तो कोई हाँनि नहीं है पर यदि पानी नाव के भीतर पहुँचा तो नाव डूब जाती है। इसी प्रकार साधक को संसार में रहने से कोई हांनि नहीं पर साधक के मन में संसार-भाव घुसने का फल बुरा होता है।[2] संसार में रहकर जो साधना कर सकते हैं वे वास्तव में वीर साधक हैं, कुलटा स्त्री अपने कुटुम्ब में रहते हुए गृहस्थी के सभी काम करती रहती हैं पर उसका मन सदा उपपति की ओर ही लगा रहता है। इसी प्रकार साधक भी संसार के सभी काम-काजों को करते हुए भी मन को प्रतिक्षण भगवान की ओर लगाए रह सकता है।

अब प्रश्न है कि ज्ञान-लाभ होने पर मनुष्य संसार में किस प्रकार रहता है? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार शीशे के घर में बैठने से मनुष्य को भीतर और बाहर दोनों ओर दिखाई देता है, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य को अन्दर और बाहर सर्वत्र सर्वव्यापी चैतन्य का ही बोध होता है,

---

1 श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनु०, पृ० 92।

2 वही, हि० अनु०, पृ० 41।

संसार का नहीं। ज्ञानी संसार में रहते हुए भी सर्वत्र भगवान् के ही दर्शन करता है।[1]

जिस प्रकार घड़े में एक भी छेद रहने से सारा पानी धीरे-धीरे बह जाता है, उसी प्रकार साधक के अन्दर यदि थोड़ी भी कमजोरी रह जाय तो सब साधना व्यर्थ हो जाती है। साधना के निम्न अवरोधक हैं—

(अ.) विषय-बुद्धि—

वासना साधना की सबसे बड़ी अवरोधक वस्तु है। गीली मिट्टी से कोई भी वस्तु बनाई जा सकती है, परन्तु पकी हुई मिट्टी किसी भी वस्तु के निर्माण में काम नहीं आ सकती। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का हृदय विषय की ज्वाला में पक गया है, उसमें पारमार्थिक भाव नहीं आ सकता।[2] कागज में यदि तेल लगा हो तो उस पर लिखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार जीव में जब कामिनी-कांचन रूपी तेल लग जाता है तो उसके द्वारा साधना नहीं हो सकती। उसी कागज को जब त्याग रूपी खड़िये से घिसकर शुद्ध कर दिया जाए तो साधना आसानी से की जा सकती है।[3] वासना का चिह्न मात्र भी रह जाने पर भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते। धागे में यदि जरा भी गाँठ बड़ी हो तो सूई के छेद में नहीं डाला जा सकता। मन जब वासना रहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है।[4] कामिनी के त्याग में विपरीत भावना का विशेष महत्त्व होता है। जैसे नितान्त एकान्त स्थान में युवती को देखकर जो पुरुष माता कहकर पुकारता है, उसी को ठीक त्यागी कहना चाहिए।

(ब.) ग्रन्थ—

ग्रन्थ, शास्त्र-विचार या व्यर्थ का तर्क-वितर्क ईश्वर साधना में बाधक होता है। ग्रन्थ तो

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, अं० अनु० पृ० 43।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 53।
3. वही, पृ० 54।
4. वही, पृ० 56।

ग्रन्थ का काम न करके ग्रन्थि का ही काम करते हैं। विवेक, वैराग्य युक्त अन्तःकरण से यदि ग्रन्थों का पाठ न किया जाए तो हृदय में अहंकार आदि की गाँठ ही पक्की होती है।[1] व्यर्थ में केवल शास्त्र विचार अथवा तर्क-वितर्क करने से यह छिछला मन मैला हो जाता है।[2]

(स.) अभिमान—

अभिमान ईश्वर तक पहुँचने में बाधा उत्पन्न करता है। जिस प्रकार दिन के घने बादल सूर्य के किरणों को पृथ्वी तक नहीं पहुँचने देते उसी प्रकार अहंकार और अभिमान मनुष्य के हृदय को ईश्वरीय कृपा और ऐश्वर्य से वंचित रखते हैं।[3] वर्षा का जल ऊँचाई पर कभी भी नहीं टिकता, पर सदा किसी नीचे स्थान को ही ढूँढ़ता है, इसी प्रकार ईश्वरीय अनुकम्पा अहंकार शून्य व्यक्ति के पास ही स्थित रहती है। जो दंभी और अभिमानी हैं उनके यहाँ से ईश्वरीय अनुकम्पा खिसक जाती है।[4]

यहाँ श्रीरामकृष्ण देव की एक बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि अभिमानशून्य होना कोई सरल कार्य नहीं है। अभिमान की जड़ कटकर भी नहीं मरती। जैसे बकरा काटे जाने पर, मुंड धड़ से अलग हो जाने पर भी वह कुछ देर तड़पता रहता है, उसी प्रकार अभिमान समाप्त होने पर भी उसका प्रभाव थोड़े दिनों तक बना रहता है।[5]

(द.) कंचन—

धन का अभिमान भी मनुष्य को ईश्वर से दूर कर देता है। ईश्वर प्राप्ति के लिए अपरिग्रह भावना नितान्त आवश्यक है। कहा भी है: 'मातृवत् परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवत्'। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।' धन आत्मा की एक उपाधि है। उसे दूर रखना चाहिए। धन तो

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 31।
2. वही, पृ० 55।
3. वही, अं० अनु०, पृ० 52।
4. वही, पृ० 53।
5. श्रीरामकृष्ण उपदेश, हि० अनु० पृ०, 58।

केवल एक साधन है, उसे साध्य रूप कभी नहीं मानना चाहिए। परमहंस देव धन का कभी भी संस्पर्श नहीं करते थे। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि उनकी निद्रावस्था में यदि कोई सिक्के द्वारा उनका स्पर्श करता था तो उनका शरीर धनुष की तरह टेढ़ा हो जाता था। वे यह भी कहते थे कि जिस व्यक्ति की दृष्टि लक्ष्मी पर लगी होती है वह विष्णु (भगवान) का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

साधना के सहायक—

निम्न अवस्थाएँ ईश्वर प्राप्ति में सहायक होती हैं:—

(अ) सहनशीलता—जो सहन करता है, वही जीवित रहता है, जो सहन नहीं करता उसका विनाश हो जाता है। सहनशीलता का पाठ पढ़ने के लिए सम्पूर्ण वर्णमाला में 'स' कार तीन होते हैं श, ष, स। लोहार के घर में निहाई के ऊपर कितने जोर से बड़े-बड़े हथौड़ों द्वारा पीटते हैं, तो भी निहाई का कुछ नहीं होता। इसी प्रकार मानव की बुद्धि स्थिर और कूटस्थ होनी चाहिए।

(ब) निष्कपटता (सरलता)—जो संसार में अपने को चतुर और चालाक समझते हैं उन्हें ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। कौआ बहुत चतुर होता है पर विष्ठा खाता है, यही हाल सभी चतुर लोगों की होती है। चित्त की सरलता द्वारा ईश्वर प्राप्ति का कार्य सरल हो जाता है। इसके लिए हठयोग की भी आवश्यकता नहीं होती। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि यही सोचो कि तुम्हारा मन भगवान के चरण कमल से एक रेशम के धागों द्वारा बँधा है। रेशम का धागा इसलिए बँधा है जिससे कि भगवान के चरण को कष्ट न हो।

(स) सत्संग— जैसे वकील को देखने से मुकदमें, और कचहरी की बातें मन में उठती हैं, तथा डाक्टर या वैद्य को देखने से बीमारी या दवा की याद आती है। इसी प्रकार साधु या भक्त को देखने से भगवान् का भाव उमड़ने लगता है। श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार साधु संग वैसा ही है जैसे चावल का धोया हुआ जल। जिसको अत्यन्त नशा चढ़ा हो, उसे यदि चावल का धोया हुआ

पानी पिला दिया जाय तो नशा उतर जाता है। इसी प्रकार इस संसार रूपी मद मे जो मत्त हो रहे हैं, उनका नशा दूर करने के लिए एकमात्र उपाय साधु संग ही है।[1]

(द) **विनय**—जो ईश्वर प्राप्ति का विचार रखता है, उसे विनयशील या नम्र होना चाहिए। श्री रामकृष्ण देव कहते हैं कि तराजू का जो पलड़ा जितना ही भारी होता है, उतना ही वह नीचे की ओर झुक जाता है।

(य) **त्याग**—आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए सांसारिकता का त्याग परमावश्यक है। श्री परमहंस देव ने त्यागी की उपमा एक मधुमक्खी और चातक से दी है। मधुमक्खी केवल फूलों का रस ही ग्रहण करती है, मक्खी की तरह सभी स्थानों पर नहीं बैठती। इसी प्रकार चातक केवल स्वाती नक्षत्र का ही पानी पीता है पर कौआ सब जगह का पानी पीता है। मनुष्य को भी इनसे त्याग का पाठ पढ़ना चाहिए।

(र) **अध्यवसाय**—रत्नाकर में अनेक रत्न हैं, पर यदि हमें एक ही डुबकी में रत्न न मिलें तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि रत्नाकर रत्नहीन है। इसी प्रकार यदि थोड़ी साधना करने से ईश्वर के दर्शन न हों तो निराश न होकर धैर्य धारण करना चाहिए। कभी-न-कभी ईश्वर की कृपा अवश्य होगी।

(ल) **व्याकुलता**—जिस प्रकार सती का मन पति की ओर, कृपण का धन की ओर और विषयी का विषय की ओर होता है, उसी प्रकार भक्त का मन भगवान् की ओर लगा होना चाहिए। व्याकुलता भक्त और भगवान् के बीच को समाप्त कर देती है। श्रीरामकृष्ण देव ने व्याकुलता—अकेले में ईश्वर के लिए रोना—पर बहुत बल दिया है।

(व) **विवेक**—जब तक हम सत् और असत् के अन्तर को नहीं समझ लेते तब तक सत् के प्रति स्वाभाविक अनुराग हमारे अन्दर उत्पन्न नहीं हो सकता। इस विवेक या निर्णयशक्ति को

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 78।

समझाने के लिए श्रीरामकृष्ण ने चार उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण हंस का है। हंस के भीतर इतना विवेक होता है कि वह जलमिश्रित दूध में दूध को तो ग्रहण कर लेता है और जल को त्याग देता है। इसी प्रकार चींटीं, बालू मिश्रित चीनी में चीनी को तो ग्रहण कर लेती है पर बालू का परित्याग कर देती है। बत्तख दिन-रात जल में रहकर भी उससे अलिप्त रहता है। इसी प्रकार मछली कीचड़ में रहते हुए भी चाँदी की तरह चमकती है। मनुष्य को वैसा ही निर्लिप्त और विवेकशील होना चाहिए।

मोक्ष मार्ग के अधिकारी का लक्षण देते हुए वे कहते हैं कि सभी लोग ज्ञान, कर्म एवं भक्ति इन तीनों के समन्वय का प्रयास किये हैं। ज्ञान-योग एवं भक्ति-योग दोनों ही सत्य हैं। सभी मार्गों से ईश्वर के निकट पहुँचा जा सकता है।[1] अद्वैत वेदान्त की 'अध्यारोप' और 'अपवाद' की पद्धति का भी अनुसरण कर पहले 'नेति-नेति' द्वारा[2] सब जागतिक पदार्थों में से ईश्वर-बुद्धि को हटा लेने का निर्देश उन्होंने किया। तत्पश्चात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' महावाक्य के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा दी और इसके साथ भक्ति-स्नेह को हाथों में लगाकर संसार-कटहल को[3] काटने का तथ्य भी इन्होंने अपने 'वचनामृत' द्वारा पुनः पुनः उद्‌घाटित किया। निष्काम कर्म से ईश्वर प्राप्ति का संदेश भी उन्होंने यदा-कदा दिया है।[4]

ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों मार्गों के प्रति श्री रामकृष्ण देव की प्रवृत्ति समन्वयवादी होने पर भी भक्तिमार्ग ही उन्हें अत्यधिक अभीष्ट था। ज्ञानमार्ग की कठोरता एवं दुर्गमता की चर्चा उन्होंने यत्र-तत्र की है।[5] ज्ञानी के विषय में उनके विचार थे कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मदर्शन की अवस्था में अधिक दिन तक स्थित नहीं रह सकता।[6] ज्ञान को उन्होंने उस पुरुष के समान बतलाया है जो घर के बाहर की वार्ता ही बता सकता है। भक्ति उस स्त्री के समान है जो अन्तःपुर के समाचार देने में

---

1. रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 61।
2. वही (प्रथम भाग) पृ० 156।
3. वही, पृ० 9।
4. वही, पृ० 69।
5 रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 182, 187, 320।
6. वही, पृ० 142।

भी समर्थ है।[1] ईश्वर को भक्ति उतनी ही प्रिय है जितनी बैल को सानी।[2] भगवद्गीता की भाषा में वे कहते हैं कि "भक्तों के हृदय में ईश्वर विशेष रूप से निवास करता है।"[3] ईश्वर-दर्शन में भक्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा है—"जब तक प्रेमा भक्ति अथवा राग भक्ति न होगी तब तक ईश्वर नहीं मिलेगा। भक्ति से ही उसके दर्शन हो सकते हैं, परन्तु यह भक्ति पक्की प्रेमा-भक्ति होनी चाहिए। इस भक्ति द्वारा ही उस पर ऐसी प्रीति होती है, जैसै बच्चे को माँ पर और पत्नी को पति के प्रति होती है।"[4]

"विश्व के लिए वह सबसे अधिक दुर्भाग्य का दिन होगा जिस दिन सम्पूर्ण मानव-जाति एक ही धर्म और एक ही प्रकार की साधन-प्रणाली को स्वीकृत कर लेगी।"[5] इस उद्घोष के साथ स्वामी विवेकानन्द ने साधनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी मार्ग का अनुसरण कर लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह निश्चित नहीं है कि एक व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग दूसरे के लिए भी उसी प्रकार उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। उन्होंने साधनों के समन्वयात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा कि जिसमें ज्ञान, भक्ति और योग का सुन्दर सम्मिश्रण हो, वही सर्वोत्तम कोटि का चरित्र है। साधक रूपी पक्षी के उड़ने के लिए तीन अंगों की आवश्यकता होती है, जिसमें ज्ञान और भक्ति ये दो पंख हैं एवं योग है सामंजस्य बनाए रखने वाला पूँछ।[6] आचार्य शंकर मोक्ष के लिए एकमात्र ज्ञान को ही परम् साधन मानते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुयायी होते हुए भी स्वामी विवेकानन्द ने मोक्ष के लिए ज्ञान, भक्ति, कर्म और राजयोग इन चार मार्गों का विधान किया है। यहाँ स्वामी जी के प्रतिपादन में कुछ विरोध सा प्रतीत होता है। प्रश्न उठता है कि अद्वैत वेदान्त का अनुयायी होते हुए भी स्वामी जी ने भक्ति को क्यों महत्त्व दिया? क्या भक्ति जो कि मानवीय मानसिक कल्पनाओं पर आधारित है, निरपेक्ष

---

1 परहमहंस चरित—स्वामी विज्ञानानन्द, पृ० 103।
2. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 210।
3. वही, पृ० 119।
4. वही, (प्रथम भाग), पृ० 186-87।
5. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 4, पृ० 291।
6. वही, खण्ड 3, पृ० 33।

और निर्गुण तत्त्व की प्राप्ति में पूर्णतः सहायक हो सकती है? क्या भक्ति द्वैत का नाश करने में समर्थ हो सकती है, जबकि द्वैत के बिना भक्ति का अस्तित्त्व ही संभव नहीं है?

यहाँ पर जो विरोध प्रतीत हो रहा है उसका परिहार आवश्यक है। वस्तुतः स्वामी जी भी सिद्धान्ततः अद्वैत से सहमत हैं। उन्होंने भी साधन के रूप में ज्ञान की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। एक स्थल पर जीवात्मा की बद्धावस्था को एक रूपक द्वारा समझाते हुए वे कहते हैं कि "पूर्ण शुद्ध रूप आत्मा मानों एक पहिया है और शरीर मन रूपी दूसरा पहिया। ये दोनों कर्मरूपी लकड़ी द्वारा जुड़े हुए हैं। इस लकड़ी को काटने वाला ज्ञान है।[2] स्वामीजी के अनुसार भी परमावस्था वही है जिसे अद्वैत वेदान्त ने मान्य किया है। "जहाँ-जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का, 'मैं'—'तुम' का एवं समस्त द्वैत का लोप हो, वही परमार्थ है।"[3] यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु विरोध का प्रारम्भ कहाँ से होता है, यह जान लेना चाहिए। मोक्ष दो प्रकार के फल से युक्त है—प्रथम है, परिहारात्मक, जिसमें आत्मा संकुचित, सीमित एवं स्वार्थयुक्त दृष्टियों से मुक्त हो प्राकृतिक सीमाओं से दूर हो जाती है; द्वितीय फल है विध्यात्मक जिसमें अद्वैत वेदान्तानुसार आत्मा ब्रह्म भाव-युक्त हो स्वरूप में स्थित हो जाती है। इस विध्यात्मक फल के स्वरूप पर ही विभिन्न आचार्यों में मतभेद हैं एवं इसी फल की दृष्टि से सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य एवं सालोक्यादि भेद से मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है। इन्हीं भेदों को समक्ष रखकर विभिन्न आचार्यों ने पृथक् साधनों का विधान किया है। मुक्ति के प्रथम स्वरूप के विषय में सभी आचार्य एकमत हैं। स्वामी जी भी मोक्ष के लिए जब विभिन्न मार्गों का विधान करते हैं तो वहाँ उनका तात्पर्य मोक्ष के प्रथम स्वरूप से ही है। मुक्ति के विषय में अपने विचार स्पष्ट करते हुए स्वामीजी ने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि सीमित और स्वार्थयुक्त संसार का त्याग ही मुक्ति है।[4] अतः जो भी मार्ग इस संकुचित सीमा

---

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 8, पृ० 3।
2. वही, खण्ड 2, पृ० 281।
3. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ० 40।
4. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड एक, पृ० 95-6।

से और देश-काल निमित्त के बन्धन से निकालने में समर्थ हो, वही योग है।[1] इसी दृष्टि से स्वामी जी ने कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग को साधन-मार्गों के रूप में स्वीकार किया है।

परमहंस देव कहते हैं कि ज्ञानयोग के द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। ज्ञान तीन प्रकार का होता है। प्रथम सांसारिक व्यक्तियों का ज्ञान है, जिसकी तुलना कमरे के लालटेन की रोशनी से की जा सकती है जो केवल कमरे को ही प्रकाशित कर सकती है, बाहर की वस्तुओं को नहीं। द्वितीय श्रेणी के भीतर भक्तों का ज्ञान आता है, जिसकी तुलना चन्द्रमा की रोशनी से की जा सकती है जो कमरे के भीतर और बाहर दोनों ओर वस्तुओं को प्रकाशित करती है। तीसरा ज्ञान अवतारी पुरुषों का ज्ञान है जिसकी तुलना सूर्य की रोशनी से की जा सकती है जो गहनतम अन्धकार को एक साथ दूर कर सकती हैं।

वह उच्चतर ज्ञान क्या है? आत्म-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा का ज्ञान हो गया उसे जगत् और ईश्वर का भी ज्ञान हो गया। जिस प्रकार प्याज के भीतर सब छिलका ही छिलका होता है, उसके भीतर कोई सारतत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार अहं (Ego) में भी कोई वास्तविकता नहीं होती, सब छिलका ही छिलका होता है। अहं के दूर हो जाने पर भीतर और बाहर का भेद मिट जाता है और सर्वत्र ईश्वर ही दिखाई पड़ने लगते हैं।[2]

इस सम्बन्ध में एक लघु कथा है। एक व्यक्ति को हुक्का पीने की आदत थी। वह आदमी हुक्का जलाने के लिए आधी रात को लालटेन लेकर सबके दरवाजे खटखटाताा रहा। दरवाजा खोलने पर एक व्यक्ति ने कहा, 'भाई! तुम व्यर्थ सबका दरवाजा खटखटा रहे हो। तुम्हारे पास जो लालटेन है उसी से अग्नि पैदा कर अपने हुक्के को जगा सकते हो'। इसी प्रकार भगवान स्वयं

---

1. Therefore the whole scope of all systems of Yoga is to clear up this ignorance and allow the atman to restore its own nature.
—Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. VII, P. 152.

2. श्रीरामकृष्ण उपदेश अं० अनुवाद, प० 225।

हमारे पास विद्यमान है। इस बात को न जानकर हम उन्हें दर-दर ढूँढ़ते हैं। ज्यों ही हमें इस बात की जानकारी हो जाती है कि भगवान् हृदयस्थ हैं हमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जो मोक्ष का कारण है।[1]

विचार दो प्रकार का होता है—अनुलोम और विलोम। अनुलोम विचार एक विश्लेषणात्मक विचार है जिसमें हम कार्य से कारण की ओर जाते हैं। इसके विपरीत विलोम विचार वह है जिसमें हम कारण (ब्रह्म) से कार्य (जगत्) की ओर अग्रसर होते हैं। यह संश्लेषणात्मक विचार है। व्यवहार में दोनों की उपयोगिता है।[2]

पर इस कलियुग में ज्ञान योग का अनुष्ठान बहुत ही कठिन कार्य है। ज्ञान योगी वही हो सकता है जिसकी देहात्म बुद्धि समाप्त हो गई हो। जिसने आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को समझ लिया है और शरीर से आत्मा की पृथकता का अंकन कर लिया है वही ज्ञान-योगी हो सकता है। जिस व्यक्ति की बुद्धि विषयों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि में रम रही हो, वह ज्ञान योगी कभी नहीं हो सकता।

एकत्व ज्ञान केवल शुद्ध ज्ञान एवं दर्शन से ही प्राप्त नहीं होता। वह प्रेम द्वारा भी प्राप्त होता है।[3] ऊपर जिस विरोध की चर्चा अभी की गई थी उसके विषय में स्वामी जी स्वयं भी यह स्वीकार करते हैं कि भक्ति का प्रारम्भ द्वैत से ही होता है परन्तु साथ ही इसका परिहार करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि परमार्थ में पहुँचकर प्रेम, भक्त एवं भगवान् में कोई अन्तर नहीं रहता।[4]

गीता में ज्ञानयोग के सन्दर्भ में कहा गया है कि—

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश, पृ० 225-26।
2. वही, पृ० 226।
3. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3 पृ० 282।
4. वही, खण्ड 3, पृ० 100।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥[1]

स्वामी जी ने भावुकता से शून्य व्यक्तियों के लिए ज्ञानयोग का विधान किया है।[2] आचार्य शंकर के समान स्वामी जी ने भी श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का महत्त्व प्रतिपादित किया।[3] ज्ञान-योगी का ध्यान निषेधात्मक एवं विध्यात्मक भेद से दो प्रकार का होता है। प्रथम में उन गुणों के निषेधात्मक स्वरूप का ध्यान करना चाहिए जो आत्मा के नहीं हैं, और द्वितीय में आत्मा के सत्-चित्-आनन्द अनन्त स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। श्रवणादि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए स्वामीजी विचारों के महत्त्व को विशेष रूप से स्वीकार करते हैं। विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति के नियामक है।[4] जैसा हम सोचेंगे, वैसे ही बन जाएगें। अतः आदर्श के सम्बन्ध में जितना हो सके, सुनना होगा। तब तक सुनना होगा जब तक वह हमारे शरीर के अणु परमाणु में व्याप्त नहीं हो जाता और जब तक हमारे रक्त में प्रवेश कर एक-एक बूँद में घुल-मिल नहीं जाता।[5] वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान का ही नाम मोक्ष है। वही पारमार्थिक अवस्था एवं मोक्ष का परम् साधन है। ज्ञान का तात्पर्य स्वामीजी भी अद्वैत वेदान्त के समान यह बतलाते हैं कि यह ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। परन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' का अपरोक्ष ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् साधन है।

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने सभी प्रकार के योगों का अनुष्ठान किया था पर उनकी ज्ञानयोग में विशेष निष्ठा थी। गीता में भी कहा गया है कि—

---

1. गीता, 4-28।
2. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 8, पृ० 3।
3 वही, खण्ड 5, पृ० 322।
4. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकनन्द, खण्ड 8, पृ० 19।
5. वही, खण्ड 2, पृ० 152।

श्रद्धवाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परांशान्ति मचिरेणाधिगच्छति॥[1]

वे योग को एक विज्ञान मानते थे जिसके लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। योग के विषय में जो इतनी गुह्यता प्रदर्शित की जाती है, वे इसे बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे। वे कहते थे—''योग के विषय में यदि कोई गुप्त या रहस्यमय बात हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। रहस्य, व्यापार मानवीय मस्तिष्क को दुर्बल बना देता है। इसने योग को जो कभी एक उच्चतम विज्ञान था, बिल्कुल नष्ट कर दिया।''[2]

धर्म के विषय में स्वामी जी के विचार बड़े स्पष्ट थे। धर्म और बुद्धि के निष्कर्षों में कोई विरोध नहीं होना चाहिए। ''बुद्धि का अनुसरण करते हुए मानव मात्र को नास्तिक होना अच्छा है, पर किसी व्यक्ति के प्राधिकार के आधार पर अन्धविश्वास के रूप में करोड़ों देवताओं में विश्वास करना अच्छा नहीं है। मनुष्य का महत्त्व इसी बात में है कि वह एक चिन्तनशील प्राणी है।[3] विवेकानन्द के अनुसार प्रत्येक धर्म, बुद्धि या तर्क से परिपुष्ट होना चाहिए तभी वह स्थायी हो सकता है। स्वामीजी कहते थे ''यदि बौद्धिक अन्वेषण के परिणामस्वरूप कोई धर्म नष्ट हो जाता है तो वह धर्म नहीं वरन् अन्धविश्वास है। इस अन्वेषण के परिणामस्वरूप जो मैल है वह तो निकल जाता है, पर जो अनिवार्य तत्त्व हैं, वे विजयी होकर शेष रह जाते हैं।''[4]

स्वामी विवेकानन्द बुद्धियोग या ज्ञानयोग में विश्वास करते थे। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे बुद्धि या तर्क की सीमाओं से सर्वथा अपरिचित थे। बुद्धि के तर्कों में चक्रक दोष पाया जाता है। ''बल क्या है? बल वह है जो जड़ पदार्थ को गति प्रदान करता है। जड़ पदार्थ क्या है? वह तो बल द्वारा गतिशील होता है। यह एक प्रकार का झुमाझुमी है। ज्ञान-विज्ञान की

---

1. गीता, 4-39।
2. सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० 92।
3. ज्ञानयोग पर निबन्ध।
4. ज्ञानयोग पर निबन्ध।

उपलब्धियों के बावजूद हमारा तर्क विचित्र होता है। यह सिर के बिना सिर-दर्द है।"[1]

स्वामी विवेकानन्द यह भी स्वीकार करते हैं कि बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान सदा सैद्धान्तिक ही होता है जो हमें पूर्ण सन्तोष प्रदान नहीं कर सकता। एक मानचित्र हमें किसी स्थान के विषय में भले ही विशद और सही सूचना दे दे पर वह उस ज्ञान की अपेक्षा सर्वथा अपूर्ण व अवास्तविक होगा जो उस स्थान के निरीक्षण से प्राप्त होता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा व्यक्तिगत साक्षात्कार का विशेष महत्त्व है।

भक्तियोग और ज्ञानयोग में अन्तर यह है कि ईश्वर में प्रेम होने पर आत्म नियन्त्रण स्वतः उत्पन्न हो जाता है पर ज्ञानयोग तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक कि किसी व्यक्ति ने प्रथम आत्मनियंत्रण न स्थापित कर लिया हो। आत्मनियंत्रण ज्ञानयोग की प्रागपेक्षा है।

सांसारिकता और कर्मफल से बचने के लिए भक्ति अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कटहल छीलने के पहले हाथ में तेल लगा लेना आवश्यक होता है नहीं तो उसका दूध पूरे हाथ में चिपक जाता है, ठीक उसी प्रकार कर्म फल से बचने के लिए मनुष्य को भक्तियुक्त होना अनिवार्य है। ज्ञान भी शक्ति का ही एक रूप है। भक्ति चन्द्रमा की तरह शीतल है और ज्ञान सूर्य के समान प्रखर है। पर जिस प्रकार कभी-कभी चन्द्रमा के डूबने के पहले ही सूर्य उदय हो जाता है, उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान भी साथ-साथ रह सकते हैं।

भगवान् के साक्षात्कार के लिए भक्ति आवश्यक है। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि सादे काँच में किसी वस्तु का चित्र नहीं उतरता परन्तु यदि उसमें रासायनिक द्रव्य लगा हो तो फोटो स्पष्ट रूप से उतर जाता है। इसी प्रकार यदि शुद्ध मन में भक्ति रूपी रसायन लगा हो तो भगवान् का रूप स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। भक्ति के बिना शुद्ध मन में भी भगवान् का रूप नहीं दिखाई दे सकता।[2] भक्ति के पूर्व आत्म-नियंत्रण की कोई आवश्यकता नहीं है। श्री भगवान् के

---

1. व्यवहारिक आध्यात्मिकता पर संकेत।
2 श्रीरामकृष्ण उपदेशः हिं० अनुवाद, पृ० 88।

चरण-कमलों में भक्ति होने से विषय कर्म अच्छे नहीं लगते। मिश्री का शर्बत पीने के बाद फिर गुड़ का शर्बत कोई नहीं पीना चाहता[1]। एक कवि ने भक्ति की उपमा एक शेर से दी है। जिस प्रकार शेर जानवरों को अनायास उदरस्थ कर जाता है, इसी प्रकार भक्ति साधक के विरोधियों अर्थात् वासना, काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकारों को नष्ट कर देती है।[2]

भगवान् एक है, पर साधक और भक्तगण भिन्न-भिन्न भाव व रुचि के अनुसार उनकी उपासना किया करते हैं। एक ही दूध से कोई रबड़ी तो कोई पेड़ा बनाकर खाते हैं, इसी प्रकार जिनकी जैसी रुचि होती है, वे उसी भाव से भगवान का साधन भजन तथा उनकी उपासना करते हैं।

प्रेम तीन प्रकार का होता है: समर्थ, सामंजस और साधरण। समर्थ प्रेम निःस्वार्थ प्रेम होता है जिसमें प्रेमी अपने विषय में कुछ न सोचकर केवल प्रेमास्पद के कल्याण के विषय में ही सोचता है। सामंजस्य प्रेम पारस्परिक होता है जिसमें प्रेमी अपना और प्रेमास्पद दोनों का कल्याण देखता है। साधारण प्रेम निकृष्टतम प्रेम है जिसमें प्रेम प्रेमास्पद का विचार न करके अपनी ही स्वार्थ साधन करना चाहता है। समर्थ प्रेम उच्चतम कोटि का प्रेम है जो भगवान् के प्रति होना चाहिए।[3]

जिस प्रकार सांसारिकता के तीन पक्ष होते हैं—सत्त्व, रजस और तमस, उसी प्रकार भक्ति भी तीन प्रकार की होती है—सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक। सात्त्विक भक्ति में सरलता होती है। सात्त्विक भक्त एकान्त में भगवान् की भक्ति करता है। राजसिक भक्ति में वाह्याडम्बर का विशेष स्थान होता है, जिसमें भक्त त्रिपुंड, रूद्राक्ष व एक विशेष उत्तरीय का प्रयोग करता है। तामसिक भक्ति में शक्ति का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार कोई डाकू बलपूर्वक दूसरों की वस्तुओं का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार तामसिक भक्त अपने को ईश्वर का पुत्र घोषित कर

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश: हि० अनुवाद, पृ० 90
2. वही, अं० अनुवाद, पृ० 234।
3. श्रीरामकृष्ण उपदेश : हि० अनुवाद, पृ० 236।

ईश्वर द्वारा उत्पन्न किसी वस्तु का अपहरण कर लेता है।[1]

श्रीरामकृष्ण देव ने साधना के छः सोपानों, का वर्णन किया है : (1) साधु, संग, (2) श्रद्धा, (3) निष्ठा, (4) भक्ति, (5) भाव और (6) महाभाव। महाभाव की अवस्था में प्रेमी पागलों की तरह उन्मुक्त होकर हँसने, रोने और गाने लगता है। इसके बाद साधना की सातवीं अवस्था आती है, जिसे प्रेम कहते हैं।प्रेमावस्था में आत्मा शरीर और जगत् तीनों का लोप हो जाता है, और मनुष्य का ईश्वर के साथ पूर्ण तदाकार स्थापित हो जाता है। इन सातों भक्तियों का समाहार करते हुए परमहंस जी ने उनको दो भागों में विभाजति किया : विधि-भक्ति और राग-भक्ति। विधि-भक्ति नियम पूर्वक की जाती है तथा रागभक्ति प्रखर प्रेम द्वारा उत्पन्न होती है। इसे पराभक्ति भी कहते हैं।

ज्ञानी और भक्त में अन्तर यह है कि ज्ञानी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म में लीन हो जाना चाहता है पर भक्त अपने समक्ष भगवान् के अस्तित्त्व को बनाए रखना चाहता है। वह स्वयं चीनी बनाने की अपेक्षा केवल चीनी का स्वाद ही लेना पसन्द करता है।[2] ज्ञानी की उपमा बन्दर के बच्चे (मर्कट शिशु न्याय) से दी गई है जो स्वयं अपने मोक्ष की व्यवस्था करता है। इसके विपरीत भक्त की उपमा बिल्ली के बच्चे (मार्जार शिशु न्याय) से दी गई है जो अपने को पूर्णरूप में अपनी माँ को समर्पित कर देता है। ज्ञानी का पतन तो संभव है पर भक्त का पतन नहीं होता। ज्ञान पुरुष है और भक्ति नारी है! ज्ञानरूपी पुरुष की पहुँच ईश्वर के बैठक तक ही हो सकती है पर भक्ति रूपी नारी ईश्वर के घर के भीतर भी प्रवेश कर सकती है।[3]

स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति-मार्ग को स्वाभाविक एवं सहज मार्ग बतलाया है। समाज में अधिकांश व्यक्ति द्वैतवादी हैं। वे सहज रूप से ब्रह्म के निर्गुण एवं अमूर्त्त स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित

---

1. श्रीरामकृष्ण उपदेश : हि० अनुवाद, पृ० 237।
2. श्रीरामकृष्ण उपदेशः हि० अनुवाद, पृ० 248-49।
3 वही, पृ० 252।

करने में असमर्थ हैं। अतः उनके लिए भक्ति ही सरल एवं सहज मार्ग है।[1] भक्त को गिरने की सम्भावना नहीं रहती जब कि ज्ञानयोग की साधना कठिन भी है एवं उसमें पतन की सम्भावना बनी रहती है।[2] इसके अतिरिक्त भक्ति-मार्ग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ यह भी है कि उससे विश्व-बन्धुत्व या विश्व-प्रेम की उपलब्धि जितनी सरलता से हो सकती है उतनी अन्य किसी मार्ग से नहीं। "जो भी परम पिता की सन्तान हैं वे सभी भक्त को पवित्र प्रतीत होने लगते हैं। दूसरों को प्यार किए बिना कोई भक्त कैसे रह सकता है?"[3] जब मनुष्य भक्ति की उक्त अवस्था में पहुँच जाता है तब मनुष्य उसे भगवान के रूप में दिखने लगता है।[4]

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार आध्यात्मिक अनुभूति के निमित्त किए जाने वाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा या प्रक्रिया का ही नाम भक्ति है। उसका प्रारम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम से।[5] श्रीरामानुज के समान स्वामी जी ने भी भक्ति के सात साधन बतलाए हैं। वे हैं—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष। भक्ति दो प्रकार की होती है।[6] इनमें वैधी यह है, जिसमें शंकाहीन होकर श्रुति का अनुसरण किया जाय।[7] दूसरी है, रागानुगा जो पाँच प्रकार की है—शास्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य। भक्ति-जनित प्रेम में तीन गुण आवश्यक रूप से होने चाहिए।[8] प्रथम यह कि प्रेम निःस्वार्थ होना चाहिए। दूसरे यह कि प्रेम को भय-रहित होना चाहिए। ईश्वरीय दण्ड के भय से जो प्रेम हो वह निकृष्ट कोटि का है। प्रेम और भय का परस्पर विरोध है। सच्चे प्रेम का तीसरा लक्षण यह है कि वह प्रतिद्वन्दी पात्र से रहित हो। इस प्रकार भक्त का अपने आदर्श के प्रति अनन्य प्रेम होना आवश्यक है।

---

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ० 357।
2. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ० 77।
3. वही, खण्ड 3, पृ० 82।
4. वही, पृ० 82।
5. वही, पृ० 36।
6. वही, खण्ड 5, पृ० 78।
7. वही
8. वही, खण्ड 3, पृ० 88-9।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि कर्मयोग के द्वारा भी ईश्वर-लाभ किया जा सकता है। निष्काम भाव से गृहस्थ द्वारा किया गया कर्म कर्मयोग है। ईश्वर को समर्पित करके किए गए कर्म भी कर्मयोग के भीतर आते हैं। अष्टांग योग कर्मयोग है। पर निष्काम कर्म इतना सरल नहीं है जितना लोग समझते हैं। यदि कर्म के साथ भक्ति हो तो कर्मयोग पर्याप्त सरल हो जाता है। हरि-कीर्तन, सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव तथा भक्तों की सेवा, ये सभी कर्मयोग के भीतर आ जाते हैं। हम कर्म किए बिना नहीं रह सकते। कर्म करना तो हमारा स्वभाव ही है। पर निष्काम कर्म करना चाहिए। तभी ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। कर्म साधन है, ईश्वर साध्य है।

ब्रह्मज्ञानी और ईश्वर-भक्त के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं होती। संध्या के बाद गायत्री, गायत्री के बाद प्रणव व प्रणव के बाद समाधि होनी चाहिए। समाधि में सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं।

स्वामीजी ने साधन मार्ग के रूप में कर्मयोग का भी महत्त्व स्वीकार किया है। कर्मयोग का अर्थ है कुशलता के साथ अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा कार्य करने की विधि।[1] कर्मयोग प्रथम तो समस्त व्यक्तिगत कार्यों को फलाभिलाषा से रहित होकर करने का विधान करता है क्योंकि फलों में आसक्ति रखने से मन की शक्ति नष्ट हो जाती है।[2] गीता में भी कर्मयोग के सन्दर्भ में कहा गया है कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन,

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥[3]

अतः मन, मस्तिष्क एवं इन्द्रियादि से कार्य तो करना चाहिए परन्तु उन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहिए। शनैः शनैः समस्त व्यक्तिगत एवं स्वार्थयुक्त कर्मों का त्याग कर केवल

---

1 कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड एक, पृ० 97।

2. कर्मयोग, पृ० 15।

3. गीता 2-47।

परार्थ कर्म करना ही उचित है। परार्थ किया हुआ निःस्वार्थ कर्म कदापि बन्धनकारी नहीं हो सकता।[1] यही मुक्ति-लाभ का अर्थ है। कार्य-कारण में या देशकाल में सीमित होकर, क्षुद्र शरीर की कामनाओं की तृप्ति के लिए किया गया कर्म ही बन्धक होता है। जो कार्य स्वाधीन होकर अनन्त के लिए किया जाएगा वह न बन्धक होगा न सीमित। स्वामीजी ने कर्म फलासक्ति को त्यागने का उपाय फलों को ईश्वरार्पित करना बतलाया है।[2]

स्वामीजी साधन क्रम में राजयोग को भी उपयोगी बतलाते हैं। योग के यम नियमादि अष्टांगों का क्रमिक पालन करते हुए एवं मन की समस्त शक्तियों को अन्तर्मुखी बनाते हुए आत्म-स्वरूप को अवभासित करने का जो मार्ग है वही राजयोग है।[3] इस मार्ग में अमरता की प्राप्ति के लिए 'मन' तथा 'शरीर' के पूर्ण नियन्त्रण एवं अनुशासन की बात की जाती है। वैसे,. इस प्रकार की बात अन्य मार्गों में भी है, विशेषतः ज्ञान-मार्ग में तो है ही। किन्तु, यहाँ एक विशेष प्रकार के नियन्त्रण की बात होती है, इसमें शरीर और मन को नियन्त्रित करने के लिए कुछ स्पष्ट विधियाँ अनुशंसित है, विभिन्न आसन तथा प्रत्याहार के ढंग अनुशंसित है, तथा मान्यता है कि इनके नियमतः कठोर पालन से ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार के मार्ग की नींव पतञ्जलि के 'योगसूत्र' में है। उसे ही विभिन्न रूपो में विकसित कर विभिन्न यौगिक क्रियाओं का विवरण होता रहता है। राजयोग के आठ अंग निम्न है :

(1) यम—'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'—अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं।

(2) नियम—'शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमाः'—शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरोपासना—ये पाँच नियम हैं।

---

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड-एक, पृ० 86।
2. वही, खण्ड एक, पृ० 100।
3. वही, खण्ड एक, पृ० 129-30।

(3) **आसन**—'स्थिरसुखमासनम्'—स्थिर भाव से सुख पूर्वक बैठने का नाम आसन है।

(4) **प्राणायाम**—'श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायाम'—श्वास और प्रश्वास दोनों की गति को संयत करना प्राणायाम कहलाता है।

(5) **प्रत्याहार**—'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'—जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को त्याग कर मानों चित्त का स्वरूप ग्रहण करती है, तब उसे प्रत्याहार कहते हैं।

(6) **धारणा**—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'—चित्त को किसी विशेष वस्तु में धारणा करके रखने का नाम धारणा है।

(7) **ध्यान**—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'—वह वस्तुविषयकज्ञान निरन्तर एक रूप से प्रवाहित होते रहने पर उसे ध्यान कहते हैं।

(8) **समाधि**—'तदेवार्थमात्र निर्मास स्वरूप शून्यमिव समाधिः'—वही ध्यान जब समस्त बाहरी उपाधियों को छोड़कर अर्थ मात्र को ही प्रकाशित करता है, तब उसे समाधि कहते हैं।

समाधि दो प्रकार की होती है: संप्रज्ञात समाधि जिसमें हम स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुओं पर मन केन्द्रित कर उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरी असंप्रज्ञात समाधि है। जिसमें हम सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का क्षय करके आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करते हैं। यही राजयोग की चरम परिणति है। इसी को 'कैवल्य' (मोक्ष) कहते हैं।

विवेकानन्द का कहना है कि यह 'योग' शरीर तथा मन से दुर्बल व्यक्तियों के लिए नहीं है, क्योंकि इसमें शारीरिक एवं मानसिक बल तथा दृढ़ता की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के

कठोर अनुशासन एवं अभ्यास से योगी में कुछ विलक्षण शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वह ध्यान केन्द्रित करने की समर्थता प्राप्त कर लेता है। इसी विधि से उसे ईश्वर में लीन होने के लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

विवेकानन्द ने इन चार योग मार्गों का पृथक्-पृथक् विवरण दिया है। किन्तु वे यह भी कहते हैं कि इन सभी का लक्ष्य एक ही है—अमरता की प्राप्ति । ये लक्ष्य तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं। इन्हें चार पृथक् मार्गों के रूप में प्रस्तुत करने का कारण यह है कि मनुष्यों में अभिरुचि मन:स्थिति, मनोवृत्ति तथा क्षमता आदि की भिन्नता रहती है। यह सम्भव है कि किसी एक व्यक्ति के लिए ज्ञान-मार्ग असम्भव प्रतीत हो, तथा भक्तिमार्ग अपनी मन:स्थिति एवं क्षमता के अनुकूल प्रतीत हो। इसी कारण स्वामीजी कहते हैं कि हर व्यक्ति इन मार्गों में उसी मार्ग को अपना सकता है, जो उसकी अभिरुचि एवं क्षमता के अनुरूप हो। किन्तु वे यह स्पष्ट कहते हैं कि कोई किसी मार्ग को अपनाए, यदि वह उसका अनुशीलन, लगन एवं निष्ठा से करता है, तो वही मार्ग उसे उसके लक्ष्य तक ले जाएगा।

पुन: विवेकानन्द का यह भी कहना है कि इन मार्गों के पृथक्-पृथक् विवरण से यह धारणा नहीं बननी चाहिए कि ये मार्ग ही एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् है। ऐसा नहीं है। स्वामी जी का कहना है कि ऐसा नहीं है कि 'भक्तिमार्गी' को 'ज्ञान' से कोई सम्बन्ध ही नहीं, तथा उसे कोई 'कर्म' करने की आवश्यकता ही नहीं। वस्तुत: उसे भी निष्काम कर्म तो करना है। अत: इन मार्गों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक मार्ग नहीं समझना चाहिए। कुछ विशेष प्रकार के ढंगों की प्रधानता एवं प्रमुखता के आधार पर इन्हें अलग-अलग नाम दिया जाता है। उसका भी कारण मात्र यही है कि मनुष्यों में ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ एक समान नहीं रहती, किसी मनुष्य में भावनात्मकता की प्रधानता रहती है तो किसी में क्रियात्मकता की। इसी प्रधानता के अनुरूप उसे अपने मार्ग का चयन करता है, तब यह अनिवार्यता तो है ही कि वह मार्ग चाहें जो चुने, उस मार्ग में अग्रसर होने के लिए पूर्ण निष्ठा से, सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी है। यह 'निष्ठा' योग का अनिवार्य उपादान है।

अद्वैत वेदान्त में निवृत्ति मार्ग को प्रधानता दी जाती है।[1] परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने आधुनिक युगानुकूल प्रवृत्ति-मार्ग का विधान किया है। 'संसार का त्याग करो' इसका रहस्य स्पष्ट करते हुए स्वामीजी ने कहा है कि 'संसार में रहो परन्तु उसमें सीमित, संकुचित, और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण से मत रहो।' संसार में रहो, परन्तु संसार के होकर मत रहो। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमे आलसी होकर मिट्टी के ढेले की भांति पड़े रहना होगा। वेदान्त हमें कार्य से कभी विरत नहीं करता। यदि मुक्त पुरुष ही कार्य नहीं करेगा तो संसार को मार्ग कौन प्रदर्शित करेगा।[2] जो व्यक्ति भोग-विलासों में मग्न है या जो संसार को कोसता हुआ वन को चला जाता है और वहाँ अपने शरीर को कष्ट देता तथा शरीर को धीरे-धीरे सुखाकर अपने को मार डालता है वह व्यक्ति लक्ष्य-भ्रष्ट और पथ-भ्रष्ट है।[3] ''जब तुम्हारे लिए सभी ब्रह्मभाव हो गया है तब तुम्हें संसार छोड़ने की क्या आवश्यकता''? 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' कर्म करना ही सन्यासी का वास्तविक लक्ष्य है।[4]

साधनों के क्रम में यद्यपि श्रीरामकृष्ण देव ने किसी नवीन मार्ग का प्रवर्तन नहीं किया है, किन्तु जैसे किसी भी एक कार्य के लिए परिस्थिति एवम् समयानुसार विशिष्ट निर्देशन और निषेध हो सकते हैं, उसी प्रकार उन्होंने भी पूर्व प्रतिपादित साधन-क्रम में ही समन्वय कर साधन-विशेष पर न्यूनाधिक बल देते हुए साधक को ईश्वर प्राप्ति के लिए उत्प्रेरित किया है। आधुनिक विचारकों ने तार्किक और सैद्धान्तिक संगति की अपेक्षा तथ्यगत संगति पर ही अधिक जोर दिया है। साधना मार्ग को सर्वग्राही बनाने के लिए ऐसा उचित भी है। श्रीरामकृष्ण देव इस कार्य को करने वालों में सर्वप्रथम थे। उनके शब्दों में—मनुष्य सन्यासी है या गृहस्थ ईश्वर प्राप्ति में इसका कोई महत्व नहीं है। ईश्वर तो सदैव मानसिक व्यांकुलता और आकर्षण को देखते हैं। अपने मन को सदैव उस कछुए की भांति उस ईश्वर पर ही केन्द्रित किए रहना चाहिए जो रहता तो जल में है किन्तु

---

1. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ० 149-50।
2. वही, खण्ड 8, पृ० 226।
3. कम्पलीय वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ० 150।
4. वही, खण्ड 4, पृ० 261।

जिसका ध्यान सदैव अपने अण्डों की ओर रहता है। सर्वसन्यास द्वारा ही ईश्वर दर्शन संभव है, इस धारणा का मूलोच्छेद किया और प्रवृत्तिवाद की स्थापना की। किन्तु प्रवृत्तिवादी होते हुए भी श्रीरामकृष्ण देव ने मन की वासना के क्षय के लिए एकान्त सेवन एवं निवृत्तिवाद के महत्त्व को भी स्वीकार किया। मानव मन उस दुग्ध के समान है जो संसार रूपी जल में रहेगा तो अशुद्ध हो जाएगा। अतः एकान्त में उसका दधि बनाकर नवनीत को प्राप्त लेना चाहिए तभी भयमुक्ति प्राप्त हो सकेगी। साधना के अधिकारी के संदर्भ में उनका कथन है कि जिन लोगों का हृदय सांसारिक विषय-वासनाओं में रमा हुआ है, उन्हें ईश्वर व धर्म की भावनाएं ग्राह्य नहीं हो सकतीं। वासना शून्य हृदय दियासलाई के समान होता है। सूखी दियासलाई एक बार घिसने से ही तुरन्त जल जाती है, पर यदि वह गीली हो तो वह घिसते-घिसते टूट जाती है परन्तु जलती नहीं। श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार साधकों के तीन प्रकार—सात्त्विक, राजसिक, तामसिक होते हैं। साधना में प्रमुख अवरोधक विषय-बुद्धि, व्यर्थ का तर्क-वितर्क अभिमान है; जबकि प्रमुख सहायक सहनशीलता, निष्कपटता, सत्संग, विनय, त्याग, अध्यवसाय, व्याकुलता एवम् विवेक है। श्रीरामकृष्ण देव की दृष्टि ज्ञान,कर्म और भक्ति इन तीनों मार्गों के प्रति समन्वयवादी थी तथापि भक्ति मार्ग उन्हें अधिक अभीष्ट था। भक्ति भी उनके अनुसार सात्त्विक राजसिक एवम् तामासिक, तीन प्रकार की है।

स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त के अनुयायी होते हुए भी मोक्ष के लिए ज्ञान, भक्ति, कर्म और राजयोग, इन चार मार्गों का विधान किया है। प्रश्न उठता है कि अद्वैत वेदान्ती होते हुए भी उन्होंने भक्ति को क्यों महत्त्व दिया, क्योंकि भक्ति का अस्तित्त्व द्वैत के बिना संभव ही नहीं है। वस्तुतः स्वामीजी भी सिद्धान्ततः अद्वैत से सहमत हैं और साधन के रूप में ज्ञान की श्रेष्ठता को भी उन्होंने स्वीकार किया है। अतः विरोध का प्रारम्भ कहाँ से होता है, यह जानना आवश्यक है। मोक्ष दो प्रकार के फल से युक्त है—प्ररिहारात्मक, जिसमें आत्मा संकुचित, सीमित एवम् स्वार्थयुक्त दृष्टियों से मुक्त हो प्राकृतिक सीमाओं से दूर हो जाती है, एवम् विध्यात्मक जिसमें अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा ब्रह्मभाव युक्त हो स्वरूप में स्थित हो जाती है। इस विध्यात्मक फल के स्वरूप पर ही विभिन्न आचार्यों में मतभेद है एवम् इसी फल की दृष्टि से सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य एवं

सालोक्यादि भेद से मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है। इन्हीं भेदों को समक्ष रखकर विभिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् साधनों का विधान किया है। स्वामीजी मोक्ष के लिए जब विभिन्न मार्गो का विधान करते हैं, तो वहाँ उनका तात्पर्य मोक्ष के प्रथम स्वरूप से ही है। सीमित और स्वार्थयुक्त संसार का त्याग ही मुक्ति है, अत: जो भी मार्ग इस संकुचित सीमा से और देश, काल निमित्त के बन्धन से निकालने में समर्थ हो, वही योग है। इसी दृष्टि से स्वामीजी ने कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग एवम् ज्ञानयोग को साधन मार्गों के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि विवेकानन्द ने इन चार योगमार्गों का पृथक्-पृथक् विवरण दिया है तथापि उनके अनुसार इन सभी का लक्ष्य एक ही है अमरता की प्राप्ति। इन्हें चार पृथक् मार्गों के रूप में प्रस्तुत करने का कारण यह है कि मनुष्यों में अभिरूचि, मन:स्थिति, मनोवृत्ति एवम् क्षमता आदि की भिन्नता रहती है। पुन: इन मार्गों के पृथक्-पृथक् विवरण से यह धारणा नहीं बननी चाहिए कि ये मार्ग ही एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं। कुछ विशेष प्रकार के ढंगों की प्रधानता एवम् प्रमुखता के आधार पर इन्हें अलग-अलग नाम दिया जाता है। अद्वैत वेदान्त में निर्वृत्ति मार्ग को प्रधानता दी जाती है, किन्तु स्वामीजी ने आधुनिक युगानुकूल प्रवृत्तिमार्ग का विधान किया है। "संसार का त्याग करो", इसका रहस्य स्पष्ट करते हुए स्वामीजी ने कहा कि संसार में रहो परन्तु उसमें सीमित, संकुचित और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण से मत रहो। संसार में रहो पर संसार के होकर मत रहो।

रामकृष्ण और विवेकानद, दोनों के साधना के स्वरूपों में युगानुकूलता है। रामकृष्ण यदि साधना को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थिति में उतारने का व्यवहारिक उपदेश देते हैं, तो वहीं विवेकानन्द इस व्यवहारिकता को सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित करते हैं। रामकृष्ण में यदि भक्तिभाव प्रधान है, तो विवेकानन्द में भक्ति-समन्वित कर्म प्रधान है। किन्तु यह प्रधानता अन्य मार्गों के प्रति न तो विरोध प्रकट करती है और न ही उनके अपने सिद्धान्तों से विसंगति। यह वस्तुत: आपस में सम्पूरक होते हुए एक ऐसी समग्रता का निर्माण करते हैं जिसमें प्रत्येक अभिरुचि और मन:स्थिति के व्यक्ति का स्थान हो।

———

अष्टम परिच्छेद

रामकृष्ण-विवेकानन्द दर्शन के युगीन सन्दर्भ और अद्वैत वेदान्त

इस शोध प्रबन्ध के पिछले परिच्छेदों में रामकृष्ण-विवेकानन्द दर्शन की मानसिकता और मान्यताओं के विश्लेषण और आँकलन का यथा मति प्रयास किया गया है। दोनों का ही चिन्तन भारतवर्ष की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों और उपलब्धियों का समाहार है, विशेष रूप से अद्वैत वेदान्त दर्शन की प्रवृत्तियों का इस बात को ध्यान में रखकर श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन का अनुशीलन वेदान्त की शास्त्रीय मान्यताओं और प्रतिबद्धताओं के सन्दर्भ में किया गया है।

यह सत्य है कि श्री ठाकुर और स्वामीजी मूलतः और प्रमुखतः आध्यात्मिक क्षेत्र की विभूतियाँ हैं। किन्तु उनकी उपस्थिति और उनके संस्पर्श से जीवन का प्रत्येक क्षेत्र परिमार्जित और कृतार्थ हुआ है। दोनों ही महामना श्रीकृष्ण के द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग के आदर्श को अपने जीवन में उतारने वाले महापुरुष हैं। इसलिए श्री ठाकुर और स्वामीजी ने अपनी जीवनशैली और अपने उपदेशों और व्याख्यानों से व्यक्ति और समाज का चरित्र निर्माण और दिशा निर्देश किया। स्वामीजी ने उन्नीसवीं शताब्दी के भारत को मानो झकझोर कर उसकी युग व्यापिनी तन्द्रा से उठाया तथा उसके सशंकित और भयभीत हृदय ने आत्मविश्वास, आत्माभिमान और दायित्व बोध की अग्नि प्रज्वलित की। उन्होंने विश्व को एकता और अभय का मन्त्र दिया, और भारत की जर्जर अस्मिता को दिव्य चेतना के अक्षय स्रोत से सम्बद्ध किया।

श्री ठाकुर और स्वामीजी के समस्त चिन्तन का आधार और उपजीव्य उपनिषद् और वेदान्त दर्शन ही है किन्तु युग की परिस्थिति और आवश्यकताओं को देखते हुए उन्होंने वेदान्त की ऐसी व्याख्या की, कि वह विद्वानों और पण्डितों की शास्त्र गोष्ठियों से निकलकर लोगों के बीच आ खड़ा हुआ और राष्ट्र के हृदय का स्पन्दन बन गया। श्री ठाकुर और स्वामीजी ने पहली बार ब्रह्मात्मैक्य की रहस्यानुभूति अशिक्षित और असमर्थ जनता को समझाने का प्रयत्न किया। किस प्रकार उसके संस्पर्श से आत्मा की दिव्यता और प्रभाव प्रकट हो सकता है। यह बतलाने का प्रयत्न किया। स्वामीजी के इस दर्शन को 'व्यावहारिक वेदान्त' की संज्ञा दी गई है।

स्पष्ट है कि स्वामीजी ने इसे युगानुकूल बनाने के लिए इसकी व्याख्या अत्यन्त सुबोध और युगानुकूल रूप में की होगी। यह सहज अनुमेय है कि अपनी समस्त दुर्बोध शास्त्रीयता और तर्कजाल के साथ यह किसी जर्जर और पराधीन राष्ट्र के लिए उपयोगी नहीं बन सकता था। इसीलिए स्वामी जी ने इसके मूल तत्त्व को बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत किया। स्वाभाविक था कि इस स्थिति में उन्होंने वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों, उनके सिद्धान्त भेद और शास्त्रीय जटिलताओं की कोई विशेष आवश्यकता नहीं समझी।

इस परिच्छेद में युगीन सन्दर्भों की समीक्षा करते हुए श्री ठाकुर और स्वामीजी के द्वारा की गई वेदान्त की व्याख्या पर विचार किया जा रहा है तथा उनके चिन्तन में वेदान्त-विचारधारा की भूमिका तथा महत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। सर्वप्रथम हम तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करें।

गुप्त-साम्राज्य के बाद से ही दार्शनिक चिन्तन एवं मौलिक साहित्य के सृजन में शिथिलता और गिरावट के चिह्न प्रकट होने लगे। सहस्त्रों वर्षों की कर्मण्यता के बाद भारतीय संस्कृति की प्राण-शक्ति मन्द हो गई। ग्यारहवीं शताब्दी में देश पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। यह आक्रमण अन्य आक्रमणों की अपेक्षा प्रबलतर और क्रूर था। ये आक्रान्ता राजनीतिक दृष्टि से पराधीन करने के साथ-साथ भारतवासियों के धर्म परिवर्तन का भी प्रबल प्रयास करते थे। इस काल में धार्मिक आक्रमण से सुरक्षा के दो प्रकार के प्रयास हुए। प्रथम, यह कि सुरक्षा के लिए खाइयाँ खोदी जाने लगी और दूसरे यह कि समान सिद्धान्तों के आधार पर कबीर आदि सन्तों द्वारा दोनों धर्मों में समन्वय स्थापित करने के प्रयास हुए। सती-प्रथा, खान-पान के बन्धन, जाति के कड़े विभाग और छूआछूत आदि के बाड़े भारतीय धर्म की सुरक्षा के लिए खड़े किये गए सदियों तक भारत धर्म इस्लाम के प्रभाव को रोकने की चेष्टा करता रहा। विजित और विजेता के बीच घृणा और द्वेष भी पनपता रहा। शासित वर्ग ने मुसलमानों को म्लेच्छ कहा और मुसलमानों ने हिन्दुओं को काफिर और बुतपरस्त। विजित होने के कारण हिन्दुओं में निर्बलता के भाव बढ़ रहे थे।

हिन्दुओं ने ईश्वर को 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा या कर्त्तुं' समर्थ मान लिया था जो कुछ होगा वह ईश्वर की दया से होगा। इस निष्क्रिय मानसिकता ने उद्यम और आत्मगौरव की रही सही भावना को भी नष्ट कर दिया। ईश्वर की मर्यादा बढ़ती गई और जीव की मर्यादा घटती गई। वेदों में जीवों को 'अमृतस्य पुत्राः' कहकर सम्बोधत किया गया था, किन्तु अब जीव को 'पापोऽहं पाप कर्माऽहं पापात्मा, पापसम्भवः' माना जाने लगा। उपनिषदों ने कहा था 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' और अब 'निर्बल के बलराम' की पुकार होने लगी। इन भावनाओं ने मनुष्य को इतना पराधीन बना दिया कि सैकड़ों मन्दिर टूट गए और वह ईश्वर के भरोसे खड़ा देखता रहा। इन्हीं भावनाओं ने धर्म को उसकी मूलभावना से भी गिरा दिया। पहले जहाँ मुक्ति के विषय में 'नाविरतो दुश्चरितात्माऽशान्तो नासमाहितः' की प्रतिज्ञा थी—अर्थात् अविरत, दुश्चरित, अशान्त को मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती—वहीं अब एक बार नाम उच्चारण कर लेने मात्र से और स्नान कर लेने से ही मुक्ति मानी जाने लगी। इसके अतिरिक्त, मुस्लिम धर्म के आक्रमण के लिए धर्म के चारों ओर जो बाड़ लगायी गई थी, धर्म उसके काँटो में ही उलझ कर रह गया। भोजन कहाँ बैठकर करना चाहिए अथवा कहाँ नहीं, हाथ कितनी बार धोने चाहिए आदि निरर्थक वाह्याचार धार्मिक चर्चा के विषय बन गए। चिन्तन की शक्ति का अपव्यय होने लगा। धर्म के बलवान प्रवाह को बाह्याचारों से घेरकर कीचड़ पैदाकर दिया गया। हिन्दु धर्म में पहले से ही अनेक वर्ग थे। वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों में से केवल वैष्णवों के ही बीस सम्प्रदाय थे, शैवों के सात और शाक्तों के चौदह बड़े भेद थे। इनके पारस्परिक वैमनस्य में रही-सही शक्ति क्षीण हो चली। सिद्धान्त और व्यवहार, आदर्श और आचरण के बीच खाई बढ़ती चली गई। बातें तो मुक्ति के ऊँचे आदर्शों की होती थी परन्तु आचरण उसके विपरीत थे। उन्नीसवीं सदी में जब यूरोपवासियों का भारत में आगमन हुआ तो वे अपने साथ विज्ञान को भी लाए। विज्ञान की चोट से मूढ़ और अन्धविश्वासी भारतीय तन्द्रा से जाग उठा। इसी जागरण से राजा राममोहन राय आदि आधुनिक विचारक पैदा हुए जिन्होंने धर्म के शुद्ध सलिल पर से सदियों से जमी हुई रूढ़ियों और बाह्याचारों की काई को हटाया, और उसे विज्ञान, युक्ति और देश की ज्वलन्त समस्याओं के समक्ष खड़ा करने में समर्थ बताया। अगले पृष्ठों में इन्हीं धर्मसुधारकों के विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्लासी (1757 ई०) की विजय ने अंग्रेजों के लिए सुख समृद्धि के द्वार खोल दिए। अंग्रेजों के लड़खड़ाते कदमों में इस युद्ध की विजय ने शक्ति का संचार किया। जो थोड़ी बहुत न्यूनता रही, वह बक्सर युद्ध (1764 ई०) की विजय से पूर्ण हो गई। इस प्रकार पिछली डेढ़ शताब्दी से जिस स्वप्न की पूर्ति का प्रयत्न अंग्रेजों द्वारा किया जा रहा था, उसको बंगाल के इन दो युद्धों में विजय प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने साकार कर लिया। एक तरफ तो भारतीय क्षितिज पर राजनीतिक पराधीनता के बादल मँडरा रहे थे और दूसरी तरफ बंगाल का जनमानस इनके प्रति उपेक्षा का भाव अपना रहा था। समस्त बंगाल उस समय भयंकर रुढ़िवादिता एवं सामाजिक कुरीतियों से ग्रस्त था। धर्म के विश्वस्त व्याख्याता के रूप में माना जाने वाला उच्च वर्ग इस समय स्वार्थपरता के वशीभूत होकर धर्म एवं ईश्वरादेश के नाम पर नृशंस और कुरीतिपूर्ण सामाजिक प्रथाओं को प्रोत्साहन दे रहा था। प्रयाग, गंगासागर एवं जगन्नाथपुरी में स्वर्ग-प्राप्ति के लिए आत्मबलि देना सामान्य बात हो गई थी। यदि किसी व्यक्ति का रोग असाध्य हो जाता तो उसे गंगा में आत्मोसर्ग करने के लिए विवश कर दिया जाता था। छुआछूत की भावना भी प्रचण्ड रूप में फैली हुई थी। मूर्तिपूजा, जो कभी एक बहिरंग साधन के रूप में स्वीकृत की गई थी, इस समय साध्य का रूप ले चुकी थी। धर्म के इस वाह्य एवं आडम्बर भरे स्वरूप से मनुष्य उसी प्रकार चिपटा हुआ था जिस प्रकार कोई बालक माता के शव से चिपटा हो।[1]

इसके अतिरिक्त समाज का एक वर्ग और था जिस पर समाज का दबाव एवं अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था, और वह था—स्त्री-वर्ग। कुछ समय पूर्व बंगाली राजाओं ने, जो कि प्रायः ब्राह्मण होते थे, सारे ब्राह्मण-वर्ग को कुलीन और अकुलीन इन दो वर्गों में विभाजित कर दिया था। कुलीन वर्गीय होने की भावना ने उन्हें भोग-विलास में लिप्त रखा जिससे स्वभावतः बहु विवाह-प्रथा का प्रचलन हुआ। बहु-विवाह के प्रचलन के साथ-साथ स्त्रियों पर अत्याचार करने के मार्ग भी खुल गए। अनेक स्त्रियाँ जिनका विवाह कुलीन वर्ग में होता था, व्यवहार में वैधव्य

---

1. Sitanath Shastri—History of Brahmo Samaj—P. 22.

जीवन ही व्यतीत करती थी। कारुणिक और हृदय विदारक अवस्था तो वह थी जिसमें विधवाओं को सती होने के लिए विवश किया जाता था।[1] जो इस आत्म 'बलिदान' से घबरा जाती थीं, वे घृणित एवं नारकीय तरीके से जीवन व्यतीत करती थीं। पति-मृत्यु के दिन से ही स्त्री अन्धकार एवं नाश के गर्त में ढकेल दी जाती थी जिससे उसे मृत्यु के पश्चात् ही छुटकारा मिलता था।

श्रीरामकृष्ण-परमहंस से पूर्व बंगाल में ब्रह्म-समाजी नेता समाज-सुधार और धर्म-सुधार के प्रयत्न कर चुके थे। ब्रह्म-समाज के संस्थापक राजा राम मोहन राय ने सर्वप्रथम विश्व के समस्त धर्मों की समानता पर बल दिया। मोनियर विलियम्स के अनुसार ''राजा राम मोहन राय विश्व में तुलनात्मक धर्म-विज्ञान के पहले अनुसंधाता थे। इससे पूर्व किसी विचारक या सुधारक ने विश्व के प्रमुख धर्मो हिन्दु, मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई आदि का तुलनात्मक अध्ययन कर विश्व धर्म की सार्वभौमिकता पर बल नहीं दिया था।[2] इसके अतिरिक्त, राजा राममोहनराय ने मूर्ति-पूजा का भी प्रबल विरोध किया। इसके लिए उन्होने श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्र आदि ग्रन्थों की सहायता ली। मूर्ति-पूजा के विरोध में मुख्य तर्क देते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि वेदों में मूर्ति-पूजा का विधान है परन्तु यह विधान केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए है, जो ईश्वर का ध्यान करने में असमर्थ है।[3] राजाराम मोहन राय द्वारा किए गए सामाजिक सुधारों में सती-प्रथा का उन्मूलन सबसे मुख्य कार्य था। 1811 ई० में जब उनके भाई की पत्नी को समाज ने सती हो जाने के लिए विवश किया तभी वे इस कुप्रथा के उन्मूलन के लिए कृत-संकल्प हो गए थे। उनका यह संकल्प 1824 ई० में फलीभूत हुआ जब लार्ड विलियम बैन्टिंक ने सती-प्रथा को गैर कानूनी घोषित करने वाला बिल स्वीकृत किया।

दार्शनिक मान्यताओं में राजा राममोहन राय अधिक स्पष्ट नहीं हैं। यद्यपि उनको पढ़ने के बाद प्रतीत होता है कि वे अपनी मान्यताओं की प्रतिपादन अद्वैत-वेदान्त के अनुसार करना चाहते हैं, तथापि उनकी मान्तयाएँ वैष्णव आचार्यों के अधिक समीप हैं। इसी कारण उनकी मान्यताओं में

1. Sitanath Shastri—History of Brahmo Samaj-P. 22.
2. Vishwa Nath Narvane—Modern Indian Thought.
3. A Defence of Hindu Theism.

कहीं-कहीं असंगति के भी दर्शन होते हैं। यों भी उनकी दार्शनिक मान्यताओं के प्रतिपादन में कोई नवीनता नहीं है।[1]

अन्य ब्रह्म-समाजी नेताओं में देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन का नाम उल्लेखनीय है। भारतीय चिन्तन में देवेन्द्रनाथ ठाकुर का नवीन और साहसिक प्रयास यह था कि उन्होंने वेदों की अपौरुषेयता और निर्दुष्टता को अस्वीकृत किया, यद्यपि उनकी यह धारणा वेदों के विषय में उनकी अनभिज्ञता को भी प्रकट करती थी।[2] केशवचन्द्र सेन के विचार ईसाई धर्म से प्रभावित थे। यद्यपि उन्होंने ईसा को ईश्वरावतार के रूप में स्वीकृत नहीं किया परन्तु एक श्रद्धेय के प्रति जितने भी उदात्त विचार प्रकट किए जा सकते थे, वे उन्होंने ईसा के प्रति व्यक्त किए। उन्होंने अपने भाषण में भारतवासियों को उद्बोधित करते हुए कहा था—"सत्य, न्याय एवं मानव कल्याण के लिए ईसा ने अपने जीवन का बलिदान कर दिया। ईसा के सिद्धान्तों का अनुसरण करने से ही तुम्हारे देश 'भारत' एवं मानव जाति का कल्याण हो सकता है।[3] केशवचन्द्र सेन ने भी राजाराम मोहन राय के समान धर्म के विश्वजनीन एवं सार्वभौमिक स्वरूप का प्रतिष्ठापन किया। श्री सेन ने विज्ञान और धर्म में समन्वय स्थापित करते हुए कहा, "ईश्वर के सगुण स्वरूप में विज्ञान और धर्म का समन्वय होता है।" श्री सेन भी वेदों की आपौरुषेयता और निर्दुष्टता को अस्वीकृत किया। श्री सेन के अनुसार ईश्वर द्वारा सत्य का सबकी आत्मा में प्रकाशन हो सकता है परन्तु यह निश्चित नहीं है कि वे सत्य उसी रूप में मान्य और ग्राह्य हों जैसा उस विशिष्ट व्यक्ति के लिए है जिसके अन्तःकरण में सत्य का प्रकाश हुआ है।[4] श्रुतियों की अपेक्षा अनुभव को महत्त्व देते हुए वे कहते हैं कि जब तक कोई सत्य, चाहें वह कितना भी निर्दुष्ट हो हमारे द्वारा अनुभूत नहीं कर लिया जाता, तब तक हमारे लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है।[5] श्री सेन ने भी मूर्तिपूजा का खण्डन किया। उन्होंने मूर्तिपूजा की नयी व्याख्या की—"मनुष्य के जीवन का अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य ईश्वर ही है। जीव को

---

1. English Works of Raja Ram Mohan Roy, Vol III, P–68.
2. He had no acquaintence with these scriptures.
   —S. N Tatva Bhushan—Philosophy of Brahmoism, P–8
3. Keshab Chandra Sen—Lectures in India, P–34.
4. Dr. P. S. Basu—Life and Works of Brahmananda Keshav, P. 284.
5. Ibid. P. 33.

अनन्यता से ईश्वर में निष्ठा और प्रेम प्रस्थापित करना चाहिए। ईश्वर के अतिरिक्त यदि हम अन्य जागतिक पदार्थों में तत्पर रहते हैं तो यह भी एक प्रकार की मूर्तिपूजा है।[1] मूर्तिपूजा का तात्पर्य यही नहीं है कि मनुष्य पाषाण एवं वृक्षादि की पूजा करे। कामिनी, कंचन एवं कीर्ति के प्रति आसक्ति भी मूर्ति-पूजा ही है।" दार्शनिक मान्यताओं के प्रतिपादन में श्री सेन ने कोई नवीनता नहीं बताई।

ब्राह्म-नेता प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के यथार्थ स्वरूप का व्याख्यान न कर सके। उन्होंने प्राचीन मान्यताओं की नींव पर एक नवीन ब्राह्म धर्म का प्रासाद तो खड़ा किया परन्तु रूढ़ियों की काई से आच्छादित हो जाने वाले धर्म के वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन का प्रयास उन्होंने नहीं किया। उनका दृष्टिकोण प्राचीन मान्यताओं के प्रति रहस्योद्घाटनात्मक न होकर खण्डनात्मक अधिक था। उन्होंने मान्यताओं को काँट-छाँट कर अपने अनुकूल तो बना लिया परन्तु मान्यताओं के अनुकूल तर्कों का प्रतिपादन वे न कर पाए। साकार-निराकार की उलझन क्या है? सगुण-निर्गुण का क्या रहस्य है? ईश्वर के अनन्तत्त्व के साथ अवतारवाद का सामञ्जस्य कैसे हो सकता है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का समन्वय कैसे हो सकता है? इत्यादि अनेक समस्याएँ इस समय विद्यमान थीं जिन्हें समाधान रूपी पारस के स्पर्श की आवश्यकता थी। जनमानस ने प्राचीन मान्यताओं के प्रति आस्था और निष्ठा की भावना को शंका के गर्त में गिरा दिया था। आध्यात्मिक मान्यताओं के प्रति सन्देह-युक्त दृष्टिकोण रखने वाले नवयुवक नास्तिकता की ओर आकृष्ट हो रहे थे। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी "जिसके एक ही शरीर में शंकर की प्रखर बुद्धि हो और चैतन्य का अद्भुत उदार एवं असीम हृदय भी, जो प्रत्येक सम्प्रदाय के भीतर एक ही भावना, एक ही ईश्वर को कार्यशील देख सके—जिसका विशाल और प्रखर मस्तिष्क ऐसे विचारों की अवधारणा में समर्थ हो जो सभी विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित कर एक सार्वजनीन धर्म की प्रतिष्ठा कर सके।" इस समय आवश्यकता थी एक ऐसे मानव हंस की जो नीर-क्षीर-विवेचन कर श्रुति-प्रतिपादित सत्य के धवल दुग्ध को रुढ़िमिश्रित जल से पृथक् कर सके, जिसकी आकृति की दिव्यता में श्रुतियों के समस्त सत्य जाज्वल्यमान हो रहें हों और जिसकी

1. Dr. P. S. Basu—Life and Works of Brahmananda Keshav, P. 182

वाणी का एक-एक शब्द अध्यात्म-सागर की गहराई में से निःसृत हुआ हो। श्रीरामकृष्ण परमहंस का आविर्भाव ऐसे ही संकटपूर्ण काल में हुआ था। प्राचीन मान्यताओं का पुनरुत्थान वस्तुतः इन्हीं के आविर्भाव के साथ होता है। भारतीय धार्मिक आन्दोलनों में प्राचीन मान्यताओं के प्रति इतना अधिक निष्ठावान् और भारत की दार्शनिक आत्मा का सही रूप से प्रतिनिधित्व करने वाला अन्य कोई भी आन्दोलन नहीं था जितना रामकृष्ण-परमहंस और उनके अनुयायियों के विचारों में दृष्टिभूत होता है।

यह एक रुचिकर प्रश्न हो सकता है कि आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और दर्शन की क्या प्रासंगिकता हो सकती है? सामान्यतः अपने सभी पहलुओं में उनका जीवन एक आधुनिक व्यक्ति के जीवन से भिन्न प्रतीत होता है। यह भिन्नता चाहे वेश भूषा की हो, चाहे आधुनिक रहन-सहन की हो। आधुनिक व्यक्ति प्राप्ति की कामना रखता है जबकि रामकृष्ण त्याग का उपदेश देते हैं। उन्होंने कामिनी कांचन के उस त्याग की शिक्षा दी जिसे आधुनिक व्यक्ति प्राप्त करने की पूरी कामना करता है। किन्तु यहीं यह ध्यातव्य है कि कामिनी से उनका आशय नारी मात्र से न होकर विकृत कामभाब से था। उनका आशय था कि नारी को भोग्य वस्तु के रूप में न देखा जाय। उन्हें पूज्य होना चाहिए—नारी परायणता के अर्थ में नहीं वरन् मातृत्त्व के दिव्यभाव के रूप में। इसी अर्थ में उन्होंने नारी के प्रति आसक्ति को त्याग करने का उपदेश दिया।

आधुनिक व्यक्ति इन्द्रिय जगत् की ओर भागता है किन्तु रामकृष्ण इस इन्द्रिय जगत् से पूर्णतया विमुख होकर परमसत्ता की अनुभूति हेतु इन्द्रियातीत के अन्वेषण में पूर्णतया रत रहे। आधुनिक व्यक्ति अधिक से अधिक जीना चाहता है। किन्तु रामकृष्ण के अन्दर ऐसी भावना भी नहीं थी। उन्होंने जनसामान्य से पृथक् एक गैर परम्परागत जीवन जिया।

किन्तु एक ऐसा पक्ष है जिसके सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण देव अति आधुनिक थे और वह पक्ष है ईश्वर के प्रति उनकी दृष्टि। यहाँ वह किसी भी आधुनिक व्यक्ति से कहीं ज्यादा आधुनिक हैं। यदि हम ईश्वर ज्ञान के प्रति थोड़ा भी बोध रखते हों तो हम सामान्यतया या तो आध्यात्मिक ग्रन्थों

पर निर्भर रहते हैं अथवा दार्शनिक तर्कों पर। किन्तु रामकृष्ण इनमें से किसी पर भी निर्भर नहीं थे क्योंकि इनमें से कोई भी अर्थात् न तो पुस्तक पर आधारित अनुमान और न ही इन्द्रियानुभव पर आधारित अनुमान ईश्वर के अस्तित्त्व को निश्चयात्मक रूप से सिद्ध कर सकते हैं। अधिकांश दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर का ज्ञान केवल तर्कों द्वारा संभव नहीं है। तर्क वस्तुत: निर्णायक रूप से ईश्वर के अस्तित्त्व को न तो सिद्ध ही कर सकते हैं और न ही असिद्ध। और आध्यात्मिक ग्रन्थ दैवी प्रकाशना के शब्द होने का दावा करते हैं किन्तु तो भी वे हमें ईश्वरानुभूति प्रदान नहीं करते।

अत: श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं कि "ईश्वर के अस्तित्त्व का आखिर क्या प्रमाण है"? उनका उत्तर यह है कि प्रत्यक्षानुभूति है और यही ज्ञान का वह प्राथमिक स्रोत है जिस पर ज्ञान के अन्य समस्त साधन अवलम्बित हैं। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उन्होंने विचार किया "यदि ईश्वर सत्य है, यदि माँ काली की अवधारणा सत्य है तब निश्चय ही मुझे उसे देखना चाहिए।"; और वास्तव में उन्होंने ईश्वरानुभूति की—न केवल किसी विधि विशेष से, न केवल किसी पक्ष विशेष से वरन् उन्होंने प्राय: विश्व के सभी महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक अध्यायों को अपने बारह वर्ष की अवधि में पूरा किया।

श्रीरामकृष्ण देव का जीवन वास्तविक अनुभव के द्वारा मूलभूत आध्यात्मिक सत्यों को उद्घाटित करता है। यही उनके जीवन का उद्देश्य भी था।

प्रश्न उठता है कि वे मूलभूत आध्यात्मिक सत्य क्या है? प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा उन्होंने यह उद्घोषणा की कि ईश्वर वास्तविक है। इस बहुविध जगत् का सारभूत ईश्वर ही है जो अस्तित्त्व की पूर्णता है एवं यह वास्तविकता ही आदर्श है। यह अपूर्ण विश्व अपने अधिष्ठान रूप में पूर्ण है। प्रत्येक क्षण किसी भी रूपाकार के पीछे स्वयं ज्योतित विशुद्ध चेतना ही है। उनकी इस उद्घोषणा ने मानवज्ञान को नवीनीकृत किया है। एवं इन सभी विचारों, सिद्धान्तों के लिए चुनौती है जो यह घोषित करते हैं कि परमसत् कोई भौतिकतत्त्व है अथवा कोई उर्जा मात्र है अथवा संकल्प

मात्र है अथवा कोई अन्धी जीवनी शक्ति मात्र है। श्रीरामकृष्ण का प्रत्युत्तर है—'नहीं'। अस्तित्त्व का प्रत्येक प्रकार चेतना की प्रागपेक्षा करता है। स्वयं सत् को निश्चय ही स्वयं ज्योतित भी होना चाहिए और स्वयं ज्योतित को निश्चय ही स्वयं सत् भी होना चाहिए। परम सत् केवल परम्चेतना ही हो सकता है।

पुनः वह कहते हैं कि "ईश्वरानुभूति की जा सकती है।" वह आधारभूत सत्ता वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उसकी अन्तरात्मा के रूप में प्रकाशित रहती है। आत्मानुभूति के द्वारा ही परमात्मा की अनुभूति होती है। ईश्वर की अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति द्वारा संभव है और यह ईश्वरानुभूति ही मानवजीवन का लक्ष्य है जो आधुनिक युग में भी सर्वोच्च नियामक तत्त्व के रूप में विद्यमान है।

मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है? क्या मनुष्य जीवन का लक्ष्य असुरक्षाओं के मध्य सुरक्षा की तलाश ही है? क्या जन्म, उत्कर्ष, अपकर्ष और मृत्यु का यह परिवर्तन ही सम्पूर्ण जीवन है? क्या मानव के पास क्षणिक सुखों और प्राप्तियों के पीछे भागने के अतिरिक्त कोई दूसरा आदर्श नहीं है? श्रीरामकृष्णदेव के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य सर्वोच्च आदर्श की प्राप्ति है और वह सर्वोच्च आदर्श है ईश्वर, जिससे अधिक सर्वोच्च की अवधारणा नहीं की जा सकती।

जब मानव मन इन्द्रिय जगत् में सुख के पीछे विचरता है वहाँ रामकृष्ण का कहना है कि हमारे अन्तरतम में पूर्ण स्वतन्त्रता, विशुद्ध आनन्द, नित्य जीवन आदि का भाव पूर्णरूपेण संतुष्ट हो सकता है—ईश्वरानुभूति संभव है। ईश्वरानुभूति स्वयं अमरता है। हम वस्तुतः अव्यक्त रूप में 'वही' हैं और वही होने के कारण ही जीवन निरन्तर ऊपर उठता चला जाता है। यह सिद्धान्त कि मनुष्य पूर्णता की ओर अग्रसर है वह पूर्णता जिसका कोई अन्त नहीं है इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य अव्यक्त रूप से पूर्ण ही है। यह विकास निरर्थक हो जाता है यदि हम यह कहें कि भौतिक अस्तित्व ही जीवन का आधार है, यदि इस जीवन की जड़े भौतिक द्रव्य में नहीं है तो यह आध्यात्मिक चेतना के रूप में कैसे पल्लवित हो सकती है? मूलभूत सत् स्वयं पूर्णता है, वही हमारा

प्रारब्ध बिन्दु है और वहीं वापस पहुँचना हमारा लक्ष्य है।

श्रीरामकृष्ण देव ने मानव मस्तिष्क को इहलौकिकतावाद से आध्यात्मिक आदर्शवाद की ओर उन्मुख करते हुए आधुनिक जीवन को अर्थवत्ता प्रदान की। न केवल इतना वरन् आध्यात्मिक आदर्शवाद हमारे भौतिक अस्तित्व की सुरक्षा और संरक्षा हेतु भी अनिवार्य है। मनुष्य की भौतिक उन्नति काफी कुछ उसके नैतिक दशाओं पर निर्भर करती है। यदि उसका नैतिक जीवन उन्नत नहीं है तो भौतिक समृद्धि भी स्थिर नहीं रह सकती। सभी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के पीछे व्यक्ति और राष्ट्र की आन्तरिक एकता और सामंजस्य की कमी होती है। श्रीरामकृष्ण परमहंस आध्यात्मिक आदर्शवाद को सर्वोच्च लक्ष्य घोषित करते हुए न केवल इस जीवन को अर्थवाद बनाते हैं वरन् इस भौतिक अस्तित्व को भी सम्यक् अर्थ प्रदान करते हैं क्योंकि नैतिक जीवन की एकमात्र सुरक्षित आधारशिला मानव आत्माओं की आध्यात्मिक एकता ही है। कोई व्यक्ति तब तक सच्चे अर्थों में निःस्वार्थ नहीं हो सकता, जीव मात्र के प्रति प्रेम नहीं कर सकता जब तक वह अपने साथियों के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध का अनुभव नहीं करता। हमारा नैतिक जीवन विचारों एवं आदर्शों पर निर्भर करता है जिसका हम अनुसरण करते हैं। यदि हमारे जीवन का आदर्श इस इन्द्रिय जगत् में सुखी और समृद्ध होना ही है तो स्वाभाविक रूप से हमारा ज्ञान, दर्शन, नैतिकता, सौन्दर्यबोध आदि सभी इनके अधीन ही रहेंगे। मनुष्य में सुखी और समृद्ध होने की एक दृढ़ इच्छा पायी जाती है। वह स्वयं से पूछता है "ज्ञान की अच्छाई क्या है? वैज्ञानिक दृष्टि की सार्थकता क्या है? एवं नीति का मूल क्या है यदि वे हमें जीवन को सुखी, समृद्ध और ऐश्वर्यपूर्ण तरीके से जीने में मदद नहीं करते? परिणामतः समस्त मानवीय ज्ञान, नैतिकता, सौन्दर्यमीमांसा आदि भौतिक अस्तित्त्व के अधीन हो जाएगे, मानवीय लोलुपता पर आश्रित हो जाएंगे और जब सांस्कृतिक जीवन के ये विभिन्न तत्त्व मनुष्य की लोलुपता पर आश्रित हो जाते हैं तो स्वाभाविक रूप से अवनति को प्राप्त हो जाते हैं और जब जीवन में नैतिकता का पतन होता है तो ये अन्य पक्ष अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते हैं।

अतः श्रीरामकृष्ण देव के आध्यात्मिक आदर्शवाद ने जीवन को अर्थवान बनाया है और

जीवन के लिए भी एक सुरक्षित नींव तैयार की है।

प्राय: जनसाधारण में यह भावना विद्यमान है कि वेदान्त का सामान्य मनुष्य के जीवन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। वह या तो अरण्यों और गिरि-गुहाओं में विचरण करने वाले साधु-सन्यासियों के लिए है अथवा केवल उन बुद्धिवादियों के लिए है जिन्हें दार्शनिक परिचर्चाओं में ही आनन्द आता है। स्वामी जी के दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने वेदान्त-सुमन-सुरभि को साधु-सन्यासियों और बुद्धिवादियों की चहारदीवारियों से निकालकर जन-जन तक पहुँचा दिया। वेदान्त-सिद्धान्तों को आसमान से जमीन पर उतार देने वाले आधुनिक युग के वे प्रथम देवदूत थे। आदर्श और व्यवहार के, सिद्धान्त और आचरण के बीच की दीवार को तोड़ देने वाले वे प्रथम कर्मयोगी थे। उन्होंने यह उद्घोष किया कि "जो दर्शन मनुष्य के दैनिक जीवन की समस्याओं को हल नहीं करता और जो धर्म मनुष्य की सामान्य उलझनों को भी नहीं सुलझा सकता, ऐसा दर्शन और धर्म आज के युग के लिए अनुपयोगी और निरर्थक है।" आज आवश्यकता सिद्धान्तों को व्यवहार में उतार लेने की है, अध्यात्म और व्यवहार के बीच के भेद को दूर करने की है।[1] "यदि उसको कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता तो बुद्धिविलास के अतिरिक्त उसका कोई मूल्य नहीं है।"[2] आज के युग में बौद्धिक परिचर्चाओं को अनावश्यक बतलाते हुए स्वामीजी ने कहा—"ये न्याय के कूट विचार, दार्शनिक मीमांसाएँ, ये सब मतवाद और क्रियाकाण्ड इन सभी ने किसी समय भले ही समाज का हित किया हो किन्तु आइए हम आज से, इसी क्षण से धर्म को सरल और सहज बनाने की चेष्टा करे।[3]" "आज वेदान्त को धर्म के समान मनुष्य-जीवन की समस्याओं को सुलझाना पड़ेगा, उसे व्यावहारिक बनाना पड़ेगा।"[4] व्यावहारिक बनाने के लिए वेदान्त को साधु-सन्यासियों के और कुछ मतवादियों के हाथों में ही सिमट कर नहीं रह जाना होगा, उसे साधारण मनुष्य के जीवन से भी सम्बद्ध होना होगा। "वेदान्त के ये सब महान् तत्त्व केवल अरण्य में तथा गिरि गुहाओं में आबद्ध नहीं रहेंगे। विचारालयों में, प्रार्थना-मंदिरों में, दरिद्रों

---

1. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol II, P–291.
2. I bid, P–291.
3. I bid, P–358.
4. Ibid, P–291.

की कुटी में, मत्स्यजीवियों के गृह में, छात्रों के अध्ययन स्थलों में सर्वत्र ही इन तत्त्वों की आलोचना होगी और ये काम में लाए जायेंगे।[1] प्रत्येक व्यक्ति में, चाहे वह कोई भी काम करे और चाहे वह किसी अवस्था में हो, वेदान्त पर विश्वास हो जाना आवश्यक है।[2] वेदान्त के आदर्शों का साधारण जन भी किस प्रकार अनुसरण कर सकते हैं, इनका सरल उपाय बतलाते हुए स्वामी जी कहते हैं कि "तुम निष्कपट भाव से जो कुछ करते हो, तुम्हारे लिए वही अच्छा है। अत्यन्त छोटा कर्म भी यदि निष्कपट भाव से किया जाय तो उससे अद्भुत फल की प्राप्ति होगी।"[3] मत्स्यजीवी भी यदि अपने को आत्मा कहकर चिन्तन करेगा तो वह एक उत्तम मत्स्यजीवी होगा । विद्यार्थी और वकील अपने को आत्मा समझकर चिन्तन करें तो वे अपने कार्य उत्तम रीतियों से कर सकेंगे।[4] स्वामी जी कहते हैं—"वेदान्त किसी भी ऐसे आदर्श का उपदेश नहीं देता तो दुर्बोध और अव्यावहारिक हो इसलिए वेदान्त इतना सर्वजनसुलभ और सर्वजनग्राह्य है।"[5] "वेदान्त के नीतिशास्त्र का आधारभूत तत्त्व आत्मा है। इस आत्मतत्त्व को प्रत्येक व्यक्ति इस जीवन में प्रत्यक्ष कर सकता है। इस विषय में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है, जाति और धर्म का भेद नहीं है। बाल, वृद्ध, जाति, धर्म आदि के भेद के बिना ही इस सत्य की उपलब्धि की जा सकती है।[6]" "क्योंकि वेदान्त का यह सन्देश है कि सत्य का अनुभव और साक्षात्कार नहीं करना है, वह सदा से अनुभूत और प्राप्त तत्त्व है।[7]" वेदान्त का आदर्श सब वस्तुओं से अधिक स्पष्ट है[8] क्योंकि आत्मा के द्वारा ही सब वस्तुओं का ज्ञान होना होता है। किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने से पहले 'मैं' का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् उस वस्तु का। अतः यह सिद्ध है कि आत्मा के द्वारा ही वस्तु-ज्ञान होता है। इसलिए आत्मा को अज्ञात

---

1. These Conceptions of Vedanta must come out, must remain not only in the forest, not only in the cave, but they must come out to work at the bar and the Bench in the Pulpit and in the Cottage of the poor man.
   —Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. III, P–245
2. Ibid, Vol. III, P–245
3. Ibid, P–245.
4. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, P–245.
5. Ibid, Vol. II, P. 305.
6. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. II, P–295.
7. Vedanta shows that it is realised already, it is already there. Ibid, P–295.
8. Therefore the self is best known of all, Ibid, P–305.

कहना प्रलाप है।[1] जो तत्त्व सब वस्तुओं से अधिक सत्य है और जो तत्त्व सर्वत्र और सब प्राणियों में विद्यमान है उससे भी अधिक प्रत्यक्ष और ज्ञात कौन-सा तत्त्व हो सकता है?[2] अत: इस प्रकार के वेदान्तीय आदर्श को हमारे दैनिक जीवन में, नागरिक जीवन में, घरेलू जीवन में और सब अवस्थाओं में, आचरण में परिणत किया जा सकता है।[3] वेदान्त की व्यावहारिकता का एक कारण यह भी है कि वेदान्त के आदर्श को नगरों के कोलाहल के मध्य भी प्राप्त किया जा सकता है। ''वेदान्त गृहस्थादि कर्मों को छोड़ने का उपदेश नहीं देता, क्योंकि वेदान्त केवल जंगलों और गुफाओं की ही चीज नहीं है।''[4] ''वेदान्त कर्मण्यता को छोड़ने का आदेश कभी नहीं देता। उसका उद्देश्य तो कर्म में रहकर 'अकर्म' की स्थिति को प्राप्त करना है।''[5] इस प्रकार स्वामीजी ने जहाँ वेदान्त से बौद्धिकता की कठोरता को हटाकर उसे जनजीवन से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया, वहीं उन्होंने सामान्य जन को भी वेदान्त के आदर्शों के अनुसार अपने जीवन को बनाने की प्रेरणा दी।

प्राचीन वेदान्ती आचार्यों के सिद्धान्तों और विचारों में समन्वयात्मक प्रवृत्ति का अभाव है। श्रीरामकृष्ण देव ने धर्मों की एकता और सहिष्णुता पर बल दिया। यह एकता आधुनिक युग की एक प्रमुख माँग है। अबसे पूर्व मानव सभ्यता ने अपने बीच एकता की इतनी तीव्र आवश्यकता पहले कभी नहीं महसूस की क्योंकि आज परिवहन और दूरसंचार के क्षेत्र में अद्भुत वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा विश्व के विभिन्न हिस्से अत्यन्त निकटता से एक दूसरे से बँध चुके हैं तथा मनुष्य यह महसूस करने लगा है कि उन्हें एक साथ ही या तो उठना है अथवा गिर जाना है। मानवता को समग्रत: उत्कर्ष अथवा अपकर्ष को प्राप्त होना है। अत: यदि विभिन्न धर्म अपने मतभेदों को समाप्त नहीं करते—विशेषकर वे धर्म जो शान्ति और एकता के अग्रदूत होने का दावा करते रहे हैं—तो जीवन के अन्य क्षेत्रों में भला हम एकता की आशा कैसे कर सकते हैं?

---

1. And therefore to say this self is unknown is sheer nonsense—Ibid, Vol. II, P. 305.
2. Ibid, P–305.
3. Vedanta can be carried into our everyday life, the city life, the country life and the home life of every nation. Ibid, Vol. II, P. 300.
4. Complete works of Swami Vivekananda, Vol II, P–291.
5. Ibid, Vol. II, P. 293.

श्रीरामकृष्ण- परमहंस देव के सन्देशों ने आधुनिक युग के धार्मिक विचारों को एक बड़ी सीमा तक विस्तृत-व्यापक किया है। आज प्राय: सभी धर्म दूसरे धर्मों में विद्यमान सत्य को मान्यता प्रदान कर रहे हैं और भले ही स्पष्ट रूप से अनुभूत न किया गया हो किन्तु 19वीं शदी के अन्त से ही अध्यात्म का पुनर्जन्म सा होता प्रतीत होता है।

वेदान्त के अनुसार कोई व्यक्ति परमसत् की अनुभूति के पश्चात् भी इस शरीर में निवास कर सकता है। किन्तु व्यवहार में परम्परागत दार्शनिक सम्प्रदायों में ईश्वरानुभूति पर ही जोर दिया गया है। मानव जाति के मार्ग दर्शन हेतु प्राणि मात्र के प्रति प्रेम के साथ भले ही तब वह इस जगत् में रहे अथवा न रहे। किन्तु यह सत्य यहाँ—श्रीरामकृष्ण के यहाँ—है। आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं का एक अन्य महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा है कि यदि मनुष्य प्रतीकों के माध्यम से ईश्वर की उपासना करता है तो वह ईश्वर को मनुष्य के रूप में भी पूज सकता है। शरीर ही वह मन्दिर है जहाँ ईश्वर वास्तविक रूप से निवास करता है। यही कारण है कि एक बार श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था—ईश्वर की सन्तानों पर दया करने वाले हम कौन होते हैं? हमें दया नहीं सेवा करनी है—शिवभाव से जीव सेवा।

यही सन्देश कालान्तर में विवेकानन्द की शिक्षाओं का मूलाधार बना और इसी आधार पर उन्होंने रामकृष्ण मिशन और मठ की स्थापना की।

तो क्या हमें मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं करना चाहिए? हाँ! करना चाहिए, क्योंकि उनके मनोदैहिक पद्धतियों में अन्तर है किन्तु विभेदों को देखते समय हमें प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित दिव्यता को भी नहीं भूलना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति कोई अपराध करता है तो निश्चय ही उसे दण्ड मिलना चाहिए किन्तु वहाँ स्थाई रूप से कटुता को घर नहीं बना लेना चाहिए। हमें यह बोध होना चाहिए कि उस अपराधी के भीतर भी वह दिव्य सत्ता निवास करती है जो कुछ समय के लिए अज्ञान जनित दुर्बलता से आवृत्त हो गई है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण-परमहंस देव कहते हैं कि—'इसे पहचानो! एक माँ अपने बच्चे को दण्ड देती है किन्तु इससे उसका हृदय कलुषित नहीं होता प्रत्युत वहाँ सदैव उसके प्रति प्रेम रहता है।'

इस प्रकार श्री रामकृष्ण परमहंस देव द्वारा अनुभूत आध्यात्मिक सत्य आधुनिक युग के लिए अत्यन्त महत्त्व रखते हैं और उन्हें सारांश रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

— ईश्वर सत्य है और वह इस अपूर्ण विश्व का पूर्ण आधार है—स्वयं ज्योतित और सर्वाधिष्ठाता।

— ईश्वरानुभूति संभव है। वह कोई अज्ञात और अज्ञेय तत्त्व नहीं है, वरन् उसकी अनुभूति की जा सकती है और यह अनुभूति ही जीवन का लक्ष्य है।

— आध्यात्मिक जीवन, पूर्ण शान्ति और दिव्यता का जीवन जीने की आकांक्षा पूर्णतया संतृप्त हो सकती है।

— इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विविध मार्ग हैं।

शास्त्रीय वेदान्त-अद्वैत वेदान्त-की श्रृंखला में श्रीरामकृष्ण देव की यही विशिष्टता है।

स्वामीजी ने विचारों और सिद्धान्तों की दृढ़ता अपनाते हुए भी, वेदान्त से अन्य धर्मों और मतवादों की अविरुद्धता बतलाई। ''हमें विचारों की विविधता को स्वीकार करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को एक ही विचारधारा के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार नदियाँ टेढ़े-मेढ़े रास्तों से बहकर अनन्त समुद्र में गिरती है, वैसे ही सम्प्रदाय और धर्म अनन्त में विलीन होते हैं।[1]'' सब धर्मों में समन्वय स्थापित करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि ''विश्व के सब धर्म मूलतः अभिन्न है।[2] प्रत्येक धर्म का उद्देश्य ससीम को असीम का साक्षात्कार कराना है।''[3] ''त्रिज्यायें हजारों हो सकती हैं, परन्तु सभी एक केन्द्र-बिन्दु पर आकर मिलती है।''[4] वैसे ही विभिन्न धर्म पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं फिर भी सबका मूल उद्देश्य परमतत्त्व है। स्वामीजी के अनुसार धर्म का तात्पर्य किसी मत विशेष अथवा सम्प्रदाय विशेष से नहीं है। उन्होंने धर्म को मन,

---

1. विवेकानन्द-साहित्य (जन्मशती संस्करण), खण्ड 9, पृ०-120
2. वही (खण्ड 2), पृ० 227।
3. विवेकानन्द-साहित्य (खण्ड दो), पृ० 234।
4. वही, पृ० 234।

बुद्धि से परे और प्रत्यक्षानुभूति से अभिन्न बतलाया।[1] इस दृष्टि से वे धर्म और वेदान्त को अभिन्न मानते हैं। इसी प्रकार स्वामी जी ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों एवं भारतीय दर्शनों में भी, जिनमें बहुत समय से विरोध चलता चला आ रहा था, समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत आदि सम्प्रदायों में समन्वय विद्यमान है।"[2] "जिस तरह हमारे षड्दर्शन महान् तत्त्वसमूहों के अद्‌भुत क्रम विकास मात्र हैं, जो संगीत के समान पिछले धीमे स्वर वाले परदों से उठते हैं और अन्त में अद्वैत की वज्र गम्भीर ध्वनि में समाप्त होते हैं, उसी तरह अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतों में भी मनुष्य-मन उच्च से उच्च आदर्श की ओर अग्रसर हुआ है और अन्त में सभी मत अद्वैतवाद के उच्चतम सोपान पर पहुँच कर अद्‌भुत एकत्व में परिसमाप्त हुए हैं।"[3] दर्शन द्वैतवाद से प्रारम्भ होकर विशिष्टाद्वैत से होता हुआ शुद्ध अद्वैतवाद में विकसित होता है।"[4] अत: वेदान्त यह नहीं कहता है कि द्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि गलत हैं। उनकी भी निम्न स्तर पर यथार्थता है।[5] "यह सत्य है कि ज्ञान मतवाद-विहीन होता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञान मतवादों से घृणा करता है। इसका अर्थ केवल इतना है कि ज्ञान मतवादों से परे की अवस्था है।[6] स्वामीजी ने इसी आधार पर वेदान्त को अन्य सम्प्रदायों और धर्मों से अविरोधी बतलाया। "वेदान्त उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जो विश्व के सभी धर्मों में पाए जाते हैं।[7]" वेदान्त उस विशाल सागर के समान है जिसके वक्ष पर युद्ध-पोत और साधारण बेड़ा दोनों पास-पास रह सकते हैं। वेदान्त में यथार्थ योगी, मूर्तिपूजक, नास्तिक इन सभी के लिए पास रहने को स्थान है। इतना ही नहीं, वेदान्त-सागर में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि सभी एक है।[8]"

---

1. Religion is Beyond all reasoning and is not on the plane of intellect. It is a vision an inspiritation, a plunge into the unknown and unknowable—Complete works of Swami Vivekananda, Vol. III, P–1.
2. भारत में विवेकानन्द, पृ० 21.
3. Complete works. Vol. III, P. 396–7.
4. आत्मतत्त्व, पृ० 21।
5. वही, पृ० 22।
6. विवेकानन्द-साहित्य, खण्ड 6, पृ० 243।
7. वही, खण्ड 9, पृ० 118।
8. वही, पृ० 76।

आधुनिक विश्व में विभिन्न समूहों तथा वर्गों के अधिकारों के समर्थकों के बीच निरन्तर संघर्ष चल रहा है। फलस्वरूप समाज धीरे-धीरे अधिकारों के परस्पर-विरोधी सिद्धांतों की सफलता के लिए युद्ध का अखाड़ा बनता जा रहा है। किन्तु विवेकानन्द ने कर्त्तव्यों को महत्त्व दिया। वे चाहते थे कि सभी व्यक्ति और समूह अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों के पालन में ईमानदार हों। मानव प्राणी का गौरव इस बात में नहीं है कि वह अपने तथा अपने अधिकारों के लिए आग्रह करे, उसकी गरिमा इस बात में है कि वह सार्वभौम शुभ की सिद्धि के हेतु अपना उत्सर्ग कर दे।[1] इसलिए यद्यपि स्वामी विवेकानन्द स्वयं भिक्षु और सन्यासी थे, किन्तु उन्होंने निष्काम भाव से अपना कर्त्तव्य करने वाले गृहस्थ को सर्वोच्च स्थान दिया।[2]

विवेकानन्द सामाजिक यथार्थवादी थे। उनके व्यक्तित्व का प्रमुख पक्ष यह था कि उन्होंने अपनी शक्ति, ज्ञान, चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभूति परिपक्व दार्शनिक अन्वेषण में लगा दी। वे निश्चय ही यह चाहते थे कि भौतिकवादी पश्चिम योग तथा वेदान्त की आध्यात्मिक शिक्षाओं को हृदयंगम करे। उनकी यह भी कामना थी कि पश्चिम के लोग अन्तर्दर्शी तथा आत्मगत मनोविज्ञान का अभ्यास करें। किन्तु अपने देशवासियों को उन्होंने यथार्थवाद तथा व्यवहारवाद का सन्देश दिया। उन्होंने भारत तथा पश्चिम के पर्यटन के दौरान अनुभव किया कि जो देश एक हजार वर्ष से भी अधिक समय से पराजय, विपन्नता, अपरिमेय चिन्ता, दु:ख, निराशा और राजनीतिक विपदाओं का शिकार रहा है उसे अपनी कमर सीधी करने के लिए शक्ति और निर्भीकता की आवश्यकता है। वे भारत के करोड़ो लोगों के दु:खों के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूक थे। एक सन्यासी के मुख से नि:सृत ये शब्द सचमुच क्रान्तिकारी हैं, ''भुखमरी से पीड़ित मनुष्य को धर्म का उपदेश देना कोरा उपहास है।'' एक वेदान्ती की लेखनी से निकला हुआ यह कथन भी क्रान्तिकारी है कि भारत 'वह देश है जहाँ दसियों लाख लोग महुआ का फूल खाकर रहते हैं, और दस या बीस लाख साधू तथा

1. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, "Vivekananda and Marx as Socilogist," The Vedanta Kesarı, जिल्द 45, जनवरी 1959, पृ० 374-81।
2. विवेकानन्द, "karma Yoga, अध्याय 2: "Each is great in his own place," The complete works of Swami Vivekananda (मायावती मेमोरियल संस्करण, भाग 1, 1940,) पृ० 34-49।

एक करोड़ के लगभग ब्राह्मण इन लोगों का रक्त चूसते हैं।" अतः स्पष्ट है कि हिन्दुओं के आध्यात्मिक तत्त्वशास्त्र की श्रेष्ठता का शक्तिशाली समर्थक जनता के उद्धार के विषय में किसी प्रकार से झुकने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि "राष्ट्र झोपड़ियों में रहता है।" सामाजिक क्रान्तिकारी के नाते विवेकानन्द ने जाति-व्यवस्था की बुराइयों की अनियन्त्रित शब्दों में भर्त्सना की और उन ब्राह्मण पुरोहितों को निम्न जातियों के उत्पीड़न के लिए उत्तरदायी ठहराया जिन्होंने जाति-भेद का मायाजाल निर्मित किया था।

विवेकानन्द का गम्भीर सामाजिक यथार्थवाद उनके इस कथन से भी प्रकट होता है कि भारत की एक हजार वर्ष पुरानी दासता की जड़ जनता का दमन है। देश के सामाजिक अत्याचारियों ने और अभिजातीय निरंकुश वर्गों ने बहुसंख्यक जनता का शोषण किया था। उन्होंने जनता को घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा और उसे इतना अपमानित किया कि वह अपना मनुष्यत्व ही खो बैठी। जब देश की प्राणशक्ति का इतना अध:पतन हो गया तो उसमें विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती थी। जनता ही देश का मेरुदण्ड होती है, क्योंकि वही सम्पूर्ण धन और भोजन उत्पन्न करती है।[1] जब उसे अस्वीकार और अपमानित किया जाता है तो वह राष्ट्रीय शक्ति के विकास में योग कैसे दे सकती है। स्वामी जी का कहना था कि देश के जीर्णोद्धार के लिए आवश्यक है कि जनता के उत्थान के लिए भावात्मक तथा रचनात्मक उपाय किए जायँ। देश के करोड़ों लोगों की पुजारियों की पोपलीला, दरिद्रता, अत्याचार तथा अज्ञान से रक्षा करनी है। विवेकानन्द जानते थे कि यह समस्या बड़ी विकट थी और उसके समाधान के लिए आवश्यक है कि शिक्षित भारतीय बलिदान करें। अतः उन्होंने घोषणा की, "मैं उस हर व्यक्ति को देशद्रोही ठहराता हूँ जो उनके खर्च पर शिक्षा प्राप्त करके उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।"

स्वामीजी ने भारतीय समाज के उच्च मार्गों की कुटिलता, अहंकार और धूर्तता की निर्मम अमर्षपूर्ण भर्त्सना की। भारतीय इतिहास के सभी युगों में ये उच्च वर्ग देश के करोड़ों निवासियों का

---

1. Complete works of Swami Vivekananda Vol, 5, P. 45.

शोषण करते आए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने लगे और विदेशी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की नींव मजबूत करने लगे, क्योंकि वह व्यवस्था उन्हें अपने कम भाग्यशाली बन्धुओं का उत्पीड़न करने की छूट देती थी। विवेकानन्द ने उन तथाकथित उच्चवर्गों, उन आँग्ल-भारतीय विद्रूप नकलचियों के विरुद्ध, जो अपने स्वामियों की जीवन-प्रणाली का अनुकरण करते तथा देश की दरिद्र तथा असहाय जनता पर सब प्रकार के अत्याचार करते, अपनी दबी हुई घृणा, कटुता और क्रोध को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया।

"भारत के उच्च वर्गों, क्या तुम अपने को जीवित समझते हो? तुम तो केवल दस हजार वर्ष पुरानी ममियाँ हो। भारत में यदि किसी में तनिक सी प्राणशक्ति शेष रह गई है तो वह उन लोगों में है जिन्हें तुम्हारे पूर्वज चलती-फिरती लाश समझकर घृणा करते थे। चलती-फिरती लाश तो वास्तव में तुम हो, भारत के उच्च वर्गों! माया के इस जगत में असली माया तुम हो, तुम्ही गूढ़ पहेली और मरुस्थल की मृगमरीचिका हो। तुम भूतकाल के प्रतिनिधि हो, तुम अतीत के विभिन्न रूपों के अव्यवस्थित जमघट हो, लोगों को तुम वर्तमान में भी दृष्टिगोचर प्रतीत होते हो, यह तो मन्दाग्नि से उत्पन्न दुःस्वप्न है। तुम शून्य हो, तुम भविष्य की सारहीन नगण्य वस्तु हो। स्वप्न लोक के निवासियों, तुम अब भी क्यों लड़खड़ाते हुए घूम रहे हो? तुम पुरातन भारत के शव के मांसहीन और रक्तहीन अस्थि पंजर हो, तुम शीघ्र ही राख बनकर हवा में विलीन क्यों नहीं हो जाते? तुम अपने को शून्य में विलीन कर दो और तिरोहित हो जाओ, और अपने स्थान पर नये भारत का उदय होने दो। उसे (नये भारत को, अनु०) उठने दो, हल की मूँठ पकड़े हुए किसान की कुटिया में से, मछुओं, मोचियों और भंगियों की झोपड़ियों में से। उठने दो उसे परचूनी वाले की दुकान से और पकौड़ी बेचने वाले की भट्ठी से। उठने दो उसे कारखानों से, हाटों से और बाजारों से। उसे कुंजो, बनों, पहाड़ियों और पर्वतों से उठने दो। इन साधारण जनों ने हजारों वर्षों तक उत्पीड़न सहन किया है और बिना शिकायत किए और बड़बड़ाए सहन किया है, जिसके परिणामस्वरूप उनमें आश्चर्यजनक सहन-शक्ति उत्पन्न हो गई है। वे अनन्त दुःखों को सहते आए हैं। जिसने उन्हें अविचल शक्ति प्रदान कर दी है। मुट्ठी भर दानों पर जीवित रहकर वे संसार को झकझोर सकते

हैं। उन्हें रोटी का आधा टुकड़ा ही दे दीजिए, और फिर तुम देखोगे कि सारा विश्व भी उनकी शक्ति को सम्भालने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। उनमें रक्तबीज की अक्षय शक्ति विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उनमें आश्चर्यजनक शक्ति है जो कुछ शुद्ध तथा नैतिक जीवन से उपलब्ध होती है, और जो संसार में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। ऐसा शान्तिपूर्णता, ऐसा सन्तोष, ऐसा प्रेम शान्तिपूर्वक तथा निरन्तर कार्य करते रहने की ऐसी शक्ति और काम के समय ऐसे सिंह तुल्य पौरुष का प्रदर्शन—यह सब तुम्हें कहाँ मिलेगा? अतीत के अस्थिपंजरों! यहाँ तुम्हारे समक्ष तुम्हारे उत्तराधिकारी खड़े हैं जो भविष्य का भारत है। अपनी तिजोरियों को और अपनी उन रत्नजटिल मुँदरियों को उनके बीच, जितनी शीघ्र हो सके, फेंक दो और तुम हवा में विलीन हो जाओ जिससे तुम्हें भविष्य में कोई देख न सके—तुम केवल अपने कान खुले रखो। जिस क्षण तुम तिरोहित हो जाओगे उसी क्षण तुम नवजाग्रत भारत का उद्घाटन-घोष सुनोगे।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि विवेकानन्द निष्ठा और उत्साह के साथ विश्वास करते थे कि पुनर्जागृत भारत के भविष्य का निर्माण "सामान्य जनता" की ठोस नींव पर ही होगा और पुराने अभिजातवर्गीय तथा सामन्ती जाति-नेताओं की कब्रों पर गौरवपूर्ण ऐतिहासिक विरासत का उदय और विकास होगा।

विवेकानन्द भारत के पहले विचारक थे जिन्होंने भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय दृष्टि से यथार्थवादी व्याख्या की। उन्होंने राजनीतिक उथल-पुथल के प्रलयकारी विप्लवों के मूल में सामाजिक संघर्षों का निरन्तर सूत्र ढूँढ़ निकाला।[2]

प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित दिव्यता का उद्घोष करते हुए स्वामी जी कहते हैं—

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। वाह्य एवं अन्तः प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्म भाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनः संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त

1. Complete works of Swami Vivekananda, Vol, 7. P. 326-28.
2. Complete works of Swami Vivekananda, Vol, 4. P. 394-95.

हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान, पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य वाह्य क्रियाकलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द दर्शन में सर्वत्र आत्मविश्वास और आत्मपौरुष को जागृत करने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य को पराधीन और निर्बल बना देने वाला प्रत्येक सिद्धान्त विवेकानन्द दर्शन के विरुद्ध है। ''ईश्वर की सगुण धारणा ने हमें पराधीन, असहाय और पंगु बना दिया। हम अपने आप कुछ नहीं करना चाहते। आज मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य में किसी सगुण ईश्वर की, किसी माता या पैगम्बर की कामना करते हैं। मनुष्य का सहायक और रक्षा करने वाला स्वयं मनुष्य के सिवाय और कोई नहीं।[1] ''यद्यपि यह सत्य है कि द्वैतवाद के प्रेम,भक्ति और उपासना में एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु आज आनन्द-पुलकित होकर आँखों से प्रेमाश्रु बरसाने का समय नहीं है। हमने बहुत आँसू बरसाये हैं। कोमलता की साधना करते-करते आज मनुष्य जीते जी मूर्दा हो रहा है।''[2] आज हमें अपनी वीरता पर, अपनी आत्मा के अनन्त, अनादि और सर्वशक्तिमान् स्वरूप पर विश्वास करने की आवश्यकता है।''[3] अद्वैतवाद कमजोर बनाने की शिक्षा कभी नहीं देता; क्योंकि वेदान्त का सारभूत शब्द है—'शक्ति।[4] ''वह हमें सर्वत्र, सर्वशक्तिमान और तेजस्वी रूप से सोचने को कहता है।''[5] मनुष्य की नस-नस में चेतना और शक्ति का संचार कर देने वाले शब्दों से उद्बोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा—''उठो, जागो, अपने आपको शक्ति हीन और दुर्बल समझकर तुम लोग जिस मोह के आवरण में पड़े हुए हो उसे हटा दो। वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-सम्पन्न है।''[6] जब आत्मा प्रबुद्ध हो उठेगी तो तुम्हारे अन्दर की समस्त शक्ति, महिमा और महत्ता का अनुभव स्वत: ही हो जाएगा।[7] बलहीन और असहाय व्यक्ति कदापि उस आत्मतत्व को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि श्रुति ने ''नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:' की प्रतिज्ञा की

1. विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 9), पृ० 85।
2. भारत में विवेकानन्द, पृ० 118।
3. वही, पृ० 39।
4. सूक्तियाँ एवं सुभाषित, पृ० 48।
5. भारत में विवेकानन्द, पृ० 39।
6. वही, पृ० 123।
7. भारत में विवेकानन्द, पृ० 123।

है। किसी समय में ईश्वर पर अविश्वास करने वाला पुरुष नास्तिक कोटि में आता था, परन्तु स्वामी जी के अनुसार आज नास्तिक वह है जिसने आत्मा के बल और पौरुष पर से विश्वास हटा दिया है।[1]

स्वामी जी के विचारों में मानव-सेवा, समाज-सेवा और देश-सेवा के लिए भी उतना ही आग्रह है जितना कि आत्मलाभ कर मुक्त हो जाने का। मनुष्य को, स्त्री को, हर जीव को भगवत्-स्वरूप समझो। प्रभु की संतानों की सेवा करना प्रभु की ही सेवा करना है।[2] गरीब और दु:खी लोग तो हमारी मुक्ति के साधन हैं। रोगी,पागल, कोढ़ी के रूप में हमारे सामने विद्यमान प्रभु की सेवा कर हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।[3] अपना सारा जीवन इन दु:खी, दरिद्र और असहाय जनों के लिए उत्सर्ग कर देने की आज प्रबल आवश्यकता है। महात्मा वही हैं जिसके हृदय में दीन-दु:खी लोगों के लिए व्यथा और करुणा के भाव विद्यमान हैं।[4] मानव-देह-मन्दिर में प्रतिष्ठित आत्मा ही पूजा है, भगवान् है। "भगवान् को खोजने के लिए हमें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। क्या ये गरीब दु:खी और दुर्बल व्यक्ति भगवान् नहीं है? पहले इन्हीं को भगवान्-रूप में क्यों नहीं पूजते?[5] इसी प्रकार देश से अभिन्नता स्थापित करने की और देशसेवा करने की भी नवीन चेतना प्रदान करते हुए स्वामीजी ने कहा कि "तुम चिल्लाकर कहो कि अज्ञानी, दरिद्र, चाण्डाल, ब्राह्मण सब भारतवासी मेरे भाई हैं। भारतवासी मेरे प्राण हैं। भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, मेरी जवानी की फुलवारी, मेरा पवित्र स्वर्ग और बुढ़ापे की काशी है। भारतवर्ष की दरिद्रता और आज्ञानता को दूर करने के लिए तन, मन, धन सबको अर्पित कर दो। वेदान्त के जीवनदायी तत्त्वों से सारे देश में ब्रह्मभाव जागृत करो।"[6] स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक प्रमुख तत्त्व की अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए, धर्म भारत के इतिहास में

---

1. "The new religion says that he is the atheist who does not believe in himself". Complete works of Swami Vivekananda, Vol. II, P. 301.
2. विवेकानन्द के उद्गार, पृ० 21।
3. वही, पृ० 21।
4. वही, पृ० 22।
5. वही, पृ० 23।
6. विवेकानन्द के उद्गार, पृ० 70।

महत्त्वपूर्ण नियामक सिद्धांत रहा है। विवेकानन्द लिखते हैं; "जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है वैसे ही हर राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्त्व हुआ करता है, अन्य सब तत्त्व उसी में केन्द्रित होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का अपना तत्त्व है, अन्य सब वस्तुएँ गौण होती हैं। भारत का तत्त्व धर्म है। समाज-सुधार तथा अन्य कुछ गौण है।"[1] इसलिए उन्होंने राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त की नींव का निर्माण करने के लिए कार्य किया। आगे चलकर उसी सिद्धांत का विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द ने समर्थन और पक्षपोषण किया। विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धांत का प्रतिपादन इसलिए किया कि वे समझते थे कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड बनेगा।[2] उनका कहना था कि राष्ट्र की भावी महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है। अतीत की उपेक्षा करना राष्ट्र के जीवन का ही निषेध करने के समान है। उसका अर्थ तो वास्तव में उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करना है। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर ही करना होगा। विवेकानन्द कहा करते थे कि अतीत में भारत की सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति मुख्यत: धर्म के क्षेत्र से ही हुई थी। धर्म ने भारत में एकता तथा स्थिरता को बनाए रखने के लिए एक सृजनात्मक शक्ति का काम किया था; यहाँ तक कि जब कभी राजनीतिक सत्ता शिथिल और दुर्बल हो गई तो धर्म ने उसकी भी पुन: स्थापना में योग दिया। इसलिए विवेकानन्द ने घोषणा की कि राष्ट्रीय जीवन का धार्मिक आदेशों के आधार पर संगठन किया जाना चाहिए।[3] उनके विचार में आध्यात्मिकता अथवा धर्म का अर्थ शाश्वत तत्त्व का साक्षात्कार करना था, सामाजिक मतवादों, धर्मसंघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं और पुरानी रुढ़ियों को धर्म नहीं समझना चाहिए। वे कहा करते थे कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है, इसलिए सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किए जाने चाहिए। तभी देश की बहुसंख्यक जनता उन्हें अंगीकार कर सकेगी।[4] अत: राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक सिद्धांत राजनीतिक चिन्तन को विवेकानन्द की प्रथम

---

1. Complete Works of Swami Vivekananda (मायावती मेमोरियल संस्करण, भाग 1, 1936), पृ० 140।
2. Complete Works of Swami Vivekananda (मायावती मेमोरियल संस्करण, भाग 1, 1936), पृ० 554।
3. विवेकानन्द ने कहा था कि सभ्यता आन्तरिक ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति हुआ करती है।
4. The life of Swami Vivekananda, जिल्द 2, पृ० 698।

महत्त्वपूर्ण देन माना जा सकता है।

राजनीतिक सिद्धांत का विवेकानन्द की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन उनकी स्वतंत्रता की धारणा है। उनका स्वतंत्रता विषयक सिद्धान्त बहुत व्यापक था। उनका कहना था कि सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति के द्वारा मुख्यत: स्वतंत्रता की ही खोज कर रहा है।[1] स्वतंत्रता के प्रकाश को वृद्धि की एकमात्र शर्त मानते थे।[2] उनके शब्द हैं: "शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होना तथा दूसरों को उसकी ओर अग्रसर होने में सहायता देना मनुष्य का सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो सामाजिक नियम इस स्वतन्त्रता के विकास में बाधा डालते हैं वे हाँनिकारक हैं, और उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाय जिनके द्वारा मनुष्य स्वतन्त्रता के मार्ग पर आगे बढ़ता है.......[3]। विवेकानन्द आध्यात्मिक स्वतन्त्रता अथवा माया के बन्धनों और प्रलोभनों से मुक्ति के ही समर्थक नहीं थे, बल्कि वे मनुष्य के लिए भौतिक अथवा वाह्य स्वतन्त्रता भी चाहते थे। वे मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को मानते थे। उनका कथन है: "स्वतन्त्रता का निश्चय ही यह अर्थ नहीं है कि यदि मैं और आप किसी की सम्पत्ति को हड़पना चाहें तो हमें ऐसा करने से न रोका जाय; किन्तु प्राकृतिक अधिकार का अर्थ यह है कि हमें अपने शरीर, बुद्धि और धन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार करने दिया जाय और हम दूसरों को कोई हानि न पहुँचाए, और समाज के सभी सदस्यों को धन, शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार हो।"[4] विवेकानन्द को यह भी आशा थी कि जिस स्वतंत्रता का उदय अमेरिका में 4 जुलाई, 1776 को हुआ था वह किसी दिन समस्त विश्व में प्रतिष्ठित हो जाएगी। अपनी '4 जुलाई के प्रति' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है:

---

1. विवेकानन्द ने लन्दन में एक व्याख्यान में कहा था: "यहविश्व क्या है? स्वतन्त्रता में इसका उदय होता है, और स्वतन्त्रता पर ही वह अवलम्बित है।"
2. विवेकानन्द, "स्वतन्त्रता आध्यात्मिक प्रगति की एकमात्र शर्त है।"
3. The life of Swami Vivekananda, भाग 2, पृ० 753।
4. The life of Swami Vivekananda, Vol 2, P. 752.

तुमको कोटिशः अभिवादन, हे प्रकाश के प्रभु!

आज तुम्हारा नव स्वागत,

हे दिवाकर! आज तुम स्वतंत्रता से विश्व को प्रदीप्त कर रहे हो।

* * *

हे प्रभो! अपने अनवरोध्य मार्ग पर निरन्तर बढ़ते जाओ!

जब तक कि तुम्हारे मध्याह्न का प्रकाश विश्व भर में न फैल जाए,

जब तक हर देश प्रकाश को प्रतिबिम्बित न करने लगे;

जब तक कि पुरुष और स्त्रियाँ मस्तक ऊँचा करके,

अपनी बेड़ियों को टूटा हुआ न देख ले,

और जब तक कि यौवन के आह्लाद में उनका जीवन नया न हो जाय।

स्वामी जी की तीसरी देन उनका शक्ति और निर्भयता का सन्देश है राजनीतिक स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय की बात करने की अपेक्षा उन्होंने उससे भी अधिक बुनियादी आदर्श-शक्ति-का सन्देश दिया। बिना शक्ति के न हम अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को कायम रख सकते हैं और न अपने अधिकारों की रक्षा करने में ही समर्थ हो सकते हैं। कोई व्यक्ति सतत् प्रयत्नों और निरन्तर अध्यवसाय के द्वारा ही जीवन के संघर्ष में सफलता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य का चरित्र बाधाओं का प्रतिरोध करने से ही विकसित होता है। एक सैद्धान्तिक तथा शिक्षक के रूप में विवेकानन्द ने देश को निर्भयता तथा शक्ति के दो महान आदर्श प्रदान किए हैं। उनकी मुख्य विरासत यह है कि उन्होंने धर्म तथा जीवन का समन्वय किया, और कभी-कभी धर्म की राष्ट्रीय तथा व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या की। उदाहरण के लिए, उन्होंने कहा "शक्ति ही धर्म है।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने घोषणा कि: "मेरे धर्म का सार शक्ति है। जो धर्म हृदय में शक्ति का संचार नहीं करता वह मेरी दृष्टि में धर्म नहीं है चाहे वह उपनिषदों का धर्म हो और चाहे गीता अथवा भागवत् का। शक्ति धर्म से भी बड़ी वस्तु है और शक्ति से बढ़कर कुछ नहीं।"[1] राजनीतिक दृष्टि से पददलित राष्ट्र को शक्ति और निर्भयता का सन्देश देना वास्तव में एक महान राजनीतिक महत्त्व का सन्देश देने के

1. The life of Swami Vivekananda, Vol, 2, P. 699.

समान है, क्योंकि 'मनुष्य निर्माण' के पुरुषोचित सन्देश का ठोस राष्ट्रीय अभिप्राय है। विवेकानन्द ने निर्भयता के सिद्धान्त को दार्शनिक वेदान्त के आधार पर उचित ठहराया। उन्होने बार-बार इस बात को दुहराया कि आत्मा ही परम सत् है और इसलिए वह सभी प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों और क्रूरता से परे है। उनकी दुर्दमनीय आत्मा को मनुष्य की आत्मा पर थोपे गए सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से घृणा थी। इसलिए वे भारतीय जनता को आत्मा के अपार बल और शक्ति की शिक्षा देना चाहते थे। उनका कहना था कि आत्मा का लक्षण सिंह के समान है। वे चाहते थे कि मनुष्य में भी सिंह की-सी भावना का विकास हो। उन्होंने कहा कि हिन्दुत्व को आक्रामक बनना है। इस प्रकार विवेकानन्द ने चरित्र-निर्माण के लिए वेदान्त की शिक्षाओं का प्रयोग किया। अभयं वेदों तथा वेदान्त का सार है। गीता का क्रान्तिकारी सन्देश भी पुरुषत्व तथा शक्ति को ही महत्त्व देता है। विवेकानन्द ने कहा: "..........राष्ट्र को शक्ति शिक्षा के द्वारा ही मिल सकती है।"[1] उनके विचार में शक्ति के सन्देश का ओजपूर्ण समर्थन करना राष्ट्रीय पुनर्निमाण का सबसे अच्छा मार्ग था। आत्मबल के आधार पर निर्भय होकर खड़ा होना अत्याचार तथा उत्पीड़न का सर्वोत्तम प्रतिकार था।[2] उन्होंने उस समय भारत में प्रचलित अत्याचारपूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करने की नकारात्मक नीति नहीं अपनायी, बल्कि शक्ति के संग्रह पर भावात्मक बल दिया।

राष्ट्र व्यक्तियों से ही बनता है। इसलिए विवेकानन्द का अनुरोध था कि सब व्यक्तियों को अपने में पुरुषत्व, मानव गरिमा तथा सम्मान की भावना आदि श्रेष्ठ गुणों का विकास करना चाहिए। किन्तु इन वैयक्तिक गुणों की पूर्ति अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम की भावात्मक भावना से होना चाहिए। निःस्वार्थ सेवा की गम्भीर भावना के बिना राष्ट्रीय एकता और भ्रातृत्व की बात करना कोरी बकवास है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने अहं का देश और राष्ट्र की आत्मा के साथ तादात्म्य कर दे। विवेकानन्द का मार्ग पश्चिम के उन समाजशास्त्रियों की तुलना में अधिक

1. The life of Swami Vivekananda, जिल्द 2, पृ० 796.
2. विवेकानन्द का व्याख्यान "My plan of Campaign": "संकल्प अन्य प्रत्येक वस्तु से अधिक शक्तिशाली होता है। संकल्प के समक्ष प्रत्येक वस्तु घुटने टेक देती है क्योंकि वह ईश्वर से प्राप्त होता है।..... . शुद्ध और दृढ़ संकल्प सर्वशक्तिमान होता है।"

रचनात्मक है जो पश्चिम के उन समाजशास्त्रियों की तुलना में अधिक रचनात्मक है जो केवल राष्ट्रवाद के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी तथा सामाजिक दृष्टिकोणों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया है, किन्तु साथ ही साथ व्यक्तियों के नैतिक विकास के साथ उनका अधिक लगाव है। यह सत्य है कि राष्ट्र एक समुदाय है। किन्तु हम राष्ट्र की अवयवी प्रकृति का कितना ही गुणगान क्यों न करें, वास्तव में व्यक्ति ही राष्ट्रीय ढाँचे के घटक होते हैं, इसलिए जब तक व्यक्ति स्वस्थ, नैतिक तथा दयालु नहीं होते तब तक राष्ट्र की महानता तथा समृद्धि की आशा करना व्यर्थ है। अतीत में भारत के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण समाज सेवा तथा व्यक्ति की मुक्ति के आदर्शों की नींव पर किया गया था। इन श्रेष्ठ आदर्शों को पुन: प्रतिष्ठित करना और शक्तिशाली बनाना है।[1] इसलिए सेवा तथा त्याग को भारतीय राष्ट्र के पुनरुद्धार का तात्त्विक आधार बनाना आवश्यक है।[2] इस प्रकार विवेकानन्द इस पक्ष में थे कि राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का आधार नैतिक हो। उन्होंने उत्प्रेरित शब्दों में भारतीयों को ललकारा "हे वीर! निर्भीक बनो, साहस धारण करो, इस बात पर गर्व करो कि तुम भारतीय हो और गर्व के साथ घोषणा करो, "मैं भारतीय हूँ और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है।' बोलो, 'ज्ञानहीन भारतीय, दरिद्र तथा अकिंचन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय, अछूत भारतीय, मेरा भाई है।' तुम भी अपनी कमर में एक लँगोटी बाँधकर गर्व के साथ उच्च स्वर में घोषणा करो, "भारतीय मेरा भाई है, भारतीय मेरा जीवन है, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर है, भारतीय समाज मेरे बाल्यकाल का पालना है, मेरे यौवन का आनन्द उद्यान है, पवित्र स्वर्ग और मेरी बृद्धावस्था की वाराणसी है।' मेरे बन्धु बोलो, "भारत की भूमि मेरा परम स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है और दिन-रात जपो और प्रार्थना करो, 'हे गौरीश्वर, हे जगज्जननी, मुझे पुरुषत्व प्रदान करो। हे शक्ति की माँ, मेरे दौर्बल्य को हर लो, मेरी पौरुषहीनता को हर लो—और मुझे मनुष्य बना दो।"

धार्मिक कट्टरता की सीमाओं को तोड़ कर विश्व धर्म की उदात्त भावनाओं का समावेश

1. The life of Swami Vivekananda, Vol. II, P. 713.
2. यह प्रकरण लेखक के 'Vivekananda and Marx as socialogists' को,जो The Vedanta Kesari (मद्रास, जनवरी 1959) के पृ० 479-81 पर छपा था, परिवर्तित और संशोधित रूप है।

यद्यपि नेताओं के विचारों में हो चुका था परन्तु श्री रामकृष्ण परमहंस ने धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप को जिस रूप में प्रस्तुत किया वैसा ब्राह्म नेताओं द्वारा ही क्या अन्य किसी आधुनिक चिन्तक द्वारा उपस्थित न किया जा सका। ब्राह्म-नेताओं द्वारा किया गया धार्मिक समन्वय बौद्धिक ही बन कर रह गया। अनुभव सागर की गहराइयों का परिमापन यहाँ नहीं हो सका। रामकृष्ण परमहंस ने धार्मिक एकता की बात केवल बौद्धिक आधार पर नहीं कही थी। उनके द्वारा अभिव्यक्त तथ्य स्वयं उनके द्वारा 'अनुभूत' किए हुए थे।[1] उनके अनुसार ये सब मतमतान्तर विभिन्न नदियों के समान हैं जो अलग-अलग स्थानों से बहती हुई एक ही महासागर में विलीन हो जाती है। इसी तथ्य को उन्होंने अपने एक अन्य प्रिय रूपक द्वारा व्यक्त किया है—"हिन्दू पात्र में भरे हुए पदार्थ को 'जल' कहता है, मुसलमान 'पानी' कहकर काम चलाता है और अंग्रेज 'वाटर' कहता है। पदार्थ के पर्यायवाची शब्द विभिन्न हैं परन्तु पदार्थ एक ही है।"[2] उद्देश्य सभी धर्मों का एक ही है, और वह है, परमात्म-दर्शन। लक्ष्य प्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। "छत पर पक्की सीढ़ी से भी चढ़ा जा सकता है और लकड़ी एवं बाँस की सीढ़ी से भी और रस्सी के सहारे भी।[3] रामकृष्ण परमहंस के अनुसार "विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा बनाए गए सम्प्रदाय उसी प्रकार हैं जिस प्रकार मेंड़ बाँधकर किया गया भूमि का विभाजन, परन्तु आकाश को कोई भी विभक्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार अज्ञानावस्था में सब अपने धर्म को ऊँचा और सच्चा बताते हैं परन्तु ज्ञान होने पर एक ही ईश्वर लक्षित होता है।[4] यदि यह कहा जाय कि दूसरे के धर्म में भूलें या कुसंस्कार हैं, तो रहें; भूलें तो सभी धर्मों में हैं। ईश्वर तो हृदय की व्याकुलता और आकर्षण को ही देखता है। जिस प्रकार परिवार में जो कुछ बड़े हैं वे पिता को 'बाबा' या पापा कहकर पुकारते हैं, जो बहुत छोटे हैं वे 'बा' या 'पा' ही कह पाते हैं। पर क्या इससे पिता असन्तुष्ट होता है? पिता जानता है कि सब उन्हीं को बुला रहे हैं। इसी प्रकार ईश्वर भी व्यक्ति की आस्था एवं निष्ठा का ही अवलोकन करता

---

1. Keshab's was an intellectual unification, it was not enlivened by direct experience, it was not realised, But Ramkrishna did not attempt at an intellectual synthesis of the different religions. He realised the synthesis in his life. B. G. Ray—Contemporary indian philosophers, P. 39.
2. रामकृष्णवचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 123।
3. वही, पृ० 75।
4. परमहंस चरित, स्वामी विज्ञानानन्द, पृ० 108।

है। वह किसी धर्मविशेष का अवलम्बन नहीं चाहता है।[1]

श्री रामकृष्ण परमहंस ने धर्म के तार्किक स्वरूप की यह कहकर निन्दा की कि यह तो उद्यान में केवल वृक्ष-गणना करने के समान है। "उद्यान में हमारा तात्पर्य आम खाने से होता है, वृक्ष-गणना से नहीं।" वाद-विवाद अथवा तार्किक असन्तुष्टि तो उन कीट-पतंगों के समान है जो कि ईश्वर-साक्षात्कार रूप ज्योतिर्मय दीप के प्रज्वलित होने पर स्वतः आ जाते हैं।[2] उसके अतिरिक्त, रामकृष्ण परमहंस ने धर्म के व्यावहारिक स्वरूप पर सदा बल दिया। "मादक वस्तु का यदि अंग पर मर्दन मात्र ही कर लिया जाय तो उससे मादकता नहीं आ सकती, इसके लिए तो उसका सेवन ही आवश्यक है।[3] इसी प्रकार परम तत्त्व के विषय में केवल वाद-विवाद करना ही पर्याप्त नहीं है, जब तक उपर्युक्त रूप से उसका अनुभव न कर लिया जाए।" पौष्टिकता प्राप्त करने के लिए दुग्ध के बारे में सुनना, देखना और उसको चख लेना ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए तो आवश्यक है दुग्ध को पचा लेने की, उसे रक्त और मज्जा में मिला लेने की।[4] रामकृष्ण परमहंस ने शास्त्रों के पठन-पाठन के महत्त्व को उसी सीमा तक स्वीकार किया जिससे उनका ईश्वर के साक्षात्कार में उपयोग हो सके। शास्त्रों के कोरे अध्ययन को तो वे मस्तिष्क की एक ग्रन्थि ही कहा करते थे।[5] परमहंस जी के अनुसार यह धारणा भी असंगत है कि शास्त्र-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उनके अनुसार "पढ़ने से सुनना और सुनने से देखना श्रेष्ठतर है।"[6] शास्त्रों का जीवन में उतना ही महत्त्व है जितना एक विशिष्ट सन्देशयुक्त पत्र का किसी व्यक्ति के लिए होता है। "वह उस सन्देश को पढ़ता है और तत्पश्चात् पत्र को फाड़ देता है। इसी प्रकार शास्त्र का सार गुरुमुख से जान लेना चाहिए और उसके बाद साधन-भजन का अभ्यास करना चाहिए।"[7]

समस्त धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति समन्वयवादी होते हुए भी स्वामी जी ने सम्प्रदायों की

---

1. रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम भाग), पृ० 76।
2. रामकृष्ण वचनामृत, (द्वितीय भाग), पृ० 179।
3. वही, पृ० 289।
4. रामकृष्ण वचनामृत (द्वितीय भाग), पृ० 289।
5. Teachings of Ramkrishna, P. 177.
6. Ibid
7. रामकृष्ण वचनामृत (द्वितीय भाग), पृ० 8।

संकीर्णता, रुढ़िवादिता एवं बाह्याचारों के प्रति कठोरता को त्यागने का और आध्यात्म तत्त्व के सिद्धान्तों को व्यवहार और आचरण में लाने का सन्देश प्रसारित किया। "कोई आदमी संसार के सारे सम्प्रदायों में विश्वास क्यों न करता हो, समस्त धर्म-ग्रन्थों का ज्ञान वहन करता हो, और संसार की सभी नदियों में स्नान कर पुण्य कमा चुका हो, पर यदि उसे ईश्वर-साक्षात्कार नहीं हुआ है तो वह पहले सिरे का नास्तिक है।"[1] धर्म केवल सिद्धान्त और मत की बात नहीं है। तुम क्या पढ़ते हो अथवा किस मत में विश्वास रखते हो, यह उतना महत्त्व नहीं रखता जितना यह कि तुम अनुभव या व्यवहार में उसे कितना लाते हो।"[2] किसी सम्प्रदाय के नियमों व रुढ़ियों का आचरण करना अविकसित अवस्था के लिए तो अच्छा हो सकता है परन्तु सदा के लिए नहीं। किसी सम्प्रदाय की छाया में पैदा होना अच्छा है, पर उसी में मर जाना अच्छा नहीं। बालक रूप में पैदा होना अच्छा है परन्तु सदा के लिए बालक बने रहना बुरा है।"[3] "सम्प्रदाय और नियम तो बच्चों के लिए ही ठीक है, पर जब बच्चा सयाना हो जाय तो उसे चाहिए कि वह या तो सम्प्रदायिकता को विस्तृत बनावे या स्वयं उससे बाहर चला जाय।"[4] "सदैव साम्प्रदायिक बने रहना उसी प्रकार है जैसे कि बचपन के कोट को ही हर अवस्था में पहनने की जिद करना।"[5] केवल बाह्याचारों के अनुष्ठान से अथवा कुछ शब्दों के बुदबुदाने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। किसी भी महापुरुष ने यह नहीं बताया कि धर्म का बाह्य स्वरूप अत्यन्त आवश्यक है। धर्म का मूलभूत तत्त्व जो कि आत्मसाक्षात्कार है, न केवल इन सब बाह्याचारों से ऊपर है प्रत्युत वह सब प्रकार के वादों और सम्प्रदायों से भी परे हैं। स्वामी विवेकानन्द अपने दर्शन के मन्तव्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि "अद्वैतवाद, द्वैतवाद अथवा अन्य किसी वाद का प्रचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है, अपितु आत्मतत्त्व की शुद्धता और पूर्णता को बतलाना ही मेरा धर्म है।"[6]

---

1. विवेकानन्द-साहित्य (खण्ड 2), पृ० 234।
2. वही, पृ० 234।
3. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 2, पृ० 235।
4. वही, पृ० 235।
5. वही, पृ० 235।
6. Complete works of Swami Vivekananda, Vol. III, P. 242.

वेदों के सम्बन्ध में स्वामी जी के विचार, परम्परा से कुछ हट कर है। वेदान्त के प्राचीन आचार्यों की श्रुति के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि श्रुति का एक शब्द भी उपेक्षणीय नहीं हो सकता और श्रुति के विषय में असंगति भी अकल्पनीय है। स्वामी जी वेदों के विषय में विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "व्यक्तिगत रूप से मैं वेदों से उतना ही ग्रहण करता हूँ जितना बुद्धि-सम्मत है। वेदों के अनेक अंश विरोधात्मक है।"[1] वेदों को ईश्वरीय ज्ञान की समष्टि माना जाता है। "परन्तु यह कहना कि केवल वेद नामक ग्रन्थों में ही यह ज्ञान सीमित है, निरा वाक्छल होगा। प्रत्येक धर्म के ग्रन्थों में यह ज्ञान विभिन्न अंशों में प्रतिपादित है।"[2] इस प्रकार स्वामी जी वेदों को अन्य धर्मों के मूल ग्रन्थों के समकक्ष लाकर खड़ा कर देते हैं। स्वामी जी की यह मान्यता प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं के विरुद्ध है। स्वामी जी ने धर्म ग्रन्थों की उतनी ही उपयोगिता बतलाई है, जितनी कि किसी देश के मानचित्र को होती है। "संसार के धर्मग्रन्थों की उतनी ही उपयोगिता है जितनी कि किसी देश के मानचित्र की है। ये धर्मग्रन्थ अतीत के उन महापुरुषों के अनुभवों के भण्डार हैं जिनसे प्रेरणा मिलती है।"[3] ये मनुष्य के मार्ग-प्रदर्शन में अत्यन्त सहायक होते हैं।[4]

प्राचीन वेदान्त में श्रवण के पश्चात् मनन् का विधान किया गया है। मनन् के विधान से यह अभिव्यक्त होता है कि वेदान्त अन्धविश्वास को प्रश्रय न देकर साधक के लिए बौद्धिक सन्तोष प्राप्ति का भी विधान करता है। परन्तु फिर भी प्राचीन आचार्यों ने शुष्क तर्क का सर्वत्र निषेध किया है।[5] वह तर्क जो आत्मसाक्षात्कार में अनुपयोगी और श्रुति-विरुद्ध हो, शुष्क तर्क की कोटि में है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने दर्शन में तर्क को उन्मुक्त हृदय से स्थान दिया है। "ईश्वर ने हमें जो बुद्धि की शक्ति दी है उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। बुद्धि के विपरीत विश्वास करना कलंक की बात है। तर्कहीन व्यक्ति का पाशाविकता की ओर पतन होता है। अतः हमें तर्क अवश्य

---

1. विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 2), पृ० 259।
2. वही, पृ० 259।
3. विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 2), पृ० 246-7।
4. वही, पृ० 247।
5. नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः सम्भवति। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 2-1-6।

करना चाहिए।"[1] स्वामी जी धर्म को केवल विश्वासों का पुञ्ज मानने के विरुद्ध है। धर्म के लिए भी तर्क का विधान करते हुए वे कहते हैं—"आज धर्म का तर्क के द्वारा अवश्य परीक्षण करना चाहिए। यदि धर्म तर्क से ध्वस्त होते हैं तो हो जाएँ। ऐसा कोरा अन्धविश्वासपूर्ण और निरर्थक धर्म जितनी जल्दी दूर हो जाए, अच्छा है।"[2] तर्क से धर्म के किसी भी भाग की हाँनि नहीं होगी, वरन् तर्क से धर्म का शाश्वत तत्त्व विजयी होगा।"[3] स्वामी जी ने अन्धविश्वास का आश्रय ग्रहण कर आस्तिक होने की अपेक्षा युक्ति का अनुसरण कर नास्तिक बन जाने वाले व्यक्ति को अच्छा बताया।[4] स्वामी जी ने कहा कि "मुक्ति में चाहे जितना दोष क्यों न हो, उसमें फिर भी कुछ न कुछ सत्य-लाभ की सम्भावना रहती है।[5] विचार न करने से हम अनेक भ्रमों में पड़ जाते हैं। विचार-शक्ति उन भ्रमों का विनाश करती है।"[6] स्वामी जी ने आज के युग में श्रुति-प्रमाण की अपेक्षा युक्ति-प्रमाण को अधिक उपादेय बताया। "आज शास्त्रों की या धर्म-ग्रन्थों की प्राचीनता की दुहाई देने से काम नहीं चलेगा, आज तर्क ही परीक्षण का सर्वश्रेष्ठ साधन है।"[7]

तर्क के महत्त्व को उन्मुक्त हृदय से से स्वीकार करते हुए भी, स्वामी जी ने तर्क की कुछ सीमाएँ निर्धारित की हैं। तर्क से या बुद्धि से आत्म-साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मतत्त्व मन, बुद्धि की समस्त प्रक्रियाओं से परे हैं।" बुद्धि केवल जमादार के समान रास्ता साफ कर देती है। वह गौण भाव से हम लोगों की उन्नति में सहायक हो सकती है, परन्तु आत्म-साक्षात्कार बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है।"[8] "विचित्र रूप से शब्दों की जोड़-तोड़, शास्त्र व्याख्या की विभिन्न शैलियाँ केवल पण्डितों के लिए है, हमारे लिए नहीं, आत्म-साक्षात्कार के लिए नहीं।"[9]

---

1. विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 2), पृ० 245।
2. विवेकानन्द साहित्य (खण्ड 2), पृ० 278।
3. वही, पृ० 278।
4. For it is better that mankind should become atheist by following reason than blindly believe in two hundred million of gods—Complete works of Swami Vivekananda, Vol II, P. 336.
5. Ibid, P. 336.
6. Ibid, P. 307.
7. Ibid, P. 335.
8. Ibid, P. 306.
9. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. II, P. 306-7.

स्वामी विवेकानन्द नें हिन्दू धर्म का इस आधार पर समर्थन किया कि वह नैतिक मानववाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद का एक सार्वभौम सन्देश है। इस प्रकार उन्होंने विश्व-धर्म के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। इसाई धर्म-प्रचारकों ने हिन्दू धर्म के विरुद्ध अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ फैला रखी थी; ये लोग साम्राज्यवादी भावनाग्रन्थि के शिकार थे और समझते थे कि ईश्वर के काले तथा पीले लोगों को सभ्य बनाने का भार हमारे सिर पर रखा है, किन्तु वस्तुत: वे इस प्रकार के प्रचार के द्वारा एशिया तथा अफ्रीका के आर्थिक शोषण का मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे। 1870 के बाद आधुनिक साम्राज्यवाद का जो उदय हुआ उसके अध्ययन से उक्त कथन की पुष्टि होती है। किन्तु विवेकानन्द के लिए हिन्दू धर्म एक ऐसा व्यापक सत्य था जो न्याय, सांख्य और वेदान्त के द्वारा अपने हृदय में गम्भीरतम दार्शनिक प्रतिभा को शरण दे सकता था, जो सामवेद के मन्त्रों तथा तुलसीदास एवं दक्षिण के आलवार, नयनार सम्प्रदाय के सन्तों के भजनों के द्वारा भक्तों को प्रेरणा दे सकता था, और जो वीर कर्मयोगियों को गीता में श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिादित निष्काम कर्म का सन्देश दे सकता था। विवेकानन्द कीं दृष्टि में हिन्दू धर्म उन दुरुह पंथो, कर्मकाण्डी अन्धविश्वासों, परम्परागत मतवादों और आदिम कर्मकाण्ड का पुंज नहीं था जिन्हें देखने के लिए पल्लवग्राही यूरोपीय आलोचक दुर्भाग्यवश सदैव इच्छुक रहता है। उनकी निगाह में हिन्दू धर्म मानवजाति के उद्धार के लिए नैतिक तथा आध्यात्मिक विधानों और कालनिरपेक्ष नियमों की संहिता था—एते जाति देशकाल समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा: महाव्रतम्। (योगसूत्र, 2, 26)

स्वामी जी हिन्दू धर्म को धर्मों की जननी मानते थे, और इस बात को कुछ सीमा तक इतिहास द्वारा प्रमाणित भी किया जा सकता है। प्राचीन वैदिक धर्म ने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया था और बौद्ध धर्म ईसाई धर्म के उदय में एक शक्तिशाली तत्त्व था। वैदिक धर्म ने ईरान और मीडया के धर्मों को प्रभावित किया था, और छठीं शताब्दी ई० पू० में जूडिया में सुधारवादी नैतिक आन्दोलन चला। उसके कुछ पहलू पश्चिमी एशिया (ईरान और भारत) के धर्मों से प्रेरित हुए थे। इन धर्मों के सन्बन्ध में यहूदियों को उस समय जानकारी प्राप्त हुई थी जब वे बाबुल (बेबीलोनिया) में बन्दियों के रूप में रह रहे थे। मिस्र तथा पश्चिमी एशिया के इतिहास में जो शोध हो रही है

उससे सिद्ध हो रहा है कि प्राचीन धर्म का उन दूरवर्ती प्रदेशों में प्रवेश हो चुका था। तेल-अल-अमर्ना में जो पत्र (1380 ई० पू० के लगभग) उपलब्ध हुए हैं उनमें (ए० बी० कीथ, 'इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली,' 1936, पृ० 573) ऋत प्राचीन भारतीय दर्शन की महत्त्वपूर्ण धारण है। मित्तनी देवताओं के नाम निश्चय ही वैदिक नाम हैं। इन नामों का 1400 ई० पू० के अभिलेखों में जिक्र आता है।

विवेकानन्द वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव धर्म तक सम्पूर्ण हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। उन्होंने वैदिक संहिताओं पर उतना बल नहीं दिया जितना स्वामी दयानन्द ने दिया था। उन पर उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का विशेष प्रभाव पड़ा था। विवेकानन्द का सार्वभौमवाद अशोक की उदार संस्कृति का स्मरण दिलाता है। उनका पालन-पोषण उनके गुरु रामकृष्ण के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था और रामकृष्ण का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इस बात का द्योतक और प्रमाण था कि सभी धर्मों में आध्यात्मिक सत्य निहित है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुओं में विधर्मियों को अपने धर्म में सम्मिलित करने की प्रथा अंशतः पुनः प्रारम्भ कर दी। यह प्रथा अनेक शताब्दियों में समाप्त प्राय हो गई थी।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि धर्म वह नैतिक बल है जो व्यक्ति और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में वीरतापूर्ण शब्दों में घोषणा की थी, ''हमारे लिए समय रोने के लिए नहीं है, हम आनन्द के आँसू भी नहीं बहा सकते; हम बहुत रो चुके हैं; यह समय कोमल बनने का नहीं है। कोमलता हमारे जीवन में इतने लम्बे समय से चली आ रही है कि हम रुई के ढ़ेर के सदृश हो गए हैं। ....आज हमारे देश को जिन चीजों की आवश्यता है वे हैं लोहे की मांसपेशियाँ, इस्पात की तंत्रिकाएं, प्रकाण्ड संकल्प जिसका कोई प्रतिरोध न कर सके, जो अपना काम हर प्रकार से पूरा कर ले, चाहें उसके लिए महासागर के तल में जाकर मृत्यु का आमना-सामना ही क्यों न करना पड़े। यह है जिसकी हमें आवश्यकता है, और इसका हम तभी सर्जन कर सकते हैं, तभी स्थापना कर सकते हैं और उसे तभी शक्तिशाली बना सकते हैं जबकि हम अद्वैत के आदर्श का साक्षात्कार कर लें, सबकी एकता के आदर्श की अनुभूति कर लें। अपने में विश्वास, विश्वास और विश्वास। यदि तुम्हें अपने तैंतीस करोड़ पौराणिक देवताओं में तथा उन

सब देवताओं में विश्वास है जिन्हें विदेशियों ने तुम्हारे बीच प्रतिष्ठित कर दिया है, किन्तु फिर भी अपने में विश्वास नहीं है, तो तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता। अपने में विश्वास रखो और उस विश्वास पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहो।........क्या कारण है कि हम तैंतीस करोड़ लोगों पर पिछले एक हजार वर्ष से मुट्ठी भर विदेशी शासन करते आए हैं? क्योंकि उन्हें अपने में विश्वास था और हमें नहीं है।"[1] उन्होंने गरजते हुए शब्दों में कहा था, "शक्ति जीवन है, दौर्बल्य मृत्यु है।" जवाहर लाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' में बतलाया है कि स्वामी जी की शिक्षाओं का सार अभयम् था। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" विवेकानन्द क्षत्रियों के पुरुषत्त्व और ब्राह्मणों की बौद्धिकता का समन्वय करना चाहते थे। उन्होंने अपने को दुर्बल बनाने वाले सब रहस्यात्मक भावनाओं से दूर रखा। स्वामी जी अद्वैतवादी होते हुए भी लौकिक क्षेत्र में ओजस्वी तथा साहसपूर्ण कर्म के समर्थक थे और उन्होंने वीरतापूर्वक इस बात का सन्देश दिया कि निरपेक्ष शूरत्व तथा दृढ़ और साहसपूर्ण विश्वास इतिहास को हिला सकता है। भारत भूमि ने इस प्रकार की अनेक भक्ति-परम्पराओं को जन्म दिया है जिनमें व्यक्ति बौद्धिक वितण्डावाद की अवहेलना 'तैलाधारवत्' अविच्छिन्न और अनन्य रूप से भगवत्भक्ति-सागर में अवगाहन कर सकता है। रामकृष्ण परमहंस भी इसी प्रकार की भक्ति पराम्परा के अनुयायी है। परमहंस जी ने सैद्धान्तिक वाद-विवाद में सदैव मानसिक घुटन अनुभूत की एवं तार्किक परिचर्चा में उन्हें सदा दुर्गन्ध का आभास हुआ। ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व की परिचर्चाओं में से सूक्ष्म सैद्धान्तिक निष्कर्षों का अन्वेषण करना ही एक प्रकार का दुष्प्रयास होगा। उन्होंने अपने 'वचनामृतों' में न तो किसी नवीन 'वाद' का प्रतिपादन किया और न ही प्राचीन मान्यताओं का कठोर रूप से खण्डन ही किया। उनके समस्त वचनामृतों में सदैव एक ही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है और वह है 'समन्वयवाद' की। सगुण निर्गुण, साकार-निराकार, ज्ञान-कर्म भक्ति आदि सभी सैद्धान्तिक विवादों में उन्होंने समन्वय का अवलम्बन किया। जब कभी उन्होंने अपनी परिचर्चाओं में सैद्धान्तिक पक्ष का समावेश किया तब वह पक्ष उनकी समन्वयवादी मनोवृत्ति के कारण दूसरे पक्ष से जा मिला। अतः उनकी चर्चाओं से कठोर सीमाबद्ध निष्कर्षों का प्रतिपादन यद्यपि दुष्कर है तथापि असम्भव नहीं है, जैसा कि एक

---

1. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol III, P. 190.

आधुनिक विचारक ने कहा है।[1]

भारत में दर्शन का अर्थ है सत्य का साक्षात दर्शन। इसलिए इस देश में कोई व्यक्ति तब तक दार्शनिक होने का दावा नहीं कर सकता था जब तक कि उसने अपने सिद्धान्तों के सत्य का आन्तरिक तथा अन्तः प्रज्ञात्मक साक्षात्कार न कर लिया हो। इन्द्रियगम्य ब्रह्माण्ड (दृश्य जगत्) के क्षेत्र में अनुसन्धान करना विज्ञान का काम है, किन्तु दार्शनिक की दृष्टि उसमें अन्तर्निहित वास्तविकता की खोज करती है। स्वामी विवेकानन्द दार्शनिक शब्द के इसी अर्थ में दार्शनिक थे। अपनी गहरी निश्छलता के कारण ही वे अपना जीवन उस सत्य के अनुसार बिता सके जिसका उन्होंने दर्शन कर लिया था। कभी-कभी वे शान्त और गम्भीर सन्यासी के रूप में आकर शान्तिदायी और उदात्तकारी वेदान्त मार्ग का प्रचार करने लगते थे। किन्तु वे सदैव दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूतियों में मग्न नहीं रहते थे। उनके स्वभाव में ब्रह्म-साक्षात्कार की गहरी आकांक्षा दिखाई देती थी, किन्तु साथ ही साथ उनके मन में पापियों, दुःखियों तथा पीड़ितों के उद्धार के लिए ज्वलन्त उत्साह भी विद्यमान था। वे महान देशभक्त थे, इसलिए देश की अधोगति को देखकर वे प्रायः बहुत दुःखी हुआ करते थे और कभी-कभी उनकी इच्छा होती थी कि एक मूर्तिभंजक की भाँति उत्साह और निष्ठुरता से कार्य करें तथा समाज की बुराइयों पर बज्र की तरह टूट पड़े। उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि जाति-प्रथा के नियमों की जटिलता को उदार बनाया जाय। जीवन भर उनकी मानसिक वृत्तियों स्टॉइक दार्शनिकों की-सी रही, किन्तु उन्होंने पतितों, पापियों, दलितों तथा दरिद्र के मारे हुओं की दशा सुधारने के लिए धर्मयुद्ध का कभी परित्याग नहीं किया।

विवेकानन्द के दर्शन के तीन मुख्य स्रोत हैं। प्रथम, वेदों तथा वेदान्त की महान परम्परा। शंकराचार्य विश्व के एक महानतम तत्त्वज्ञानी माने गए हैं, उन्हें अपने चिन्तन के लिए प्रेरणा इन्हीं ग्रन्थों से मिली थी। विवेकानन्द की मेधा विशाल थी। कहा जाता है कि उन्होंने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के ग्यारह खण्डों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों से भी उनका परिचय था। वे अद्वैत वेदान्त के सन्देशवाहक थे और अद्वैत सम्प्रदाय के भाष्यकारों की

---

1. V. S. Narvane—Modern indian Thought, P. 64.

परम्परा में उनका स्थान है। यद्यपि वे अद्वैतवादी तथा मायावादी थे, किन्तु उनकी बुद्धि समन्वयकारी थी, इसलिए उनकी व्याख्या की अपनी विशेषताएँ हैं। अतः यह कहना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि उनकी वेदान्त सम्बन्धी रचनाएँ आचार्य शंकर के सम्प्रदाय का केवल अंग्रेजी अथवा आधुनिक संस्करण हैं। उनमें चीजों की तह तक पहुँचने की मौलिक प्रतिभा थी, जो उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। विवेकानन्द के दर्शन का दूसरा शक्तिशाली स्रोत उनका श्री रामकृष्ण देव (1836-1886) के साथ सम्पर्क था। रामकृष्ण देव आधुनिक भारत के एक महानतम सन्त तथा रहस्यवादी हुए हैं।[1] रहस्यवाद ने कभी-कभी दर्शन की सहायता की है। श्री रामकृष्ण देव को रहस्यवादी अनुभूतियाँ उसी प्रकार से उपलब्ध हुई थीं जिस प्रकार बुद्ध को। दोनों ने ही अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए घोर निग्रह और तपस्या का मार्ग अपनाया था, और दोनों ने ही सत्य का दर्शन करने के लिए अनेक दिन और रात्रियाँ व्याकुलता से बितायी थीं। श्री रामकृष्ण देव के उपदेशों और प्रवचनों की शैली में हमें सन्देशवाहकों की-सी सरलता तथा स्पष्टता देखने को मिलती है, किन्तु स्वामी विवेकानन्द में दार्शनिक तथा धार्मिक उपदेशक दोनों का सम्मिश्रण था। इसलिए उन्होंने उन्हीं अनेक सत्यों को दर्शन की भाषा और आधुनिक पदावली में प्रस्तुत किया। विवेकानन्द के दर्शन का तीसरा स्रोत उनके अपने जीवन का अनुभव था। उन्होंने विस्तृत जगत् का भ्रमण किया, और इस प्रकार इन्हें जो अनुभव हुआ उसका उन्होंने अपनी प्रौढ़ तथा कुशाग्र बुद्धि से निर्वचन और व्याख्या की। इस प्रकार जिन अनेक सत्यों का उन्होंने उपदेश दिया उनकी उपलब्धि उन्हें अपने अनुभवों का मनन करने से ही हुई थी। इसलिए उनके दर्शन की जड़ें जीवन में हैं! उनका दर्शन केवल तात्त्विक और प्रत्ययात्मक नहीं है, बल्कि वास्तविक जीवन से भी उसका सम्बन्ध है। स्वामी विवेकानन्द का दर्शन जीवनदायी तथा गतिशील है।

विवेकानन्द के दर्शन का पूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिए हमें उनके सम्पूर्ण ग्रन्थों का अवगाहन करना पड़ेगा। उनकी रचनाओं के शुद्ध दार्शनिक अंश भिन्न हैं : (1) ज्ञानयोग (2) पातंजलि सूत्रों पर भाष्य तथा (3) वेदान्त दर्शन पर भारत और पश्चिम में दिए गए विभिन्न

1. विवेकानन्द की रामकृष्ण से भेंट 1880 में हुई थी।

व्याख्यान। उनका राजनीति दर्शन उनकी तीन रचनाओं में सन्निहित है। 'कोलम्बो से अल्मोड़ा तक व्याख्यान,' 'पूर्व तथा पश्चिम' और 'आधुनिक भारत।'

स्वामी विवेकानन्द जी का विचार था कि भारतीय संस्कृति की नींव आध्यात्मिक है इसलिए पश्चिम के लिए उसका विशेष ध्येय, सन्देश है।[1] पश्चिम के लोग भौतिक, शारीरिक तथा व्यापारिक सन्तोष और सफलताओं में आवश्यकता से अधिक व्यस्त है। इसलिए पश्चिमी संस्कृति में उन गम्भीर धार्मिक मूल्यों को समाविष्ट करना आवश्यक है जिसका पोषण और समर्थन पूर्व के ऋषियों, मुनियों ने किया है। विवेकानन्द ने भविष्यवाणी की थी कि अन्ततोगत्वा भारतीय विचारधारा इंग्लैण्ड को विजय कर लेगी।[2]

विवेकानन्द का कथन था कि भारत की प्रतिभा प्रथमतः तथा मुख्यतः दर्शन तथा धर्म में व्यक्त हुई है। भारतीय संस्कृति के नेताओं का प्रधान उददेश्य उन शाश्वत सत्यों का साक्षात्कार करना रहा है जिनका प्रतिपादन धर्मग्रन्थों में किया गया है। अपने अधिक उमंग के क्षणों में वे कहा करते थे कि पश्चिम के मनुष्य को भौतिकवाद ने जिस दलदल में फँसा दिया उनका उद्धार करने के लिए वेदान्त के अध्यात्मवाद की आवश्यकता है। किन्तु उन्होंने देश-देशान्तरों का पर्यटन करके जो अनुभव प्राप्त किया था उसके कारण वे विज्ञान के महत्त्व को भी भली-भाँति समझते थे।[3] अतः वे इस पक्ष में थे कि चिन्तन के भारतीय आदर्श और बाह्य प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित करने के पाश्चात्य आदर्श के बीच ऐक्य स्थापित किया जाय।[4]

स्वामी विवेकानन्द ने उपनिषदों के अद्वैतवाद का जिसे बादरायण और शंकर ने पद्धतिबद्ध किया था, समर्थन किया। उनका कहना था कि सच्चिदानन्द ही परम् तथा नित्य सत्ता (परमार्थ सत्)

---

1. "India's Mission", Sunday Times, लन्दन 1986 Complete works of Swami Vivekananda, जिल्द 5 में पुनर्मुद्रित (मायावती मेमोरियल संस्करण, 1936), पृ० 118-24।
2. Complete works of Swami Vivekananda जिल्द 5, पृ० 120-21: "एक बार पुनः भारत को विश्व की विजय करनी है।"—"उसे पश्चिम की आध्यात्मिक विजय करनी है।
3. Complete works of Swami Vivekananda, जिल्द 1, पृ० 294.
4. वही, जिल्द 5, पृ० 157।

है, और दार्शनिक चिन्तन तथा जीवन के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। आचार्य शंकर के मतानुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। किन्तु विवेकानन्द ने ब्रह्माण्ड की सत्ता को पूर्णत: अस्वीकार नहीं किया, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उन्हें ऐसा करना चाहिए था। उन्हें अपने गुरू श्री रामकृष्ण देव से प्रेरणा मिली थी और श्रीरामकृष्ण देव विश्व के नियामक तत्त्व को माता के रूप में देखते थे। यह विचार तन्त्र का मुख्य सिद्धान्त है और बीज रूप में प्राचीन सिन्धु तथा पश्चिमी एशिया के धर्मों में देखने को मिलता है।[1]

विवेकानन्द की रुचि प्रधानत: धर्म तथा दर्शन में थी। वे समाजशास्त्री नहीं थे, इसलिए वे सामाजिक विज्ञानों के विश्लेषणात्मक तथा प्रत्यात्मक पक्षों में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दे सके।[2] फिर भी वे समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निमाण करना चाहते थे,[3] किन्तु उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए कहना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में वे अधिक कुछ न कर सके। कभी-कभी उन्होंने भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया।[4] विवेकानन्द ने हमारे सामने कोई स्पष्ट और दो टूक सामाजिक कार्यक्रम नहीं रखा फिर भी उन्होंने जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की कटु भर्त्सना की। यह स्पष्ट है कि यदि वे देश की महान् उथल-पुथल को देखने को जीवित रहते तो उनके मन में शोषित जनता के उद्धार के लिए जो प्रबल भावनाएँ थीं वे उन्हें उग्र सामाजिक पुनर्निमाण की दिशा में अग्रसर होने के लिए अवश्य बाध्य करतीं। विवेकानन्द के मन में दलितों के उद्धार के लिए जो ज्वलन्त उत्साह था वह इन पंक्तियों से प्रकट होता है, "मुझे इस बात

---

1. समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
   विनश्यत्स्वविनश्यन्तं य: पश्यति स पश्यति।।
   समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
   न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परांगतिम्।। (गीता, 13, 27-28)
2. कभी-कभी उग्र सन्यास की मन: स्थिति में उन्होंने राजनीति से सम्बन्धों की भर्त्सना की और एक बार यहाँ तक कह दिया कि "भारत अमर है, यदि वह ईश्वर की खोज में दृढ़ रहे। किन्तु यदि उसने राजनीति तथा सामाजिक संघर्ष का मार्ग अपनाया तो उसकी मृत्यु हो जाएगी।"—मिस मैकलॉइड ने ये शब्द रोमां रोलां के समक्ष दुहराए थे। (The life of Vivekananda पृ० 169)।
3. कहा जाता है कि उन्होंने सामाजिक एकता के लिए अन्तर्जातीय तथा अर्न्तउपजातीय विवाहों का समर्थन किया था। (The life of Vivekananda, पृ० 137)।
4. देखिए, मैक्स वेबर के (Essays in sociology).

की चिन्ता नहीं कि वे हिन्दु हैं या मुसलमान अथवा ईसाई, किन्तु जिन्हें ईश्वर से प्रेम है उनकी सेवा के लिए मैं सदैव तत्पर रहूँगा। मेरे बच्चों! अग्नि में कूद जाओ। यदि तुम्हें विश्वास है तो तुम्हें सब कुछ मिल जाएगा। हममें से प्रत्येक को दिन-रात भारत के उन करोड़ो दलितों के लिए प्रार्थना करनी चाहिए जो दरिद्रता, पुरोहितों के जंजाल तथा अत्याचार में जकड़े हुए हैं,—दिन-रात उनके लिए प्रार्थना करो।. ..मैं न तत्त्वशास्त्री हूँ, न दार्शनिक, और मैं सन्त भी नहीं हूँ। मैं दरिद्र हूँ। मुझे दरिद्रों से प्रेम है।....भारत में कौन ऐसा है जिसके मन में उन बीस करोड़ स्त्री-पुरुषों के लिए सहानुभूति हो जो गहरी दरिद्रता और अज्ञान में डूबे हुए हैं? उपाय क्या है? उनके जीवन में प्रकाश कौन ला सकता है? इन्हीं लोगों को अपना देवता समझो। मैं उसी को महात्मा कहता हूँ जिसका हृदय दरिद्रों के लिए द्रवित होता है। जब तक करोड़ों लोग भुखमरी और अज्ञान के शिकार हैं तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघाती समझता हूँ जो उनके धन से शिक्षा पाकर उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।[1] किन्तु यह निश्चित है कि पश्चिम में तथा साम्यवादी चीन में स्वतंत्रता के नाम पर जो सामाजिक उच्छश्रृंखलता फैली हुई थी, उसको वे कभी सहन न करते। उस सीमा तक वे पुरातन पन्थी हो सकते थे। सम्भवत: उनका विश्वास था कि समाज का सुधार करने से पहले व्यक्ति का कल्याण करना तथा उसे मुक्ति दिलाना आवश्यक था।[2] इसलिए अब मेरा आग्रह है कि बहुसंख्यक समाज को प्रतिनिधि लोकतन्त्र की व्यवस्था के द्वारा अपने को प्रभावकारी बनाना चाहिए। यह बात विवेकानन्द के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शवाद के अनुकूल होगी।

श्रीरामकृष्ण देव सच्चे धर्म की जीवन्त प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने धर्म को जिया था और अपने जीवन से ही अपने शिष्यों को वह शिक्षा दी थी जो स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "Religion in Realisation' (धर्म अनुभूतिमूलक है) के रूप में अभिव्यक्त हुआ। मनुष्य का सारभूत तत्त्व उसकी चेतना है जो अपने स्वरूप में दिव्य कही गई है। धर्म मनुष्य की इस अन्तर्निहित दिव्यता का

---

1. The life of Swami Vivekananda, Chapter 3
2. 1895 की शरद् ऋतु में उन्होंने अभयानन्द को लिखा था, "व्यक्तित्व् मेरा आदर्श वाक्य है, व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने के अतिरिक्त मेरी अन्य कोई आकांक्षा नहीं है।" (रोमां रोलां द्वारा उद्धृत, The life of Swami Vivekananda, पृ० 790)। एक बार उन्होंने यह भी घोषणा की थी, "अकेले एक व्यक्ति में सम्पूर्ण विश्व निहित होता है।" (वही)।

प्रकाशन है। व्यक्ति की कोई भी गतिरोध उसकी चेतना से अनुप्राणित होती है, अतः दिव्य चेतना से अनुप्राणित कार्य भी दिव्य होते हैं। व्यक्ति के कार्यों का सम्बध समाज से होता है, अतः व्यक्ति की चेतना भी समाज की चेतना से जुड़ती है। ये सच है कि व्यक्ति की सामाजिक गतिविधियों में विविधता होती है, किन्तु उन समस्त गतिविधियों में उस व्यक्ति की वैयक्तिकता की एक अनुगूंज भी होती हैं जो उसे एकसूत्रता प्रदान करती है। व्यक्ति की वैयक्तिता उसके संस्कारों से प्रेरित मन और बुद्धि की गुणवत्ता से निर्धारित होती है क्योंकि निर्विषयक चेतना तो सार्वभौमिक तत्त्व है, वैयक्तिक नहीं। श्रीरामकृष्ण देव ने जिस धर्म का उपदेश दिया, वह व्यक्ति के मन का परिमार्जन और बुद्धि का प्रशिक्षण करता है। अतः धर्म का सम्बन्ध यदि एक ओर व्यक्तिगत जीवन से है, व्यक्ति के निर्माण से है, तो वहीं वह व्यक्ति समाज की एक इकाई भी होता है, और इस रूप में व्यक्ति-निर्माण से समाज-निर्माण भी होता है। यही सत्य वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना के अन्तर्सम्बन्धों का भी वाहक है। अब, चूँकि, सामाजिक जीवन के अनेक पहलू है, अतः प्रश्न उठता है कि रामकृष्ण जैसे धार्मिक व्यक्ति का समाज के धार्मिक जीवन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में क्या योगदान है? सर्वप्रथम तो यह कि पुनर्जागरण-कालीन अनेक सामाजिक नेताओं की ही भाँति परम्परागत भारतीय समाज के आधार कहे जाने वाले वर्ण-व्यवस्था की दुहाई देकर जातिगत विद्वेष के रक्तबीज बोने वालों को सही मार्ग दिखाये हैं। जाति वस्तुतः क्या है? किसी मनुष्य विशेष का 'शरीर' नहीं है, क्योंकि सभी मनुष्यों के शारीरिक तत्त्व एक समान है, किसी व्यक्ति का 'मन' है क्योंकि मन का स्वरूप भी सब में एक समान है वह बुद्धि-तत्त्व भी नहीं है, क्योंकि बुद्धि-तत्त्व का स्वरूप भी सब मनुष्यों में समान है।

वह 'चेतना' भी नहीं है, क्योंकि स्वयं चेतना से ही तो सभी गुण-तत्त्व प्रकाशित होते हैं। अतः जाति कोई तत्त्व न होकर तत्त्वगत विशेषता है। वह तत्त्वगत विशेषता इस जगत की अनेकता में अनुस्यूत है। किन्तु श्रीरामकृष्ण देव की अनुभूति है कि जगत् के समस्त प्राणियों के भीतर से वही परमतत्त्व झांक रहा है। स्वयं उनके शब्दों में— विभिन्न जीव ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे सभी मोम के विभिन्न आकार हों, किन्तु उन सबके भीतर वही आद्याशक्ति वही परब्रह्म प्रकाशित है।

अतः जातिगत उच्चता के अहम के कारण जहाँ एक ओर कुछ मनुष्य अपने वास्तविक लक्ष्य से भटकते रहते हैं, वही जातिगत निम्नता की हीनभावना से ग्रसित अन्य मनुष्य पतन के गर्त में ही बहुमूल्य मानव जीवन नष्ट करते हैं। जातिगत सौहार्द्र की स्थापना करते हुए रामकृष्ण ने केवल आत्मिक शुद्धता को वरीयता देकर सभी जातियों को समान रूप से अपनाया। जातिगत अहम्, खोखले ऊँच और नीच के भेद को अपने जीवन में समाप्त करने की पराकाष्ठा हमें तब दिखती है जब वे अपने साधनाकाल में उस परिया के घर में उसके शौचालय को साफ कर अपने लम्बे-लम्बे केशों से उसे पोंछ डालते हैं। समाज के गरीब, पददलित और जरूरतमंदों के लिए, उनके विकास अथवा उत्थान के लिए शिवभाव से जीव सेवा का संदेश भी रामकृष्ण का एक ऐसा योगदान है जो एक साथ ही सामाजिक और धार्मिक दोनों सन्दर्भों से जुड़ता है। यह उनकी जीव सेवा की अवधारणा का ही फल है जिसे परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द ने भूखों के लिए रोटी और अशिक्षितों के लिए शिक्षा आदि कार्यों के रूप में विकसित किया। स्वयं उनके ही शब्दों में—'दरिद्रता के लिए कार्य उत्पन्न करने हेतु भौतिक सभ्यता अपितु विलासिता भी आवश्यक है। रोटी! रोटी! मुझे उस ईश्वर में विश्वास नहीं है जो मुझे यहाँ रोटी नहीं दे सकता और स्वर्ग में शाश्वत आनन्द देता है। उँह! भारत को उठाना है, मुझे गरीबों को भोजन देना है, शिक्षा का प्रसार करना है और पोपलीला का अन्त करना है। पोपलीला का नाश हो, सामाजिक अत्याचार का नाश हो। अधिक रोटी प्रत्येक के लिए अधिक अवसर।' धर्म के आधार पर हो रहे सामाजिक बिखराव को भी श्रीरामकृष्ण देव ने एक ज्वलन्त आदर्श प्रदान किया। हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्मों की पृथक-पृथक साधना करते हुए वे एक ही लक्ष्य पर पहुँचे थे, और इस प्रकार धर्म के आधार पर भी सामाजिक एकता का एक आदर्श उन्होंने स्थापित किया।

जहाँ तक राजनीतिक सन्दर्भों का प्रश्न है तो श्रीरामकृष्ण देव ने शासन सत्ता की प्राप्ति, उसके संचालन आदि राजनीतिक प्रसंगों में कोई भी योगदन नहीं किया है। उनका जीवन और कृतित्त्व जिस केन्द्रीय धुरी पर घूमता है वह है—'ईश्वर! वह एक ऐसे व्यक्तित्व हैं जिनके लिए समाधि ही ज्ञान प्राप्त करने का सतत् साधन थी। किन्तु समाधि में तो मनुष्य के यथार्थ स्वरूप-

आध्यात्मिक-का ज्ञान होता है, राजनीतिक का नहीं। हर पल उनका चित्र अनेक में से एक की ओर दोलायमान था। हर क्षण अतिचेतन भूमिका से संग्रहीत ज्ञान की वाणी से ध्वनित होता था। उनके सन्निकट हर व्यक्ति को ईश्वर-दर्शन की झलक मिल जाती थी और शिष्य को भी परम ज्ञान की अभीप्सा ज्वर चढ़ने के सदृश जग उठती थी। अतः प्रत्यक्षतः उनका राजनीतिक योगदान शून्य था किन्तु राजनीति का सन्दर्भ केवल उन प्रश्नों से ही नहीं होता जिन्हें इस अनुच्छेद की प्रारम्भिक पंक्तियों में व्यक्त किया गया है। रामकृष्ण ने मनुष्य मात्र के तात्त्विक स्वरूप की एकता के आधार पर जिस सामाजिक समानता की संकल्पना की है वह शुद्ध राजनीति के लिए एक पाठ है। फिर उन्होंने धर्म में विवेक-विचार को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर जिस धार्मिक जागरण को आन्दोलित किया उसका प्रभाव भी राजनीतिक पटल अपनी परम्परा और संस्कृति के प्रति सम्यक् दृष्टि एवं राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के रूप में प्रतिफलित हुआ। राजनीति में उनके अप्रत्यक्ष योगदान का एक तीसरा सन्दर्भ स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से अभिव्यक्त होता है क्योंकि विवेकानन्द के निर्माणकारी तत्त्वों में एक प्रधान तत्त्व स्वयं स्वामी रामकृष्ण परमहंस का जीवन और उनकी शिक्षाएं थीं।

वस्तुतः रामकृष्ण की समस्त शिक्षाओं, उनके समस्त योगदानों—चाहे वे सामाजिक या अप्रत्यक्ष राजनीतिक ही क्यों न हों—के मूल में है उनकी अद्वैतानुभूति जो उनके उपदेशों में निहित रहती है। जिस परमतत्त्व को वह सभी प्राणियों के भीतर से झाँकता हुआ देखते हैं और इस प्रकार वह मानव मात्र की समानता के तात्त्विक आधार का प्रतिपादन करते हैं, वह यही अद्वैतानुभूति है। समाज में शिवभाव से जिस जीव सेवा का वह उपदेश करते हैं उसका शिवभाव यही अद्वैतानुभूति है। विभिन्न धर्मों के समान लक्ष्य पर पहुँचने के सत्य का उद्घाटन भी है यही अद्वैतानुभूति। यह अद्वैत ही उनकी, धार्मिक अनुभूतियों का प्राणतत्त्व है।

विवेकानन्द का सामाजिक चिन्तन विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है। वे सामाजिक विषमता के कारणों का गंभीर अन्वेषण करते हैं एवं उसके उन्मूलन के उपाय भी बतलाते हैं। इस सन्दर्भ में वह वर्ण विभाजन को तो बुद्धिसंगत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति

में सत्त्व, रजस् और तमस् में से कोई न कोई गुण न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित रहते ही हैं। किन्तु इस गुण और कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था के जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था में विकृत रूपान्तरण के वह कटु आलोचक हैं। जातिगत उच्चता और निम्नता की विकृत मानसिकता से उत्पन्न उत्पीड़न और दमन के विरुद्ध उनका आजीवन संघर्ष रहा। उनका विश्वास था कि पुनर्जागृत भारत के भविष्य का निर्माण 'सामान्य जनता' की ठोस नींव पर ही होगा और पुराने अभिजात वर्गीय तथा सामन्ती जाति-नेताओं की कब्रों पर गौरवपूर्ण ऐतिहासिक विरासत का उदय और विकास होगा।

विवेकानन्द भारत के सामाजिक उद्धार के लिए ध्येयनिष्ठ त्यागी कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करना चाहते थे। उन्होंने सन्यास आश्रम के एकान्तप्रिय, आत्मरति, आत्मतृप्त तथा व्यक्तिवादी सदस्यों को एक परोपकारी संस्था के रूप में संगठित करके क्रियाशील बना दिया। विवेकानन्द की रचनाओं में सामाजिक समानता का जो समर्थन देखने को मिलता है वह प्रबल पुरातनवाद तथा स्मृतियों में व्याप्त सामाजिक ऊँच-नीच के सिद्धान्त का सबल प्रतिवाद है। उन्होंने देश के सब निवासियों के लिए 'समान अवसर' के सिद्धान्त का भी समर्थन किया है।[1]

जहाँ तक विवेकानन्द के राजनीतिक सन्दर्भों का प्रश्न है तो उन्होंने न तो किसी राजनीतिक चिन्तन का कोई सम्प्रदाय कायम किया, न ही राजनीति दर्शन के आधारभूत प्रत्ययों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया और न ही राजनीतिक प्रक्रिया तथा व्यवहार की प्रेरक शक्तियों की गहराई में बैठने का प्रयत्न किया। तथापि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उनका स्थान है क्योंकि एक तो उनकी शिक्षाओं तथा व्यक्तित्व का बंगाल के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर गहरा प्रभाव था और दूसरे यह कि वे महान् देशभक्त थे और मातृभूमि के लिए उनके मन में ज्वलन्त प्रेम था। वे देश की एकता का स्वप्न देखा करते थे। यद्यपि प्रधानतः उन्होंने आध्यात्मिक स्वतंत्रता की धारणा का ही सन्देश दिया किन्तु उनके इस सन्देश का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक आदि अन्य प्रकार की स्वतंत्रता के विचार भी लोकप्रिय हुए। विवेकानन्द के

1. Complete works of Swami Vivekananda, Vol. 6, P.321.

कर्मयोग के सन्देश का आगे की पीढ़ियों ने यह अर्थ समझा कि मातृभूमि की निष्काम सामाजिक तथा राजनीतिक सेवा भी कर्मयोग का उदाहरण हैं। विवेकानन्द ने स्पष्ट रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नैतिक आधार को चुनौती नहीं दी किन्तु उनका सम्पूर्ण जीवन और व्यक्तित्व भारतीय चीजों के प्रति प्रेम और सम्मान का जीवन्त उदाहरण था, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से वे विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह के स्पष्ट प्रतीक बन गए।

धार्मिक संदर्भ में स्वामीजी के मत का विवेचन करने के पूर्व धर्म विषयक उनकी चेतावनी का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार 'धर्म' जानने से अधिक 'होना' है। अत: यहां धर्म की किसी भी विवेचना का तात्पर्य शाब्दिक विश्लेषण अथवा बौद्धिक विश्वास से न होकर आत्मानुभूति एवम् उसके निरूपण से है। इस अनुभूति का निरूपण क्या है? और वह धर्म, जिसके संदर्भ में कहा गया है कि यह जानने से अधिक होने में है, तो वह होना क्या है? स्वामीजी के अनुसार प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। हमारा लक्ष्य आन्तरिक एवम् बाह्य प्रकृति पर नियंत्रण करते हुए इस दिव्यता का प्रकाशन करना है. इसे या तो कर्म से, अथवा उपासना से, अथवा इन्द्रिय संयम से, अथवा ज्ञान से, इनमें से एक, दो अथवा सभी से प्राप्त करो और स्वतन्त्र हो जाओ, यही धर्म का सर्वस्व है। विभिन्न वाद, रूढ़ियाँ, कर्मकाण्ड धर्मग्रन्थ अथवा उपासना-गृह गौण रूप हैं। इन स्वतंत्र होने के साधनों में ही विभिन्नता है और झगड़ा इस विभिन्नता को लेकर ही है। इसी झगड़े को दूर करने का तात्पर्य है समभाव। स्वामीजी के अनुसार मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है एवम् देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं। यदि केवल मेरे ही हाथ में छह उँगलियां हों और आप सबके पाँच तो आप यह नहीं सोचेंगे मेरा हाथ प्रकृति का सच्चा अभिप्राय है। प्रत्युत यह समझेंगे कि वह अस्वाभाविक है और एक रोग विशेष है। इसी प्रकार धर्म के सम्बन्ध में भी है। किसी भी देश में अनेक धर्म के लोग रह सकते हैं, उनको उसके पालन की स्वतंत्रता होनी चाहिए। सहिष्णुता सह-अस्तित्त्व के लिए आवश्यक है, यही सर्वधर्म समभाव है और स्वामी विवेकानन्द इसी के उद्‌गाता है।

विवेकानन्द के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का स्रोत उनकी यह वेदान्तिक धारणा थी कि अन्तरात्मा सर्वशक्तिमान तथा सर्वोच्च है। इसीलिए उन्होंने पीड़ित जनता को अभय एकता तथा शक्ति का क्रांतिकारी संदेश दिया। सामाजिक विषमता और राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सिंहनाद के मूल में उनकी यह अद्वैतानुभूति ही है कि आत्मा ही परम सत् है जो समस्त भेदों से अतीत है और स्वतंत्रता ही जिसका स्वभाव है। उनका तो यहाँ तक कहना था कि कला, विज्ञान एवम् धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं, लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत का सिद्धान्त चाहिए। यह अद्वैत रूपी परमसत् उनके धार्मिक विचारों का भी मेरूदण्ड है।

श्री ठाकुर और स्वामीजी के शब्द, दृष्टान्त और शैली भले ही भिन्न हो, किन्तु दोनों ने ही अनुभूति के विभिन्न स्तरों पर अखण्ड अद्वैत की स्थापना करने की चेष्टा की है। चाहे वह ठाकुर के द्वारा प्रतिपादित सर्व धर्म समन्वय, निराकार, साकार की एकता सच्चिदानन्द रुपिणी महाशक्ति माँ काली तथा निर्विशेष, निराकार परब्रह्म की एकता का सिद्धान्त हो, चाहें स्वामीजी के द्वारा कही गई मनुष्य की दिव्यता, एकता और चरित्र निर्माण की बातें हों। इन सबका स्रोत और प्रयोजन अद्वैत भाव की स्थापना ही है। युगीन समस्याओं का समाधान भी स्वामीजी ने मनुष्यमात्र में अन्तर्निहित अखण्ड आत्मतत्त्व की समानता के आधार पर ही किया है। फिर वह चाहे जातिभेद का उन्मूलन हो, छुआछूत का विरोध हो, शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष का समान अधिकार हो, शारीरिक बल और आत्मिक सम्पन्नता की बात हो, आध्यामिक उन्नति, त्याग और सेवा का आदर्श हो और चाहे राष्ट्रीयता और राष्ट्रगौरव की बात हो, सबके मूल में उपनिषदों के अद्वैत घोष की प्रेरणा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। स्वामीजी ने वेदान्त को ही भविष्य के धर्म रूप में स्थापित किया।

———

नवम परिच्छेद

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पिछले अध्यायों में श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों एवं उनमें अद्वैत की भूमिका का समीक्षात्मक विवेचन किया गया है। इस विवेचना में सभी तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों को यथासम्भव सुसम्बद्ध और सुलझे हुए रूप में रखने की चेष्टा की गई है। इतने विवेचन के पश्चात् अब हम इस स्थिति में आ जाते हैं कि उनके दर्शन और उसमें अद्वैत की भूमिका के आधारभूत मूल्यों व स्वभावगत विशिष्टताओं का निर्धारण कर सकें।

रामकृष्ण-विवेकानन्द के दर्शन और उसमें अद्वैत की भूमिका में जो आधारभूत मूल्य निहित है और जिस स्वभावगत विशिष्टता के उनमें दर्शन होते हैं उसका सम्बन्ध जहाँ एक ओर उनके पूर्व की सनातन आध्यात्मिक परम्परा से है वहीं वह अपनी प्रासंगिकता में नवीनता से भी युक्त है। परम्परा और आधुनिकता, प्राचीनता और नवीनता के विरोध से उपजी हलचल की प्रथम अनुगूँज हमें 19वीं शती के भारत में सुनाई देती है। इस हलचल, इस जागरण के प्रमुख नेता राजाराममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनी बेसेन्ट, रानाडे, तिलक और गोखले आदि हुए। इस कड़ी में सबसे सशक्त और युगान्तकारी उद्घोष 1836 ई० में बंगाल में ही जन्में स्वामी विवेकानन्द ने किया। श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों का सार था ईश्वरानुभूति जिसमें सामाजिक-आर्थिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक भेदभाव को कोई स्थान नहीं था। जबकि स्वामीजी के उपदेशों का मूल था यथार्थ मनुष्य निर्माण जिसमें सभी प्रकार की दुर्बलताओं और पराधीनताओं से मुक्ति निहित है।

जिस ईश्वरानुभूति की चर्चा श्रीरामकृष्ण देव करते हैं और जिस मनुष्य निर्माण का उद्घोष स्वामीजी करते हैं, प्रश्न उठता है कि वह ईश्वरतत्त्व और यथार्थ मनुष्यत्व क्या है? इसी के उत्तर के क्रम में हम परमतत्त्व सम्बन्धी विवेचन पर आते हैं। श्रीरामकृष्ण देव का ईश्वर तत्त्व किसी वाद या सिद्धान्त में न बँधा होकर सर्वान्तर्यामी है। अन्तःकरण की भिन्नता अर्थात् संस्कार और पंथ की अनेकता के कारण ही जैसे कोई वारि को जल कहता है तो कोई पानी। कोई वाटर कहता है तो कोई अक्वा। इस नामगत विभिन्नता से वारि के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। इसी भाँति वही ईश्वरतत्त्व सगुण रूप में भी है और निर्गुण रूप में भी, एक पंथ में है तो दूसरे में भी। इससे न तो

उस ईश्वरतत्त्व में कोई बहुलता आ जाती है और न ही उसके स्वरूप-नित्यता और दिव्यता में कोई विकार या अन्तर आता है। स्वामी विवेकानन्द का परमतत्त्व भी श्रीरामकृष्ण का यही ईश्वरतत्त्व है जिसे उन्होंने अपनी तार्किक युक्तियों द्वारा पूरे विश्व को उपदिष्ट किया। यह परमतत्त्व वस्तुतः अद्वैतवेदान्तियों का ब्रह्म ही है जिसे श्रीरामकृष्ण देव एवं स्वामी विवेकानन्द ने युगीन आवश्यकताओं के आलोक में प्रस्तुत किया।

युगीन आवश्यकता थी जाति, सम्प्रदाय और वाह्याडम्बरों के बन्धनों को तोड़कर सम्पूर्ण राष्ट्र और उससे भी बढ़कर सम्पूर्ण मानवता को निर्भयता का सन्देश देते हुए विशुद्ध प्रेम से सींचना ताकि मनुष्य अपना उत्तरदायित्व स्वयं वहन करते हुए अपने पैरों पर खड़ा हो सके, अपनी दिव्यता का बोध करते हुए दूसरे के भीतर भी विद्यमान उसी दिव्यता का सम्मान कर सके। इस दिव्यता का अवरोधक तत्त्व ही माया है, अविद्या और अज्ञान है। चूँकि यह माया ही विभेदकारी तत्त्व है अतः दर्शनशास्त्रीय अर्थ में माया को सृष्टि का कारण कहा गया, ब्रह्म की शक्ति कहा गया और इसी सक्रिय ब्रह्म को श्रीरामकृष्ण देव ने काली, आदिशक्ति इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जबकि स्वामी विवेकानन्द ने इसे परस्पर विरोधी तथ्यों के चित्रण के रूप में प्रस्तुत किया।

चूँकि नाम रूपात्मक जगत् अनित्य है, विकारी है अतः उसमें अन्तर्विरोध पाया जाना स्वाभाविक है। इसी अन्तर्विरोधात्मक स्थिति को स्वामी विवेकानन्द ने माया के रूप में चित्रित किया है। सृष्टि इसी माया का प्रक्षेप है जिसका अधिष्ठान ब्रह्म है। माया अपनी आवरण शक्ति द्वारा जहाँ एक ओर ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को आवृत्त करती है। वहीं अपनी विक्षेप शक्ति द्वारा इस सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् प्रपंच की सृष्टि भी करती है। चूँकि इस सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म है एवं माया ब्रह्म की ही शक्ति है तथा प्रलयावस्था में कार्य अपने कारण में विलीन हो जाता है अतः श्रीरामकृष्ण देव ने इसी सन्दर्भ में कहा कि आद्याशक्ति ही इस सृष्टि को ईश्वर के भीतर से बाहर लाती है और पुनः उसी में रख देती है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से मायोपहित ब्रह्म को ही ईश्वर कहते हैं अर्थात् ईश्वर मायाधीश है। अब चूँकि सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है क्योंकि वही अविकारी है (अतः नित्य है—त्रिकालाबाधित सत् है—) अतः इस दृष्टि से, देशकालातीत पारमार्थिक दृष्टि से

सृष्टि को असत् कहा गया। श्रीरामकृष्णदेव के अनुसार सृष्टि बन्ध्यापुत्रवत असत् नहीं है वरन् भ्रम की भांति असत् है। चूँकि समस्त परिवर्तन देश-कालगत होते हैं और परिवर्तनशील वही होता है जो विकारी हो, अतः विकारयुक्त होने के कारण यह देशकालबद्ध सृष्टि सत् नहीं हो सकती। स्वामी विवेकानन्द इसी कारण सृष्टि को असत् मानते हैं। सत् तो अविकारी होता है जो देशकालातीत अवस्था में ही सम्भव है। यही कारण है कि माण्डूक्य उपनिषद् में तुरीयावस्था के सत् का उल्लेख मिलता है जो जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के परे है। यही अद्वैत वेदान्तिक अवधारणा भी है।

मायोपहित ब्रह्म यदि ईश्वर है तो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव है। जीवभाव अविद्याकृत है क्योंकि अविद्यावश ही विशुद्ध चैतन्य अपने को ससीम जीव समझ बैठता है। श्रीरामकृष्ण देव के अनुसार जीव के अस्तित्त्व की कल्पना वैसी ही है जैसे गंगा का कुछ भाग हम घेर लें और कहें कि यह हमारी निजी गंगा है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार विषय और विषयी की ग्रन्थि का ही नाम जीव है। वस्तुतः जब तक नामरूप है अर्थात् जब तक स्वरूप विस्मरण है तभी तक जीव भाव भी है। यही कारण है कि पारमार्थिक दृष्टि से न तो जीव बहुत्व और न ही जीव का संसरण सिद्ध किया जा सकता है। जीव विषयक यह अवधारणा अद्वैत वेदान्त से मिलती है।

चूँकि स्वरूप विस्मरण ही जीव भाव है, बन्धन है अतः जीव का शिव हो जाना ही स्वरूप लाभ है। यही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है और यही स्वरूप लाभ मनुष्य की परम गति है, मोक्ष या निर्वाण है। इस परम गति के मार्ग उपाय के रूप में श्रीरामकृष्ण देव प्रार्थना को सुझाते हैं। उनके अनुसार व्याकुल होकर प्रार्थना करने से अभीष्ट सिद्धि होती है। प्रार्थना में व्याकुलता हेतु सद्कर्म, सद्विचार और सद्भावना आवश्यक है। सद्विचार और सद्भावना हेतु बीच-बीच में एकान्तसेवन भी आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द इस हेतु चार मार्गों कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग एवं भक्तियोग का प्रतिपादन करते हैं। इन समस्त मार्गों में कोई कठोर विभाजक रेखा नहीं है क्योंकि साधना की मूलभावना सबमें समान है, सर्वनिष्ठ है। इनमें से किसी भी एक मार्ग में अन्य

मार्ग भी द्वितीयक रूप से सहयोगी होतें हैं। अद्वैत वेदान्त की साधना प्रणाली में साधन चतुष्टय से सम्पन्न होने के अनन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान है। जिसमें श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरू तथा महावाक्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन उपायों का आलम्बन ग्रहण करने से दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और परम पद—परम विश्राम—की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि संस्कार्य, विकार्य, प्राप्य, उत्पाद्य नहीं है क्योंकि मोक्ष तो प्राप्तस्व प्राप्ति है। यह नित्य प्राप्त में अप्राप्त के तथा नित्य निवृत्त में अनिवृत्त के भ्रम की ही निवृत्ति है। यही अमृतपद है जो इस शरीर के रहते हुए भी नित्य अशरीरत्त्व की प्राप्ति है क्योंकि यह जीवन्मुक्ति है और इस जीवन के पश्चात् की विदेहमुक्ति भी है।

किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है इस आदर्श की, इस लक्ष्य की युगीन सन्दर्भों में प्रासंगिकता क्या है? तो इस सन्दर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त है कि जब तक इस जगत् में अपूर्णता जनित दु:ख है, जब तक मानव ह्रदय में जन्म और मृत्यु की विभीषिका का झंझावात है तब तक पूर्णता के लक्ष्य की, अमरता के सत्य की भी प्रतिष्ठा रहेगी। फिर प्रत्येक विषय की एक प्रणाली होती है जिसका अनुसरण करके ही उसके सत्यों की परीक्षा की जा सकती है। श्रीरामकृष्ण देव, स्वामी विवेकानन्द और अद्वैत वेदान्त के सत्य कोरे बौद्धिक सत्य नहीं है जिनकी परीक्षा शुष्क तर्क-वितर्क से की जा सके। इनके बौद्धिक तर्क यदि कोई हैं भी तो अनुभूति ही उसका प्राणतत्त्व है। अत: इससे अधिक परीक्षण हेतु उन साधना मार्गों में प्रवृत्त होकर अनुभूति प्राप्ति की आवश्यकता है जिसका सर्वोच्च निर्वचन 'मौन' ही होता है।

———

परिशिष्ट

ग्रन्थ सूची

संस्कृति के चार अध्याय — समधारी सिंह दिनकर, संस्करण 1962।

भारतीय समाज व संस्कृति — रवीन्द्र नाथ मुखर्जी, संस्करण 1983।

रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का वैशिष्ट्य — पं० रामकिंकर उपाध्याय, संस्करण 1983।

विवेकानन्द साहित्य खण्ड एक से दस, — अद्वैत आश्रम संस्करण।

समकालीन भारतीय दर्शन — डा० लक्ष्मी सक्सेना, संस्करण 1983।

विवेकानन्द चरित — सत्येन्द्र नाथ मजूमदार।

आधुनिक चिन्तन में वेदान्त — डा० महेन्द्र शेखावत, संस्करण 1986।

समकालीन भारतीय दर्शन — बसन्त कुमार लाल, संस्करण 1993।

अद्वैत वेदान्त — प्रो० अर्जुन मिश्र एवं डा० हृदय नारायण मिश्र, संस्करण 1990।

श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका (प्रथम भाग) — स्वामी गम्भीरानन्द, संस्करण 1986।

आचार्य शंङ्कर — स्वामी अपूर्वानन्द,षष्ठ संस्करण।

सबके स्वामीजी — स्वामी लोकेश्वरानन्द, संस्करण 1991।

श्रीरामकृष्ण के तीन रूप — स्वामी ब्रह्मेशानन्द, संस्करण 1986।

विश्व में हिन्दू चेतना के प्रवर्त्तक स्वामी विवेकानन्द — राम लाल, संस्करण 1993।

माँ शारदा — स्वामी अपूर्वानन्द,संस्करण 1980।

श्रीरामकृष्ण लीला प्रसङ्ग (प्रथम खण्ड) — स्वामी सारदानन्द, चतुर्थ संस्करण, 1986।

श्रीरामकृष्ण लीला प्रसङ्ग (तृतीत खण्ड) — स्वामी सारदानन्द, तृतीय संस्करण, 1980।

श्रीरामकृष्ण लीला प्रसङ्ग (द्वितीय खण्ड) — स्वामी सारदानन्द, चतुर्थ संस्करण, 1990।

विवेकानन्द — रोमां रोलां, संस्करण 1989।

रामकृष्ण परम हंस — रोमां रोलां, संस्करण 1987।

Complete Works of Swami Vivekananda, Vol II and III

Vedanta Concepts, Published by — Chinmaya Mission (West), California

विवेक ज्योति — स्वामी आत्मस्थानन्द, संस्करण 1994।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन — डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, संस्करण 1989।

जीवन ज्योति — स्वामी चिन्मयानन्द, तृतीय संस्करण, 1990।

विवेक शिखा — रामकृष्ण मठ

कठोपनिषद्, शाङ्करभाष्य, बीसवाँ संस्करण।

Thinkers of the Indian Renaissance — Edited by 'Donald H. Bishop'.

भारतीय दर्शन की रूपरेखा — प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, संस्करण 1989।

भारतीय दर्शन — डा० नन्द किशोर देवराज, तृतीय संस्करण, 1983।

अमृतवाणी — स्वामी व्योमरूपानन्द, षष्ठ संस्करण।

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण — संगमलाल पाण्डेय, प्रथम संस्करण, 1976।

भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व — डा० रामनाथ शर्मा, दसवाँ संस्करण, 1992।

बौद्ध दर्शन और वेदान्त — चन्द्रधर शर्मा, प्रथम संस्करण, 1994।

भारतीय दर्शन की समस्यायें और समकालीन दर्शन — डा० वी० एन० सिंह, प्रथम संस्करण 1994।

तत्त्व बोध — आदि शंकराचार्य।

भारतीय दार्शनिक समस्यायें — डा० नन्द किशोर शर्मा, प्रथम संस्करण 1976।

श्रीरामकृष्णवचनामृत प्रसङ्ग — स्वामी भूतेशानन्द।

उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षणता — रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, प्रथम संस्करण 1971।

भारतीय दर्शन — डा० ब्रदीनाथ सिंह, षष्ठ संस्करण 1990।

भारतीय दर्शन — चन्द्रधर शर्मा, प्रथम संस्करण, 1990।

भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन एक तुलनात्मक अध्ययन — डा० अशोक कुमार लाड, प्रथम संस्करण, 1973।

युग प्रवर्तक विवेकानन्द — स्वामी अपूर्वानन्द, प्रथम संस्करण, 1963।

ज्ञानयोग — स्वामी विवेकानन्द, एकादश संस्करण, 1989।

भक्तियोग — स्वामी विवेकानन्द, एकादश संस्करण, 1990।

कर्मयोग — स्वामी विवेकानन्द, द्वादश संस्करण, 1987।

राजयोग — स्वामी विवेकानन्द, सप्तम संस्करण, 1987।

प्रेमयोग — स्वामी विवेकानन्द, द्वादश संस्करण, 1989।

सम्पूर्ण योगसार — स्वामी ज्योतिर्मयानन्द, द्वितीय संस्करण 1995।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा — एम० हिरियन्ना, संस्करण 1932।

भारतीय दर्शन (भाग एक एवं दो) — डा० एस० राधाकृष्णन,संस्करण 1989।

भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग एक एवं दो) — एस० एन० दास गुप्त, द्वितीय संस्करण 1989।

धर्म दर्शन की मूल समस्यायें — वेद प्रकाश वर्मा, प्रथम संस्करण 1991।

भारतीय दार्शनिक निबन्ध — डा० डी० डी० बंदिष्टे, डा० रामशंकर शर्मा, द्वितीय संस्करण, 1991।

भारतीय दर्शन — डा० आर० पी० शर्मा, चतुर्थ संस्करण 1992।

भारतीय दर्शन के मूल सम्प्रत्यय — कार्यानन्द शर्मा, द्वितीय संस्करण 1992।

आचार्य शङ्कर ब्रह्मवाद — डा० रामस्वरूप सिंह नौलखा, किताब घर, कानपुर।

Swami Vivekananda's Contribution to the present age — Swami Satprakashananda, Copy right 1978.

When the Many Become One — Swami Ashokananda, first Indian Edition July 1992.

As a Jivanmukta Subject to Ignorance — Swami Prajanananda, First published in January 1992.

Sri Ramakrishna and His Unique Message — Swami Ghanananda, Fourth Edition 1982.

वेदान्त — स्वामी विवेकानन्द, षष्ठ संस्करण।

Sri Ramakrishna's Life And Message In The Present Age — Swami Satprakashananda, 1976.

गीता तत्त्व चिन्तन — स्वामी आत्मानन्द, प्रथम संस्करण 1984।

तत्त्व बोध — आचार्य शंकर, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट।